TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180254

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 88 K 77 Y Accession No. G.H. 2637

Author कौपरमेर, आर्थर

Title योगी और अधिकारी 1938.

This book should be returned on or before the date last marked below.

योगी और अधिकारी

(The Yogi and the Commissar—by Arthur Koe 'er)

मूल लेखक

आर्थर कोएस्लर

अनुवादक

रमेश सिन्हा

पर्ल पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई—१

मूल्य : ५० नये पैसे

ए. डी. पीटर्स, लंदन, इंग्लैण्ड की
स्वीकृति से
भारत में प्रकाशित
मूल ग्रंथ का प्रथम हिंदी-अनुवाद
पुनर्मुद्रण के समस्त अधिकार
प्रकाशक-द्वारा सुरक्षित

प्रथम संस्करण — १९५८

प्रकाशक : जी. एल मीरचंदानी, पर्ल पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड,
१२, वाटरलू मेन्शन (रीगल सिनेमा के सामने), महात्मा गांधी रोड, बम्बई–१.
मुद्रक : वि. पु. भागवत, मौज प्रिंटिंग ब्यूरो, खटाववाडी, गिरगाँव, बम्बई ४.

प्रोफेसर माइकेल पोलैनई

को

समर्पित

परमात्मा मुझे कभी किसी चीज को पूरा करने से दूर ही रखे! यह सम्पूर्ण पुस्तक एक मसविदा है—नहीं, मसविदे का मसविदा है। आह! समय, शक्ति, धन और धैर्य!

—मेलविले, 'मोबी डिक'

भूमिका

इस पुस्तक के कुछ निबंध मूलतः अमरीकी पत्रों के लिए, जिनमें प्रत्येक बात को स्पष्ट लिखने के लिए बाध्य होना पड़ता है, लिखे गये थे; बाकी 'होरिज़न' के मँजे-मँजाये स्तम्भों में, जहाँ संकेत ही पर्याप्त होते हैं, प्रकाशित होने के लिए लिखे गये थे। इतने विभिन्न उद्देश्य और स्तर पर लिखे गये निबंधों को एक जगह एकत्र करने का दुष्परिणाम अनावश्यक जोड़-जाड़ है और सुपरिणाम है इसकी विविधता।

लेकिन यह बात केवल प्रथम दो भागों पर ही लागू होती है। भाग तीन 'रहस्योद्घाटन', जिसमें सोवियत प्रयोग का चित्रण किया गया है और उसके कतिपय परिणाम बताये गये हैं, खास करके इसी पुस्तक के लिए लिखा गया था और इससे पहले कभी प्रकाशित नहीं हुआ था।

इन निबंधों में से कुछ राजनीति और मनोविज्ञान की कतिपय दुरूह प्रणालियों से सम्बंधित हैं और तदनुसार ही कठिन और पेचीले बन गये हैं। मैं शैली की सरलता पसंद अवश्य करता हूँ; लेकिन अत्यधिक सरलता नहीं और न आगडेन-ढंग की भाषागत कंजूसी, जो कि वस्तुतः मूल विषय को अबोध कर देती है। मेरे लिए आइंस्टीन का वह उत्तर सुविधापूर्ण है—"अगर आप सत्य का उद्घाटन करने चले हैं, तो कंजूसीपन दर्जी के पास छोड़ आइए।"

अपने स्कूल के दिनों से ही मैं प्रति वर्ष अपने विगत वर्ष के मूर्खतापूर्ण कार्यों पर चकित होता आ रहा हूँ। हर वर्ष एक-न-एक नयी बात की सत्यता मेरे समक्ष स्पष्ट होती है, फलतः हर बार मुझे अपने पिछले विचारों और धारणाओं पर शर्म और क्रोध आता है। यह बात आज भी है; लेकिन एक परिष्कृत रूप में। मैं अब भी यह नहीं समझ पाता कि विगत वर्ष मैं अनभिज्ञता की स्थिति में कैसे पड़ा रहा। लेकिन आगे चल कर नयी बातें, पहले के विचारों को झकझोरने और नष्ट करने के बजाय, एक नये रूप में संगठित होती दीखती हैं। उनका यह रूप नये तथ्यों को ग्रहण करने और उनकी मौलिकता को स्थिरता प्रदान करने में पर्याप्त रूप से समर्थ होता है। इस पुस्तक को मैंने इसी आशा से प्रकाशित किया है कि विषयों की विविधता और प्रथम और अंतिम निबंधों के बीच की तीन वर्ष की अवधि को दृष्टिगत रखते हुई इस रूप-रेखा को भी मान्यता मिलेगी।

लंदन,
अक्टूबर, १९४४

विषय-सूची

भूमिका

भूलभुलैया

योगी और अधिकारी ७
फ्रेंच फ्लु—फ्रांस का एक साहित्यिक रोग २१
उपन्यासकार के प्रलोभन २९
पाठक की उलझन ३८
एक बड़ा सनकी ४६
रिचार्ड हिलारी की स्मृति में ४९
बुद्धिजीवी वर्ग ७२

प्रवचन

"पृथ्वी की गंदगी"—१९४२ ८८
अविश्वसनीय क्रूरताएँ ९८
मोर्चा लगे बख्तरबंद वाले योद्धा १०४
निराशावादियों का बंधुभाव १११
राजा मर गया..... ११९

रहस्योद्घाटन

दंतकथा की रचना १२६
रूसी कपोल-कल्पना और यथार्थता १४१
भ्रम का अन्त २००
योगी और अधिकारी (२) २२७

योगी और अधिकारी

१. स्थिर वर्णपट

एक भौतिक विज्ञानवेत्ता जिस प्रकार किरणों के समूह को विदीर्ण करता है, ठीक उसी प्रकार सामाजिक रूढ़ियों को तोड़नेवाले उपकरण के सम्बंध में मैं बहुधा सोचा करता हूँ। सामाजिक आचरण का विश्लेषण करनेवाले इस रंग-वीक्षण यंत्र (Spectroscope) द्वारा देखने से इंद्रधनुषी वर्णपट पर फैले जीवन के प्रति मानव के सभी सम्भव दृष्टिकोण दिखायी देंगे और तब यह दुःखदायी गंदगी अधिक स्वच्छ, स्पष्ट और व्यापक हो जायेगी।

वर्णपट के एक छोर पर, हमें अधिकारी (रूस के सरकारी विभाग का प्रधान पदाधिकारी) दिखायी देगा। स्पष्टतः ही, वर्णपट का यह छोर अधोरक्त (Infra-Red) वाला छोर होगा। अधिकारी बाह्य परिवर्तन में विश्वास करता है। उसका विश्वास है कि मानवता की सभी कमजोरियाँ, जिनमें अवरोधात्मक और मानसिक दुरूहता भी शामिल हैं, क्रांति के द्वारा ही दूर की जा सकती हैं और दूर की जायेंगी। और, वह होगा उत्पादन और वितरण-प्रणाली में क्रांतिकारी पुनस्संगठन-द्वारा। अधिकारी के विश्वासानुसार इस व्यवस्था की उपलब्धि के लिए हिंसा, छल-कपट, विश्वासघात एवं विष-प्रयोग, सभी तरीके न्यायसंगत हैं। उसकी धारणा है कि तर्कपूर्ण विचारधारा एक ऐसा यंत्र है, जो कभी विफल नहीं हो सकता और यह विश्व किसी विशाल यंत्र के समान है, जिसमें बहुत-से विद्युत्कण अगर एक बार ठीक से जमा कर गतिशील कर दिये जायें, तो वे सदा अपनी धुरी पर घूमते रहेंगे। उसके विचार से, जो व्यक्ति इसके अतिरिक्त किसी अन्य तरीके में विश्वास करता है, वह पलायनवादी है। वर्णपट के इस छोर पर सबसे कम कम्पन-आवृत्ति है और एक तरह से यह प्रकाश-किरण का सबसे घटिया भाग है; किंतु इसमें अधिकतम उष्णता है।

वर्णपट के दूसरे छोर पर तरंगें इतनी लघु और ऊँची आवृत्तिवाली हो जाती हैं कि हमारी आँखें उन्हें देख नहीं पातीं। वे रंगहीन, उष्णता से परे, किंतु सर्वभेदी तरंगें अति नीलवर्ण (Ultra-violet) में विलीन हो जाती हैं।

---

* प्रथम बार हॉरिज़न (लंदन), जून, १९४२ में प्रकाशित।

वर्णपट का यही छोर योगी के चरणस्पर्श करता है। विश्व को किसी विशाल यंत्र के समान मान लेने में योगी को कोई आपत्ति नहीं है; किंतु उसका कहना है कि उतनी ही सत्यता के साथ एक वाद्य-पेटिका अथवा मत्स्य-जलाशय भी तो माना जा सकता है। उसका विश्वास है कि परिणाम के सम्बंध में पहले से कुछ नहीं कहा जा सकता और साधन पर ही सब कुछ निर्भर करता है। किसी भी परिस्थिति में वह हिंसा के पक्ष में नहीं है। उसका विश्वास है कि जब मस्तिष्क पूर्ण सत्य अथवा ब्रह्म के चुम्बकीय क्षेत्र के निकट पहुँचता है, तब तर्कपूर्ण विचारधारा शनैः-शनैः यांत्रिक महत्त्व को खो देती है और यही सत्य सब-कुछ है। उसके विश्वास के अनुसार बाह्य परिवर्तनों से किसी प्रकार का सुधार सम्भव नहीं है। व्यक्ति के आंतरिक प्रयास से ही कोई भी काम हो सकता है। उसकी धारणा के अनुसार जो व्यक्ति इसके अतिरिक्त किसी अन्य तरीके में विश्वास करता है, वह पलायनवादी है। उसका कहना है कि महाजनों-द्वारा भारतीय किसानों पर लादा गया ऋण-दासत्व वित्तीय विधान-द्वारा नहीं, बल्कि आध्यात्मिक उपायों-द्वारा दूर किया जाना चाहिए। उसका मत है कि, प्रत्येक व्यक्ति पृथक् है; किंतु एक अदृश्य सूत्र-द्वारा सब एक-दूसरे से जुड़े हुए भी हैं। व्यक्ति की रचनात्मक शक्तियाँ, उसकी अच्छाई, सचाई और उपयोगिता, इस नाल द्वारा उस तक पहुँचनेवाले रस से ही पोषण प्राप्त कर सकती हैं। अतः अपने सांसारिक जीवन में उसका एकमात्र कार्य यही है कि ऐसे प्रत्येक कार्य, भावना अथवा विचार की अवहेलना करे, जिससे इस नाल के टूटने की आशंका हो। यह अवहेलना एक कठिन और परिश्रमसाध्य प्रणाली-द्वारा ही सम्भव है और यही एक ऐसी प्रणाली है, जिसे योगी मान्यता देता है।

इन दो छोरों के बीच अत्यधिक शांत मानव-व्यवहारों की बाह्य रेखाएँ एक-के-बाद-एक कतार में फैली हैं। जितना हम केंद्र के निकट पहुँचते जाते हैं, वर्णपट उतना ही धब्बेदार और रोएँदार होता जाता है। दूसरी ओर, इन बाह्य-नग्न शरीरों पर रोओं की इस वृद्धि से वे और सुंदर लगने लगते हैं और उनके साथ समागम (मेलजोल) अधिक सुसंस्कृत हो जाता है। आप एक पक्के अधिकारी से बहस नहीं कर सकते; क्योंकि तत्काल ही वह अपनी छाती पीटना आरम्भ कर देता है और फिर चाहे आप दोस्त हों अथवा दुश्मन, वह अपने मृत्यु-सम आलिंगन में जकड़ कर आपका गला घोंट देता है। आप किसी योगी से भी बहस नहीं कर सकते; क्योंकि शब्द उसके लिए कोई

अर्थ नहीं रखते। हाँ, आप युद्ध के बाद की योजना बनानेवालों, उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करनेवालों, शांति-प्रचारक मंडल के सभासदों, उदारवादियों और प्राणि-मात्र की कल्याण-कामना करनेवालों से बहस कर सकते हैं; किंतु आपकी इस बहस से भी कुछ नहीं होने का; क्योंकि वास्तविक समस्या तो योगी और अधिकारी के बीच है—बाह्य परिवर्तन और आंतरिक परिवर्तन के मूलभूत सिद्धांतों के बीच है!

यह कहना आसान है कि सिर्फ समन्वय की ही जरूरत है—योगी और क्रांतिकारी के बीच समन्वय की—किंतु अब तक तो ऐसा नहीं हो सका है। अब तक जो-कुछ प्राप्त हुए हैं, वे आपसी समझौते के विभिन्न मिश्रित रूप हैं—वर्णपट के धब्बेदार मध्यवर्ती पट्टे—केवल समझौता; किंतु समन्वय नहीं। प्रत्यक्ष रूप से ये दो तत्त्व नहीं मिलते हैं। हमारे इतिहास के इतना उलझे हुए होने का एक कारण यह भी हो सकता है। अधिकारी की भावनात्मक शक्तियाँ व्यक्ति तथा समाज के सम्बंध पर स्थिर हैं और योगी की शक्तियाँ व्यक्ति और विश्व के सम्बंध पर। अतः यह कहना तो सरल है कि केवल पारस्परिक प्रयास की आवश्यकता है, किन्तु यह कहना उसी प्रकार का होगा, जैसे बंगालियों से रोटी खाने को और पंजाबियों से भात खाने को कहा जाये।

अधिकारी की कठिनाई

प्राचीन रोमन सरदार स्पार्टाकस के सूर्यपूजक राज्य से लेकर सोवियत रूस के सुधारों तक, अधिकारी की प्रणालियों से मनुष्य का स्वभाव बदलने के सारे प्रयत्न निष्फल प्रमाणित हुए हैं। इस असफलता का रूप दो उदाहरणों में प्रतीत होता है, जिन्हें कैंट सम्भवतः व्यावहारिक तर्क का विरोधाभास कहता। पहला विरोधाभास पेंचदार है और दूसरा सपाट ढालुवाँ।

काल्पनिक आदर्श-राज्य (Utopia) का शिखर बहुत ढालुवाँ है और वहाँ तक जानेवाली सर्प सदृश सड़क में कई टेढ़े मोड़ हैं। जब आप इस सड़क पर ऊपर की ओर बढ़ते रहते हैं, तो आप कभी शिखर को नहीं देख पाते। आप मोड़ में ही घूमते रहते हैं, मूलतः आपको कुछ नहीं दिखायी देता। अगर उस सर्प-सदृश रास्ते पर बहुत-से लोगों की भीड़ आगे बढ़ रही है, तो जड़ता के प्राणनाशक नियमों के अनुसार, वह अपने नेता को धक्का देकर सड़क से परे कर देगी और स्वयं भी उसका अनुसरण करेगी। सारा समुदाय रास्ते से दूर जा हटेगा और परिणाम यह होगा कि वह कहीं नहीं पहुँचेगा। अधिकांश

क्रांतिकारी आंदोलनों के साथ यही हुआ है—ऐसे क्रांतिकारी आंदोलनों में सर्व-साधारण का प्रभाव बड़ा तगड़ा रहा है और लोगों की निष्क्रियता एक विकेंद्रित विद्रोहात्मक शक्ति में बदल दी गयी है। दूसरी ओर, अधिक सचेत सुधारवादी आंदोलनों में, उत्तेजना बहुत जल्द समाप्त हो जाती है और ऊपर बढ़ने का चक्कर पहले, शीर्ष के चारों ओर, थका देने वाले घुमाव का रूप ले लेता है—ऊपर बढ़ने की दिशा में तनिक भी प्रगति नहीं हो पाती और ऐसा तब तक होता रहता है, जब तक अंतिम रूप से ऊपर के बजाय नीचे उतरने के चक्कर के रूप में उसका पतन नहीं हो जाता है—उदाहरणार्थ, ट्रेड यूनियनवालों का आंदोलन।

असफलता का दूसरा रूपक ढालुवाँ है—लक्ष्य और साधन-सम्बन्धी। इसमें या तो साधनों पर परिणाम हावी होता है अथवा परिणाम पर साधन। सिद्धांततः आप विस्तृत उदारवादी अथवा धार्मिक मध्यम मार्ग का निर्माण कर सकते हैं; किंतु अगर आपके ऊपर जिम्मेदारी का बोझ हो और व्यावहारिक निर्णय लेने की समस्या सामने हो, तो आपको किसी एक मार्ग को अपनाना ही पड़ेगा। और, जहाँ आपने कोई निर्णय किया, आप ढलान पर पहुँच गये। अगर आपने साधनों पर परिणाम के हावी होने के पक्ष में निर्णय किया है, तो यह ढलान आपको सहज विचार-बुद्धि-रूपी चलायमान गलीचे पर उत्तरोत्तर नीचे गहराई में खिसकने को बाध्य कर देती है। उदाहरणार्थ, आत्मरक्षा का अधिकार, आक्रमण ही सर्वोत्तम सुरक्षा है, निर्दयता की वृद्धि संघर्ष की अवधि कम कर देती है, इत्यादि। दूसरे प्रकार की प्रसिद्ध ढलान "चिकित्सक के चाकू" से आरम्भ होती है और मास्को के शुद्धीकरण पर समाप्त होती है। इस ढलान की घातक यांत्रिक प्रक्रिया पास्कल को पहले से ही ज्ञात थी।

मनुष्य न तो देवदूत है, न पशु और यह उसका दुर्भाग्य है कि जो देवदूत की तरह आचरण करेगा, वही पशु के समान भी आचरण करता है।

योगी की कठिनाई

मनुष्य के आंतरिक परिवर्तन के लिए बड़े पैमाने पर किये गये सभी प्रयत्न भी समान रूप से असफल रहे हैं। जब कभी बाह्य उपायों-द्वारा साधुता का संगठन करने का प्रयास किया गया, संयोजकों के सामने वही कठिनाइयाँ आ खड़ी हुईं। अन्वेषणकारी बेराह हो गये; स्वतंत्र विचार-काल के गिरजाघर शीर्ष के चारों ओर चक्कर लगाते रहे; किन्तु ऊँचाई की ओर बढ़ने में उनकी तनिक भी प्रगति

नहीं हुई। परिणाम पर साधनों के हावी होने का सिद्धांत भी विपरीत सिद्धांत के समान ही एक घातक ढाल तक ले जाता है।

यह स्पष्ट है कि अधिकारियों के नेतृत्व की तुलना में, इस अंतर्मुखी विडम्बना के अंतर्गत सर्वसाधारण का भविष्य कुछ उज्ज्वल नहीं है। एक ढलान अन्वेषण और शुद्धीकरण तक ले जाती है; दूसरी बलात्कार और संगीन की नोक के समक्ष समर्पण की स्थिति तक पहुँचाती है, जिसका परिणाम होता है—गंदगी से भरपूर गाँव, विषैले-घातक रोगों से पीड़ित बच्चों की कतारें और ट्रेकोमा (आँखों का एक रोग, जिसमें दाने पड़ जाते हैं) के शिकार लोग। योगी और अधिकारी इसे पलायन कह सकते हैं।

२. गतिशील वर्णपट

किंतु वे ऐसा कहते नहीं। समन्वय में असमर्थ होने और वर्णपट की मध्यवर्ती पट्टियोंवाले क्षीण समझौतों से असंतुष्ट रहने के कारण, वे निश्चित गति से एक-दूसरे को आकर्षित और विकर्षित करते रहते हैं। यह आश्चर्यजनक नर्तन इतिहास के अत्यधिक उत्तेजक रूपों में से एक है, जिस पर मार्क्सवाद प्रकाश डालने में सर्वथा असमर्थ रहा है। अन्यथा वह सर्वश्रेष्ठ उपयोगी पथ-प्रदर्शक है।

कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों के अंतर्गत बड़े पैमाने पर वर्णपट के एक छोर से दूसरे छोर तक आवागमन आरम्भ होता है—इन्फ्रा-रेड से अल्ट्रा-वायलेट अथवा अल्ट्रा-वायलेट से इन्फ्रा-रेड तक सर्वत्र उलट-फेर! अतलांतिक तथा प्रशांत महासागरों पर नियमित रूप से बहनेवाली सशक्त हवा के समान अधिकारी अथवा इन्फ्रा-रेडवाले छोर की तरफ सर्वत्र ऐसी ही उलट-फेर १९–वीं शताब्दी में हुआ। वर्तमान परिस्थिति उसकी विपरीत दिशा के अनुकूल है। १९३०-३१ के आरम्भ से हम सब थोड़ी-बहुत अपनी जानकारी में तथा अपनी इच्छा से अल्ट्रा-वायलेट वाले छोर—योगी—की ओर यात्रा कर रहे हैं।

जितनी कम चेतना से हम हवा के रुख के साथ आगे बढ़ते हैं, उतनी ही अधिक इच्छा से हम इसे करते हैं। चेतना जितनी अधिक होती है, इच्छा उतनी ही कम हो जाती है। व्यक्तिगत रूप से मैं बादवाले ढंग से सम्बंधित हूँ। मेरी यह इच्छा है कि अभी भी कोई, अंत के लिए अल्ट्रा-वायलेट का सहारा लिये बिना, पूरी ईमानदारी, से इन्फ्रा-रेड-सम्बंधी एक उपन्यास लिखता। किंतु कोई ऐसा वैसे ही नहीं कर सकता, जैसे कोई भी ईमानदार वैज्ञानिक आध्यात्मिक

परिशिष्ट के बिना भौतिक विज्ञान की पुस्तक प्रकाशित नहीं कर सकता अथवा कोई भी ईमानदार समाजवादी, सामूहिक मनोविज्ञान के विवेकहीनता-सम्बंधी तथ्य पर समुचित रूप से ध्यान दिये बिना वामपंथियों की पराजय के निरीक्षण पर पुस्तक नहीं लिख सकता। जो आँख मूँद कर अतीत से चिपटा रहता है, वह पीछे छूट जायेगा; किंतु जो सदैव अपनी उपेक्षा करने को तत्पर रहता है, वह किसी सूखी पत्ती के समान ही उड़ा कर दूर ले जाया जायेगा— कोई अगर कुछ कर सकता है, तो वह है अधिक चेतना के साथ इच्छा के कम वशीभूत होकर यात्रा करनेवाला।

किंतु क्या ऐसी इच्छागत पुनरनुकूलता सम्भव है? क्या वे, जो महान् वर्णपटीय उलट-फेर के बाद भी जीवित रहते हैं, सर्वथा उपयुक्त हैं अथवा सिर्फ बकवास करना जानते हैं? अपने कुछ साथी लेखकों के बारे में सोचने पर जिन्होंने अधिकारी-युग से लेकर योगी के युग तक की यात्रा बंदर की-सी चपलता से पूरी कर ली है, बरबस यह कहने का लोभ हो आता है— "मुर्दों को ही अपना अतीत दफनाने दो।" उनका उत्तर होता है— "किंतु हमारा मतलब यही है"—और इसमें कोई संदेह नहीं कि कम-से-कम वे विश्वास करते हैं कि उनका मतलब यही है। फिर भी किस लेखक ने ऐसी कोई पंक्ति लिखी है, जिसके सम्बंध में वह यह कहे कि कम-से-कम उसका मतलब यह नहीं है? अतः कोई भी पहले उनसे घृणा करता है; तब बाद में, उसे ज्ञात होता है कि उसकी घृणा गलत कारणों को लेकर थी और उसके बाद भी वह घृणा करता है; क्योंकि इन्फ्रा-रेड से अल्ट्रा-वायलेट तक अपने निष्कासन के सही कारणों का उन्होंने बड़ी जल्दी पता लगा लिया था। ऐसे मामलों में फुहड़पन आदरणीय है और वाक्-चपलता निंदनीय। उन्होंने कभी हवा के विरुद्ध कटिबद्ध होकर आगे बढ़ने (नाव खेने) की चेष्टा नहीं की, स्वयं को हवा के पहले झोंके पर छोड़ दिया, जिसने उन्हें उनके स्थान से अलग कर और चारों ओर चक्कर खिला कर धीरे से दूसरे छोर पर ला रखा और शायद इसी से, जब आप उनकी बातें सुनते हैं, तो ऐसा लगता है, जैसे सूखी पत्तियाँ खड़खड़ा रही हों।

कलाप्रेमी अधिकारियों की तुलना में राजनैतिक अधिकारियों के लिए वर्णपटीय उलट-पुलट का परिणाम अधिक दुःखद है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे आवश्यक रूप से गहराई के साथ इसका अनुभव करते हैं—शायद सचाई इसके विपरीत हो। विपत्ति के कालों में, जब मूल्य गिर जाता है और मानव-जीवन में वाक्-चातुर्य तथा विश्वासघात का हल्का, किंतु फिर भी प्रत्यक्ष

स्पर्श होता है, तब कलाकारों के मन में आत्मघात की भावना आती है; पर शायद ही वे कभी उसे अंजाम देते हैं। इसके विपरीत क्रांतिकारी के मन में शायद ही कभी आत्मघात की भावना आती हो; लेकिन जब ऐसा होता है, तो इसलिए कि उसके सामने कोई और रास्ता नहीं रह जाता। एक अर्थ में, आध्यात्मिक जीवन की परिभाषा मृत्यु स्वीकार करने की शिक्षा के रूप में दी जा सकती है। अधिकारी मनुष्य की उस श्रेणी में आता है, जिसे यह शिक्षा कम-से-कम मिलती है; फिर भी परिस्थितियों से बाध्य होकर दूसरे लक्ष्य की ओर अधिक तेजी से बढ़ता है।

इस प्रकार कलाकार अपने स्थान से हटाये जाने का सबसे कम अवरोध करता है और क्रांतिकारी सबसे अधिक। वास्तव में, अधिकारी का परिचय ऐसी श्रेणी के मनुष्य के रूप में दिया जा सकता है, जिसने अपनी अंतश्चेतना से पूर्णतः सम्बंध तोड़ लिया है। यह बात अधिक उल्लेखनीय है; क्योंकि वह सदा एक संकट के भीतर रहता है और वह संकट है उन निषिद्ध क्षेत्रों से सम्बंध स्थापित करने का लोभ। मेरे विचार से, लेनिन ने इसके लिए एक मुहावरे का प्रयोग किया था—"हम सब मृत व्यक्ति हैं, जो मौत से कुछ समय की छुट्टी लेकर आये हैं।" वस्तुतः वह स्थायी रूप से शमित यौवन बिताने के लिए शापित है। साधारणतः युवावस्था का महान् संकट और अस्तित्व को बनाये रखने की दुर्निवार समस्याओं का सामना एक बार ही होता है—दाँत निकलने की सीमित क्रिया के समान। किन्तु एक क्रांतिकारी अपना सारा जीवन उग्र वातावरण में बिताता है और वे दुःखद समस्याएँ उसके लिए रोजमर्रे की चीजें हो जाती हैं। दाँत निकलने की यह कष्टप्रद क्रिया एक बार जहाँ समाप्त हुई, साधारण नागरिक जीवन के सरल ढंग का विस्तार सम्पूर्णता की ओर करते हैं; किंतु अधिकारी के साथ यह बात लागू नहीं होती।

स्थायी युवावस्था के काल को भोगते हुए भी, यौवन की तरंगों से परे जितने आकर्षक और नीरस जीवन की कल्पना की जा सकती है, उसका आचरण उसी के अनुरूप है। मन में यह धारणा आ जाती है कि उसकी अंतश्चेतना का सम्बंध किसी विवेचक के सोफे से नहीं, बल्कि सर्जन की मेज पर रखे हुए अंग-विच्छेद करनेवाले चाकू से है। यथार्थतः बहुधा उसके सामने आनेवाली समस्याओं में से एक है—सुषुप्तावस्था अथवा अंतश्चेतना में स्वतः होनेवाली अन्य प्रक्रियाओं में अपने को जाहिर न होने देना, और अगर वह एक अच्छा अधिकारी है, तो वह अपने इस प्रयास में सफल भी हो जाता है।

वह असाधारण शमन का आश्चर्यपूर्ण प्रतीक है—मानव-जाति की सबसे प्रशंसनीय सफलताओं में से एक।

अब जीवन यदि दया के बिना असम्भव बन जाता है, तो स्वयं अपने पर दया की याचना के अभाव में भी शायद वह समान रूप से असम्भव है। अधिकारी दुःख-दर्द से परे नहीं है; किंतु उसके अनुभवों में दुःख-दर्द के बजाय दुःख-दर्द की प्रतिध्वनि ही अधिक है—किसी कटे हुए अंग की पीड़ा के समान। वह अपने प्रति प्रशंसा के साथ साथ दया के लिए भी विवश करता है—कमजोर इंसान के मन में शक्तिशाली के लिए कभी-कभी जैसी निरीह-सी दया की भावना उभरती है, वैसी ही दया। ब्लांकी, लक्ज़ेम्बर्ग, वेरा फिगनर-जैसे व्यक्तियों के सामने सिवा खामोश रहने के और यह अनुभव करने के कि हम कितने निस्सार तथा तुच्छ हैं, हम और कुछ नहीं कर सकते; फिर भी दया तो शेष रह ही जाती है।

अधिकारी जब अपने जीवन के संकट का सामना करता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह भावना न्यायसंगत है। यह एक दुःखद और उलझी हुई प्रक्रिया है, जिसके बारे में बहुधा गलतफहमी हो जाती है। इसके जितने भी रूप हों, वे व्यक्ति-व्यक्ति के साथ भिन्न हो सकते हैं; किंतु मूलतः वे सदैव एक हैं; कटे हुए अंग के प्रतिशोध-स्वरूप गेरार्ड डे नेवाल की एक कहानी की मुझे अस्पष्ट-सी याद है। इस कहानी में एक न्यायाधीश एक चोर को हाथ काट दिये जाने की सज़ा देता है। कटा हुआ हाथ न्यायाधीश के पीछे पड़ जाता है और अंततः उसका गला दबोच देता है। अधिकारी के मामले में न्यायाधीश और अपराधी एक ही व्यक्ति है और कटा हुआ अंग हाथ नहीं है। अगर हम ध्यानपूर्वक परीक्षण करें, तो पायेंगे कि वह है योगी का अंतर्वर्ती सूत्र, जिसके द्वारा वह पूर्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, और यदि फ्रायड के गम्भीर शब्दों का व्यवहार किया जाये, तो 'सागरवत् भावना' के साथ अधिकारी का यह विश्वास रहता है कि यह एक शौकिया अंग है; किंतु संकट-काल में उसे अनुभव होता है कि बात ऐसी नहीं है। मानव और समाज का सम्बंध अचानक मानसिक परिवर्तन के लिए अपर्याप्त प्रमाणित होता है—इसके लिए मानव और विश्व का सम्बंध फिर से स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

इस स्थिति में दो में एक ही चीज सम्भव है। या तो टूटा हुआ सम्बंध फिर से जुड़े और प्रायश्चित्त के रूप में मानव और समाज का सम्बंध टूट जाये (यह क्रांतिकारी के रहस्यवादी में परिवर्तित होने अथवा अधिकारी के योगी में

अचानक परिवर्तित होने का असाधारण मामला होगा) या फिर सम्बंध फिर से नहीं जुड़े—तब वह मृत नाल चक्करदार गेंडुरी का रूप धारण कर लेगी और अपने मालिक का गला दबोच देगी। यह उन भूतपूर्व क्रांतिकारियों का समान रूप से असाधारण मामला है, जिनकी आत्मा घुट कर मर गयी थी। वे मास्को के मुकदमों में सिनोज्यू के समान शवतुल्य अथवा लावाल और डोरियट के समान पैशाची और दुरात्मातुल्य अथवा वामपंथीय नौकरशाही के समान नपुंसक तथा सूखे हुए रूप में उपस्थित हो सकते हैं। रोजा लक्ज़ेम्बर्ग के बाद कोई ऐसा पुरुष अथवा नारी नहीं हुई है, जिसमें 'सागरवत् भावना' और कार्य का वेग साथ-साथ हो।

दुर्भाग्यवश इन प्रक्रियाओं का वर्णन करने के लिए अभी तक हमारे पास वैज्ञानिक शब्द नहीं हैं। इतिहास में 'चेतना-सम्बंधी तत्त्व' को समझने के लिए ये प्रक्रियाएँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इसी से जितनी गम्भीरतापूर्वक इनका वर्णन करने की चेष्टा की जाती है, उतना ही वह अस्पष्ट और काल्पनिक हो जाता है। किंतु उससे श्रेष्ठ के अभाव में उसी का उपयोग होता है। मनोविज्ञान के जो तीन मुख्य समकालीन स्कूल हैं, उनके वृहत् साहित्य में इस परिवर्तन के एक भी मामले का इतिहास नहीं मिलता यथा एक क्रांतिकारी का मानवद्वेषी और रहस्यमय बनने का, जब कि इतिहास—चाहे वह प्राचीन काल का हो अथवा वर्तमान काल का—के पन्ने ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े हैं। अन्य व्यक्तियों की तुलना में इस प्रश्न के अधिक निकट जुंग पहुँचा है। अंतश्चेतना की उसने जो व्याख्या की है, उसका 'नाल' से अधिकाधिक सादृश्य है; किंतु दूसरे परीक्षण के लिए वह मनुष्यों की सर्वाधिक अयोग्य कोटि को अधिक पसंद करता है, यथा घनी अधेड़ों को। और, ऐसा वह कुछ कारणों से करता है। अगर उसे अपने मरीजों का चुनाव जर्मन या रूसी श्रम-शिविरों में बसनेवाली मनुष्य-जाति से करना होता, तो उसका सिद्धांत सिर्फ केवल अपर्याप्त ही प्रमाणित नहीं होता, बल्कि उसे अपनी प्रणाली में इतने नये निर्णायक तत्त्वों को शामिल करना पड़ता कि उसकी परिभाषा और परीक्षण-परिणाम दोनों ही क्षार हो जाते। अधिकारी के वर्णपटीय उलट-फेर एक मनोवैज्ञानिक के लिए समस्या-रूप हैं।

वर्णपट के अधिक वेतरतीब मध्यवर्ती पट्टों की ओर ध्यान देने से हमें ज्ञात होता है कि रहस्यमयी धारा के प्रति उनकी प्रतिक्रिया रहस्य प्रकट कर देनेवाली है। वामपंथियों की क्रमबद्ध पराजय, पुराने दल और उनके पस्त नेता, उनकी

योजनाएँ और प्रतिज्ञाएँ, विचार और आदर्श, एवं सबसे अधिक स्वयं उनकी मूर्खतापूर्ण और निरर्थक आशाएँ—इन सबके प्रति घृणा की तीव्र चेतना के रूप में ही पहले यह प्रतिक्रिया वर्णपट के गुलाबी रंगवाले प्रदेशों में प्रकट होती है। यह गुलाबी रंग की प्रतिक्रिया भावनात्मक आरम्भ-बिंदु हैं। फिर इस प्रत्यक्षीकरण की बारी आती है कि सर्वसाधारण के निकट पहुँचने का हमने जो तरीका अपनाया था, निश्चय ही, उसमें मूलतः कहीं कुछ भूल थी। इसके बाद यह प्रकट होता है कि जिस स्थान पर—सर्वसाधारण की सजगता के मामले में—उन्हें असफलता मिली, फासिज्म वहीं जबर्दस्त रूप से सफल हुआ। असफल व्यक्ति के दिल में वह सफलता सिर्फ ईर्ष्या की भावना को ही जन्म देती है। अगर हम अधिक निकट से देखें, तो हमें ज्ञात होगा कि फासिज्म के प्रति वर्णपट के गुलाबी रंगवाले क्षेत्रों की प्रवृत्ति ईर्ष्या की है, घृणा की नहीं।

वर्णपटीय उलट-फेर से केवल वैज्ञानिक को ही निश्चित रूप से सबसे अधिक लाभ होने वाला है। एक प्रकार से उसी ने इस आंदोलन का आरम्भ किया। बाद में उसका वेग, वह जहाँ जाना चाहता था, उससे भी आगे उसे ले गया। यह बात याद रखनी चाहिए कि विवेकरहित अथवा अल्ट्रा-वायलेट तत्त्व—जो वर्तमान पदार्थ विज्ञान, प्राणिविज्ञान और मनोविज्ञान को इतने सशक्त रूप में विषैला कर रहा है—चोरी-छिपे प्रयोगशालाओं में लाया जानेवाला दार्शनिक लोक-व्यवहार नहीं था, बल्कि प्रयोगशालाओं के बाहर ही वह जन्मा, पनपा और नये दार्शनिक वातावरण की उसने सृष्टि की। सबसे अद्भुत उदाहरण है, पदार्थविज्ञान का विकास, जो पिछली शताब्दी के अंतिम वर्षों तक अत्यंत सफल एवं विवेकपूर्ण अधिकारी-विज्ञान था और तब से अधिक-से-अधिक योगी-विज्ञान होता चला आया है। पदार्थ, समय, स्थान, कारण और परिणाम का परस्पर-सम्बंध, परिमित प्रमाण की यथार्थता और परिमित के बर्ताव का अनुमान करने की शक्ति में विश्वास—ये सब भौतिक विज्ञानवेत्ता की उँगलियों से होकर बालू के समान तब तक फिसलते गये, जब तक कुछ भी बाकी नहीं रहा, सिवा इस प्रकार के कुछ औपचारिक कथनों के—"अगर चौपड़ के खेल के एक छोटे पाँसे का निर्माण इस ढंग से किया गया है, जिससे इक्का की ही ओर उसके गिरने का अनुमान लगाने का हमारे पास कोई कारण न हो, तो यह आशा करने का हमें अधिकार है कि पाँसे के अधिक बार फेंके जाने के दौरान में उसकी प्रवृत्ति इक्के की ओर गिरने की न होगी।"

निश्चय ही, इस कथन की यथार्थता से इनकार नहीं किया जा सकता; किंतु विश्व के उन रहस्यों के लिए—जिन्हें हमें बताया गया है—हमारी जो भूख है, उसे देखते हुए यह कथन किंचित् संकोचपूर्ण है। आधुनिक भौतिक विज्ञान-वेत्ता अवश्य ही, इस बात से इनकार करता है कि उसका काम किसी भी चीज को 'समझाना' है। इसके स्थान पर वह ऐसे सूत्रों के निर्माण में अतीव आनंद अनुभव करता है, जो उसके कथनों में निहित अशुद्धियों की मात्रा विशुद्ध रूप से स्थापित कर देते हैं, अर्थात् केवल व्याख्या करने की नहीं, बल्कि भौतिक संसार में वस्तुतः क्या हो रहा है, इसका विवरण देने में भी भौतिक विज्ञान की अयोग्यता। कुछ काल पूर्व लाप्लाके ने सोचा कि अगर विशिष्ट बुद्धिमत्ता सभी अणुओं और एक निर्धारित क्षण के उनके वेग का ब्यौरा दे सकती है, तो वह संसार के अंत तक की सभी घटनाओं की भविष्यवाणी कर सकती है—यहाँ तक कि मि. चर्चिल के सिगारों के मार्के की भी। अंतिम अधिकारी-काल के भौतिक विज्ञानवेत्ताओं और दर्शनशास्त्रियों ने भौतिक नियतिवाद के घातक फंदे को पार कर जाने की चेष्टा की; पर इससे बचाव की कोई सूरत न थी। प्राथमिक अवस्था की स्वच्छंदता और 'प्राकृतिक नियमों' के कुछ समूह के, जो सारी यांत्रिक प्रणाली निश्चित करते थे, प्राथमिक चुनाव के अलावा, १९-वीं सदी के भौतिक विज्ञान में संसार किसी बड़े यंत्र के समान गतिशील था—उसे स्वतंत्रता नहीं थी। बीसवीं सदी के भौतिक विज्ञान में यह प्राथमिक स्वच्छंदता या स्वतंत्रता समय और स्थान के सभी सम्भव कटावों पर, अतिसूक्ष्म परिमाणों में बराबर-बराबर वितरित कर दी गयी है। प्राथमिक सृष्टि रचनात्मक अविरामता बन गयी है। निश्चय ही 'स्वतंत्रता' और 'स्वच्छंदता' उन तत्त्वों की उपस्थिति की सूचना-मात्र देनेवाले शब्द हैं, जिनकी व्याख्या भौतिक विज्ञानवेत्ता नहीं कर सकता और न उनका ब्यौरा ही दे सकता है। १९-वीं शताब्दी का भौतिक विज्ञान ऐसे संसार का विवरण देता है, जिसकी परिभाषा बड़े रूखे ढंग से एक धब्बेदार प्राथमिक अवस्थावाले संसार के रूप में दी गयी है; समकालिक भौतिक विज्ञान एक समान रूप से मलिन विश्व का विवरण देता है—एक मोटे दाने वाले फिल्म की तरह। (हीज़ेनबर्ग के अनिश्चितता-सिद्धांत में दानेदार बनाने की इस क्रिया की परिभाषा दी गयी है और कार्य के परिमाण 'एच'-द्वारा इसे दर्शाया गया है।) हम इस संसार को 'विश्वदेववादी', 'स्वतंत्र', 'अस्थिर', 'गणनावादी', 'पारलौकिक' अथवा 'इच्छावादी' कहें, यह अधिक या कम अपनी-अपनी रुचि की बात है। वास्तव

में, ध्यान देने की जो बात है, वह यह कि भौतिक विज्ञानवेत्ता के पैमाने के यंत्र ऐसे तत्त्वों की उपस्थिति की सूचना देते हैं, जिनका प्राकृतिक रूप में माप नहीं लिया जा सकता। और, यही कारण है कि दूसरों की अपेक्षा भौतिक विज्ञानवेत्ता अल्ट्रा वायलेट की ओर अधिक सचेत होकर बढ़ता है[1]।

३. लोलक (Pendulum)

अधिकारी, कलाकार, सदिच्छापूर्ण संदिग्ध मानव, वैज्ञानिक, इन सबके महान् वर्णपटीय उलट-फेर के प्रति, केवल प्रतिकार के तरीके ही भिन्न नहीं हैं, बल्कि इसमें शामिल होने के उनके उद्देश्य भी अलग-अलग ढंग के प्रतीत होते हैं। क्या इस तीर्थयात्रा का कोई समान कारण है?

१. मैं वैज्ञानिक की बात कर रहा हूँ, किसी नीम-हकीम की नहीं। अगर कम्यूनिस्ट पैम्फलेट [परचा] किस्म की अधिकारी पत्रकारिता बुरी है, तो गेराल्ड हर्ड किस्म की योगी-पत्रकारिता उससे भी बुरी है। दोनों जिस विचार का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसी पर अविश्वास करते हैं; लेकिन जब कि अधिकारी-पत्रकारिता के मामले में यह दलील पेश की जा सकती है कि उसके दृढ़ विश्वासों के अनुसार पर्याप्त प्रचार में कुछ कपट-व्यवहार की गुंजाइश हमेशा रहती ही है, दूसरे मामले में यह बचाव नहीं अपनाया जा सकता। योगी-पत्रकारिता के कुछ उदाहरण ये हैं:—

"इलियाह इज़रायल के बादशाह के लिए मानसिक संक्रमण-सम्बधी गुप्त-सेवा-एजेंट का कार्य भी करता है" (गेराल्ड हर्ड, पेन, सेक्स ऐंड टाइम, पृष्ठ १२९)। "हम जानते है, मोसेज़ विवाहित था। अतः चेतना-वृद्धि के लिए एक उपाय के रूप में उसने पूर्ण ब्रह्मचर्य का उपयोग नहीं किया होगा" (इबिद, पृष्ठ १२३)। "इसलिए फिर भी, वैजरोली, उन लोगों को, जो स्वयं मार्ग-शोध नहीं कर सकते, दूसरा मार्ग दर्शा सकता है कि अगर 'सही ध्यान' समाधि (पाली में भी यही शब्द है) के द्वारा सामूहिक चेतना (हर्षोन्माद) सिर्फ सम्भव ही नहीं है, बल्कि चेतना के विकासवाद-सम्बधी स्थिति में वस्तुतः प्रवेश पाना है, तब निश्चय ही, हमें कोई अन्य लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए और यौन की समस्या इसी के जरिये और सिर्फ इसी के जरिये अंततः अपना निदान पा लेगी" (इबिद, पृष्ठ २२९)। नमूने के लिए इतना ही ठीक है, निहित वस्तुओं के विश्लेषण के लिए अधिक स्थान की आवश्यकता होगी; किंतु परिणाम समान रूप से निराशाजनक होंगे।

कुछ हद तक, भौतिक विज्ञान में हुई क्रांति ने कलाकार पर प्रभाव डाला है, मनोविज्ञान में हुई क्रांति ने राजनैतिक दृष्टिकोण को प्रभावित किया है और इस तरह के परस्पर-प्रभावों का पता लगाना आसान है। वे प्रभाव शक्ति की कर्ण रेखाओं के एक साँचे का निर्माण करते है, किंतु वह साँचा जालसूत्र का है, एक सकारण शृंखला का नहीं। क्वांटम-यांत्रिकता से लेकर बुचेरिन के स्वतः अभियोग के बीच कोई हेतुक शृंखला नहीं है, किंतु अप्रत्यक्ष रूप से, वे सभी कर्णों-द्वारा आपस में जुड़े हैं। हम एक समान कारण की माँग नहीं कर सकते, हम केवल विभिन्न कारणों में सार्वलौकिक भाजक संख्या की ही माँग कर सकते हैं।

वीमर गणतंत्र के संकटपूर्ण वर्षों में, जब कम्यूनिस्ट अथवा फासिस्ट क्रांति समान रूप से सम्भव नजर आती थी और एक ही चीज असम्भव प्रतीत होती थी—नष्टप्राय पुरानी शासनपद्धति का जारी रहना, उस समय अर्नेस्ट जुएंगर-नामक एक व्यक्ति ने 'पूँजीपतियों के विरोध की सामूहिक बीमारी' वाले मुहावरे पर नयी कल्पनाएँ गढ़ीं। इस अस्पष्ट किंतु प्रबल लालसा में, सचमुच ही, दूसरे प्रकार की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियोंवाले व्यक्तियों ने भी सहयोग दिया। शायद जिस सार्वलौकिक भाजक संख्या की हम खोज कर रहे हैं, 'अनात्मवाद-विरोध की बीमारी' के नाम से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा दी जा सकती है। यह हेतुवाद, छिछला आशावाद, क्रूर तर्क, अहंकारयुक्त आत्मविश्वास और १९-वीं सदी की प्रोमेथियन प्रवृत्ति से सम्बंधित है; यह रहस्यवाद, अद्भुत विचार, विवेकहीन नैतिक मूल्यों और मध्यकालीन गोधूलि-वेला-द्वारा आकर्षित है। संक्षेप में, यह उन्हीं वस्तुओं की ओर अग्रसर हो रहा है, जिनसे इन्फ्रा-रेड की ओर होनेवाला अंतिम तो नहीं, पर उससे पहलेवाला विशाल वर्णपटीय उलट-फेर दूर हट चुका है। स्पष्ट ही, इन आंदोलनों में राजनैतिक दलों के अधिकारों को उलट-पुलट करनेवाली एक लय रही है।

हेतुवाद से लेकर कल्पनावाद के युगों तक राजनैतिक दलों के अधिकार की उलट-पुलट और उसकी वापसी, इतिहास के मूल न्याययुक्त आंदोलन की धारणा के विपरीत नहीं है। वह किसी नदी में ज्वार-भाटा उत्पन्न करनेवाली लहरों के समान है, जो उनके बावजूद सागर की ओर बढ़ती जाती है। इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या के घातक खोखले हिस्सों में एक यह है कि यह सिर्फ नदी की दिशा से सम्बंधित थी—लहरों से नहीं। नाजीवाद का जन-मनोविज्ञान-सम्बंधी पहलू मार्क्सवादी परिभाषाओं—नदी की दिशावाली परिभाषाओं—में व्याख्या के योग्य नहीं है। हमें जरूरत है ज्वार-भाटा उत्पन्न

करनेवाली लहरों की, जो इसका कारण बता सकें। दूसरी ओर, हमारी यह राजनैतिक दलों के अधिकार की उलट-पुलट-मात्र ही इतिहास की पथ-प्रदर्शिका नहीं है। लहरों के सम्बंध में बातें करने के पूर्व हमें नदी के सम्बंध में अवश्य जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

यह कल्पना करना शायद अधिक आपत्तिजनक नहीं है कि जन-मनोविज्ञान-रूपी वर्णपट में होनेवाले, राजनैतिक दलों के अधिकार की यह उलट-पुलट एक ऐसी परिपाटी है, जो व्यक्ति के सोने और जागने के लयबद्ध परिवर्तन के समान है। जन-मनोविज्ञान के विवेकहीन अथवा अद्भुत विचार के काल नींद और स्वप्न के काल हैं। यह आवश्यक नहीं कि स्वप्न शांतिपूर्ण हों; अधिकतर वे बुरे तथा भयंकर सपने ही होते हैं; किंतु अंतश्चेतना में इन सामयिक गोतों के बिना अगले चैतन्य, प्रोमेथियन अथवा अधिकारी-काल के लिए अत्यंत आवश्यक पोषण-रस हैं, वे उपलब्ध नहीं हो सकेंगे। शायद प्रत्येक विवेकहीन काल के बाद जागृतिकाल आता है और वे इस दौड़ की सूची की योग-रात्रियाँ और अधिकारी-दिवसों की परम्परा हैं। और, शायद यह हमारी वर्तमान सभ्यता मर नहीं रही है, सिर्फ नींद में है।

फ्रेंच फ्लू*—फ्रांस का एक साहित्यिक रोग

इस देश में जो साहित्य के कर्ता-धर्ता हैं—साहित्य सम्पादक, आलोचक, निबंधकार, परनासस (प्राचीन काल में विद्या की पवित्र देवियाँ) के व्यवस्थापक—अभी हाल ही, बार-बार फैलनेवाले संक्रामक रोग, फ्रेंच फ्लू, के शिकार हो गये हैं। इसका रोगी साधारणतः संतुलित, सचेत और संशयात्मक प्रवृत्ति का होता है। इस रोग के लक्षण ये हैं कि फ्रेंच काव्य अथवा गद्य की एक पंक्ति भी दिखायी देते ही, रोगी गुण-दोष-विवेचक अपनी आंतरिक शक्ति, बिना किसी शर्त्त के, उसके अधीन कर देता है। जिस प्रकार गर्मी के दिनों में होनेवाले ज्वर में, उसकी उग्रता बढ़ा देने के लिए हवा का एक झोंका पर्याप्त है, उसी प्रकार, 'बाद्लेयर वेइरसे', 'क्रेवे-केयूर', 'पैट्रोई' अथवा 'मिनेट्टे' की तरह का एक भी फ्रेंच शब्द तीव्र ऐंठन पैदा करने के लिए पर्याप्त है—उसकी आँखों में पानी आ जाता है, उसका हृदय कड़वी-मीठी ऐंठनों से सिकुड़ जाता है, उसकी नाड़ीशून्य ग्रंथियां पूर्ण हर्षातिरेक से रक्त-धारा में बाढ़ ला देती हैं। अगर कोई अंग्रेज कवि "मेरी पितृभूमि", "मेरी आत्मा", "मेरा हृदय" आदि जैसे शब्द व्यवहार करने का साहस करता है, तो उसकी कुशल नहीं; किन्तु अगर एक फ्रेंच कवि 'ला पैट्री', 'ला फ्रांस', 'मांश्योर' और 'मान अमे' के बारे में संगीत-सम्बंधी सामान्य वार्ताओं को अलग-अलग बतलाता है, तो रोगी श्रद्धा से काँपने लगता है।

पिछले वर्ष फ्रांस से तीन कृतियाँ प्रकाश में आयी हैं। तीनों दैवी साहित्यिक प्रकाशन के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। ये प्रकाशन हैं—गिडे (Gide) का "इमेजिनरी इंटरव्यूज" (Imaginary Interviews), अरागन (Aragon) की कविता-पुस्तक 'ले क्रेवे-केयूर (Le Creve Coeur) और वरकर (Vercor) द्वारा लिखित "ले साइलेंस डे ला मेर" (Le Silence de la mer)। मने गिडे-लिखित मुलाकातों को केवल बहुत सावधानीपूर्वक ही नहीं, बल्कि बड़ी आतुरता से पढ़ा—उतनी ही आतुरता से, जितनी आतुरता से मंगल ग्रह से आनेवाले समाचारों को कोई सुनेगा। किन्तु पढ़ कर बड़ा दुःख हुआ। गिडे की

* प्रथम बार ट्रिब्यून [लंदन], नवम्बर, १९४३ में प्रकाशित

रचनाओं में सदा एक छिपे अहंकार की भावना है; उसके और उसकी पुस्तकों के बारे में सदा एक क्षीण और झीना वातावरण रहा है। फ्रांस की नवयुवक पीढ़ी पर उसका प्रभाव वस्तुतः शोचनीय है (उसकी विकृत शृंगारिकता के कारण नहीं, जिसके लिए पिची के फासिस्टों ने उसका तिरस्कार किया था; पुस्तकें पढ़ कर ही कोई परिवर्तित नहीं हो जाता)। ऐसा इसलिए हुआ कि उसकी रचनाओं में अध्यात्मवाद के हठ की झलक तथा अपने संप्रदाय का आग्रह है। उसे पढ़ने से उसके किसी असाधारण प्रणाली से सम्बंधित होने का भ्रम होता है तथा उसमें कुछ ऐसे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का समावेश है कि जिनकी व्याख्या करने की आप चेष्टा करें, तो वे सब बालू की भाँति हाथ से सरकते दिखायी देंगे। युवा बुद्धिजीवियों के लिए गिडे का संदेश एक कथा में वर्णित बादशाह के उन नवीन वस्त्रों के समान ही है, जिनके बारे में कोई भी यह कहने का साहस नहीं कर सका कि वह उन्हें नहीं देख पा रहा है।

फ्रांस के इस तरुण मध्यम वर्ग की मनोदशा बड़ी खंडित थी। अपने मानव-द्वेषी सिद्धांत और निज स्वार्थ की भावना के पक्ष में इन तरुणों के पास यह बहाना था कि, यह सब-कुछ उनके आध्यात्मिक जीवन को स्पर्श नहीं कर सका है। दिन में वे पुरानी मोटरों का धंधा करते और रात में बादशाह के वस्त्र पहन लेते। 'इमेजिनरी इंटरव्यूज' (काल्पनिक मुलाकातें) को देखते हुए, गिडे में, अगर बुराई की दिशा में नहीं, तो अच्छाई की ओर भी, कम परिवर्तन आया है। उसकी रचनाओं में वही हवाई बकवास है, एक फीकी प्रतिप्रभा—जिसका न रूप है, न आकार। मैंने कुछ महीने पहले वह पुस्तक पढ़ी थी, किन्तु मुझे न तो उसका एक विचार याद है, न एक मुहावरा। बालू की भीत गिर गयी है और अवशेष के रूप में, कुछ अस्पष्ट गंध-सी रह गयी है। फिर भी साहित्य के साथ प्रयुक्त शब्द "संदेश" का यदि कोई अर्थ है, तो यह कि शब्दों की स्मृति धूमिल पड़ जाने के बाद, इसका सारांश आपको स्मरण रहे।

लुई अरागन के सम्बन्ध में, 'ले क्रेव-केयूर' की प्रस्तावना में हमने पढ़ा—"मैं उससे (अरागन) पहली बार नेउली (Neuilly) के मेले में, ग्रीष्म की एक शाम को, मिला। वहाँ वह और सररियलिस्ट्स (कला तथा साहित्य के क्षेत्र में प्रतिच्छाओं के जरिये अवचेतन मस्तिष्क को समझाने के लिए, २०-वीं सदी में एक आंदोलन चलानेवाले) का दल एक महिला के—जो उनके लिए विश्व-भर में एकमात्र महिला थी—इर्द-गिर्द मँडरा रहा था। वह महिला थी सुन्दर और बुद्धिमान फेम्मे ट्रांक (Femme-tronc)। उन लोगों की श्वेत

टाइयाँ अंधेरे में चमक रही थीं। हाथ-पाँव-विहीन फेम्मे-ट्रांक पहियोंवाली कुर्सी पर बैठी किसी ऊर्ध्वकाय मूर्ति की तरह लगती थी। वह अपने मुँह से कलम पकड़ कर अपनी तस्वीर पर हस्ताक्षर कर रही थी। अरागन ठिगना और काफी मजबूत था। उसका रंग पीला था और आँखें निस्तेज। उसके काले बाल तरतीब से पीछे की ओर सँवारे हुए थे। बाद में, वह मारक्वीस द्वीप-समूहों में कला तथा साहित्य-सम्बंधी अभियान—जिसके लिए उन्हें स्वप्न में आदेश मिला था—पर चला गया। मायाजाल और आत्मघृणा की एक अवधि के बाद उसने राजनैतिक आधारों पर सररियलिज्म से सम्बंध-विच्छेद कर लिया और अधिक व्यक्तित्वहीन कम्यूनिस्ट पार्टी में शामिल हो गया।"

वह फिर भी एक उत्कृष्ट कवि हो सकता था और कोई उसके निजी और राजनैतिक अतीत के बारे में चिन्ता नहीं करता, किन्तु फ्रेंच फ्लू के प्रचारकों ने आज अरागन को सिर्फ कवि ही नहीं रहने दिया है, बल्कि वामपंथियों का नायक और शहीद बना दिया। वे हमसे कहते हैं कि "फौज के विरुद्ध एक कविता लिखने के लिए वह गिरफ्तार किया गया, रूस भेजा गया....." इत्यादि और जब युद्ध छिड़ा, वह "एक कम्यूनिस्ट की हैसियत से एक ऐसे स्थान पर रखा गया, जहाँ विशेष रूप से संकट था....." किन्तु सत्य यह है कि कम्यूनिस्ट के रूप में अरागन का जीवन सररियलिस्टिक परम्परा में था। कार्नफोर्ड और राल्फ जब मोर्चे पर मरे और मालरौक्स ने गणतंत्रीय वायुसेना के अंतरराष्ट्रीय जत्थे का संगठन किया, उस समय अरागन लाउडस्पीकर लगी एक गाड़ी में स्पेनिश मोर्चे पर घूमता था और सैनिकों को अपनी कविताएँ सुनाता था। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं है कि सभी लेखकों को उनका अनुकरण करना चाहिए। मेरा तात्पर्य तो सिर्फ इतना ही है कि अगर शब्दों का कोई अर्थ होता है, तो वे सब वीर थे—शहीद थे; पर वे अरागन की तरह नहीं थे। 'फौज के विरुद्ध कविता लिखने के लिए' उसकी गिरफ्तारी एक दिन का नाटक थी। वह एक फरार की हैसियत से रूस नहीं गया, जैसा हम लोगों को बताया जाता है, बल्कि वह लेखकों की कॉंग्रेस में व्याख्यान देने के लिए एक भ्रमणकारी की तरह गया था। वह ऐसे किसी पद पर नहीं रखा गया, जहाँ विशेष रूप से संकट था, बल्कि मेडिकल कोर में उसे एक छोटे अफसर का पद मिला था और निस्संदेह, दूसरों की तरह उसने भी अपना कर्तव्य निभाया। मैं पुनः कहता हूँ कि कोई भी लेखकों से यह आशा नहीं करता कि वे शूरवीर नायक भी हों, जैसे दृष्टांत के लिए,

इशरवुड के फौजी जत्थे में शामिल होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती; किन्तु वामपंथियों का संघर्ष कोई संगीतपूर्ण नाटक नहीं है। साहित्यिकों का आपेरा-नायकों की तरह सज्जित होना—जो फ्रेंच फ्लू का दूसरा लक्षण है—बरबस ही किसी को लज्जा का अनुभव करने के लिए बाध्य कर देता है—अगर और किसी कारण से नहीं, तो कम-से-कम अपने मृत व्यक्तियों के प्रति आदर के कारण ही।

कविताओं के अलावा, 'ले क्रेवे-केयूर' में अरागन-लिखित एक निबंध भी है, जिसका शीर्षक है "सन् १९४० के अनुप्रास"। यह निबंध बहुत ही तथ्यपूर्ण है। इस निबंध में, निबंधकार हमें उन बहुत-से नवीन परिवर्तनों के बारे में बताता है, जिनका उसने फ्रेंच काव्य में उपयोग किया है। पहला परिवर्तन है मुक्त छंदवाली कविताओं से छंदोबद्ध कविताओं की ओर लौटना—जो उसकी समझ में, सरियलिस्ट तरीके से फ्रेंच पराजय से जुड़ी है।

"हम सन् १९४० के सम्बंध में लिख रहे हैं। मैं अपनी आवाज़ बुलंद करके यह कहता हूँ कि जब नवीन विश्व का निर्माण हो सकता है तो यह कहना कि नये छंदों का निर्माण सम्भव नहीं है, गलत है। अब तक फ्रेंच काव्य में रेडियो की अथवा नवीन भूमितिशास्त्र की भाषा का प्रयोग किसने किया है?

इसी तरह की और भी बातें हैं। इस नवीन लेखकों के दल से, सन् १९३१-३९ में ही, यह सब सुन चुके हैं (कविताओं में वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग) और आडेन (Auden) की अपूर्व प्रतिभा ने—चाहे हम सिद्धांततः सहमत हों अथवा नहीं—इसे स्वीकार करने के लिए हमें बाध्य कर दिया। अरागन ने जो भी प्रयोग किये, उनमें वह सदा उस वर्ष पीछे रहा। उसने कम्यूनिज्म का पता तब लगाया, जब मास्को में शुद्धीकरण हो रहा था और छंदों में नवीन भूमितिशास्त्र की भाषा का प्रयोग भी उसने फ्रांस की पराजय के समय किया। उसकी दूसरी खोज विराम-चिह्नों से सम्बंधित है और उसकी इस खोज के फलस्वरूप, विराम-चिह्नों के अभाव में उसके सभी वाक्य मिल कर यों हो जाते हैं, जैसे आपकी जेब में रखे चाकलेट पिघल कर एक हो जायें! उसका तीसरा अन्वेषण पारिभाषिक भाषा में "अपूर्ण प्रास" कहा जा सकता है—डान और गेटे के समय से कवियों ने बाध्य होकर अपूर्ण प्रासों का प्रयोग किया है—किंतु उन्होंने कभी अपनी कमजोरी को दर्शन का रूप देने की चेष्टा नहीं की और निश्चय ही, उन्होंने अपने विफल छंदों को लोगों के सामने पथ-प्रदर्शन के लिए नहीं रखा, जैसा अरागन करता है। अरागन दृष्टांत के लिए अपने कई नये

छंदों के उद्धरण देता है, जिन्हें पढ़ कर लोगों के सिर के बाल खड़े हो जाते हैं और वह अपनी व्यावहारिक मर्यादा का पालन करते हु[illegible] लिखता है—

"अब मैं अपने दृष्टांत नहीं दूँगा। मुझे विश्वास है कि नवीन काव्य समीकरणों के इच्छुकों को मैंने राह दिखा दी है। मुझे उनके संतुष्ट समर्थन की अभी से अपेक्षा है, जिनके द्वारा सन् १९४१ के वसंत में इसी प्रकार के काव्य की रचना होगी।....."

'ले क्रेवे-केयूर' के सम्बंध में अरागन की यह निजी व्याख्या है। जहाँ तक कविताओं का प्रश्न है—फ्रांस के लिए जो हमारा ममत्व है, उसकी पृष्ठभूमि पर आधारित—वे पढ़ने में अत्यधिक मधुर लगती हैं। सर्वप्रथम, प्रत्येक पंक्ति छंदमय है—हमारे लिए यह एक ऐसी प्रसन्नता की बात है, जिससे हम एक लम्बे अर्से से वंचित रहे हैं। दूसरे, वे फ्रांसीसी भाषा में हैं—अर्थात, किसी मिठाई के समान ही वे लोगों के मुँह में घुल जाती हैं। "गाड़ी जब स्टेशन पर खड़ी हो, तो आपको शौचालय का प्रयोग नहीं करना चाहिए" —फ्रेंच में लिखी उसकी इस पंक्ति का अर्थ सिर्फ यही होता है; किंतु सुनने में यह लयबद्ध और बड़ी सुरीली लगती है—विशेष कर अगर चार वर्षों से आपका उस महादेश से कोई सम्पर्क न रहा हो! फ्रांस के एक निराश प्रेमी के लिए पेरिस के भूमिगत स्टेशनों के नाम भी (वेविन, लेब्रट्स, चाउमाँट, रीएयूमर, सेबास्टोपाल, पोर्ते दे लिलास) उसके गृह-प्रेम की भावना को अनुप्रेरित करते हैं। पहले तो हृदय में कम्पन और खिंचाव की अनुभूति होती है, फिर फ्रेंच फ्लू का विकार आरम्भ हो जाता है। गृह-प्रेम की इन पूर्व-विचारित भावनाओं से पूर्ण एक ऐसी स्थिति के कारण—जिसमें अंग्रेज कवि अपने दृढ़ समालोचकों का सामना करता है—अरागन, सम्भवतः एक कुशल कलाकार माना जायेगा—छोटे तलैयों के बड़े मेंढकों में से एक—"जो अपने आचार-विचार, अनुकूल अफवाहों, अपनी कभी अव्यावहारिक तथा कभी उन्मत्त सी कल्पना और इसी प्रकार की अन्य बातों को लेकर (किसी अन्य के सहारे) एक दिन एक अच्छा कवि बन जा सकता है।" किंतु 'क्रेवे-केयूर' को समस्त यूरोप का "आर्तनाद" कहना—जैसा कि किया जा चुका है—यूरोप के लिए अपमानजनक और उसकी मृत महान् आत्माओं के लिए निंदनीय है।

अंत में, वरकर-लिखित 'ले साइलेंस डे ला मेर' की बारी आती है। कहा जाता है कि इसका लेखक एक प्रख्यात फ्रांसीसी लेखक है और यह उसका कल्पित नाम है। इस पुस्तक की कथा इस प्रकार है—

एक जर्मन अफसर ने एक ऐसे फ्रांसीसी घर में शरण ली, जिसमें एक वृद्ध मनुष्य अपनी भतीजी के साथ रहता है। अफसर का नाम है वर्नर वान एब्रेनाक। वह एक युवा लेखक और संगीतज्ञ है—सुन्दर, सुसंस्कृत और अत्यधिक संवेदनशील। फ्रांस से उसे प्यार है, वह फ्रांस के श्रेष्ठ साहित्य का मर्मज्ञ है, और वह फ्रांस की प्रशंसा करता है। उसे विश्वास है कि युद्ध की समाप्ति एक स्थायी शांति के रूप में होगी—जर्मनी और फ्रांस के बीच एक प्रकार के आध्यात्मिक गठबंधन के रूप में। और, यह सब होगा फ्रांस के सांस्कृतिक संरक्षण में! इसी के सम्बंध में वह बातें करता है। सन् १९४०–४१ में सारी शरत्ऋतु, बैठक में, आग की ओर पीठ किये, वह अपने धीमे, विनम्र और आमोदकारी स्वर में, उस वृद्ध पुरुष और उसकी भतीजी से बातें करता रहता है—यद्यपि वे दोनों कभी एक शब्द भी नहीं बोलते, कभी अपना मुँह नहीं खोलते। सौ से भी अधिक शरत्-कालीन संध्याएँ बीत जाती हैं और वे दोनों बहरे-गूँगों की एक निष्प्राण-सी निस्तब्धता में उसका स्वगत-भाषण सुनते रहे हैं—वृद्ध पुरुष अपना पाइप पीता रहता है, भतीजी अपनी कशीदाकारी में लगी रहती है। अंत में, वर्नर छुट्टी पर पेरिस जाता है। उसे वहाँ ज्ञात होता है कि नाजी पशु हैं (वेइमर गणतंत्र का समर्थक, सुसंस्कृत, अत्यधिक संवेदनशील आदि होने पर भी उसके दिमाग में यह बात पहले नहीं आयी थी) और इस निराशा के आवेग में, वह स्वेच्छा से, रूसी मोर्चे पर जाकर, स्वयं को मृत्यु के हाथों सौंप देना चाहता है। जब वह अपने इस निर्णय की घोषणा करता है, तो वृद्ध पुरुष की भतीजी (जो निश्चय ही, उससे प्यार करती है, जैसा वह उससे प्यार करता है) उससे प्रथम और अंतिम शब्द कहती है—"अलविदा!" पुस्तक में यह कथा वृद्ध पुरुष के मुँह से कहलवायी गयी है।

अब इस कहानी पर पहले जरा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार कीजिये। क्या आप किसी ऐसे चेतनशील मानव की कल्पना कर सकते हैं, जो लगातार सौ से भी अधिक रातें ऐसे व्यक्तियों से बातें करने में गुजार दे, जो उसकी उपेक्षा करते हैं और उसकी बातों का जवाब तक नहीं देते? अधिक से अधिक, दूसरी ही शाम को उसका धैर्य जवाब दे जायेगा और वह पागलों की तरह कुछ कर गुजरेगा—जैसे, वह वृद्ध पुरुष को कंधों से पकड़ कर झकझोर देगा अथवा किवाड़ जोरों से बंद करता हुआ अपने कमरे में चला जायेगा और फिर कभी बैठक में नहीं आयेगा। "उन सौ से अधिक रातों" में वृद्ध व्यक्ति और उसकी भतीजी ने जो रुख अपना रखा है, वह भी इसी प्रकार विचारणीय है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से पूरी कहानी कृत्रिम है; राजनैतिक दृष्टिकोण से यह और भी बुरी है। इस ज्ञानप्राप्त कुलीन मनुष्य के प्रत्येक शब्द और विचार नाजीवाद का प्रत्यक्ष विरोध करते हैं; किंतु लेखक गैर-तानाशाही शब्द से प्रत्यक्षतः घृणा करता है। वह इस विचार-मात्र से ही घृणा करता है कि राजनैतिक धारणाओं के प्रति व्यक्ति की भक्ति उसकी देशभक्ति को गौण बना दे। अतः ऐसा लगता है कि या तो वह विक्षिप्त है या स्वप्नाचारी, जिसने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के होते हुए भी न कभी हिटलर का व्याख्यान पढ़ा है, न रीस्टाग-अग्निकांड और पोलैंड पर आक्रमण के दस वर्षों की अवधि में कभी समाचारपत्र पढ़ा है। बस, तभी यह प्रतिवाद मिटाया जा सकता है, सभी सामाजिक उलझनें समाप्त की जा सकती हैं और वर्तमान युद्ध के सारे मसले सन् १८७० अथवा सन् १८१५ की शर्तों के अंतर्गत देशभक्तिपूर्ण फ्रांस-जर्मन-दृष्टांत के रूप में सीमित किये जा सकते हैं। मैं शर्त बदने को तैयार हूँ कि मि० वरकर का असली रूप जब प्रकाश में आयेगा, तब वे या तो फ्रेंच तानाशाही निकलेंगे अथवा कम-से-कम कट्टर प्रतिक्रियावादी।

सर्वाधिक उत्तेजनापूर्ण बात इस पुस्तिका में है, हीनता की भावना और उद्दंडता का सम्मिश्रण। फ्रांस का अगर कभी कोई शिष्ट, समझदार, निःस्वार्थ मित्र था, तो यह इच्छित स्वप्ननायक वान एब्रेनाक था, जो अपनी भक्ति को आत्म-बलिदान की सीमा तक ले जाता है। तब उसे मूर्खता एवं हठपूर्ण मौन के साथ क्यों दंडित किया जाये? क्या केवल इसलिए कि यह ज्ञानप्राप्त नाजी-विरोधी जर्मन माँ-बाप की संतान था? यहाँ हमें सन् १९४२ में बड़े विलक्षण ढंग से उसी मनोवृत्ति की विधिवत् पुनरावृत्ति देखने को मिलती है, जिसने फासिस्ट-विरोधी जर्मनों को फ्रांस के बंदी-शिविरों में भेज दिया। मि० वरकर की जानकारी निष्कासित तथा संघर्षशील फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों की तरह ही बहुत थोड़ी है। यह आवश्यक नहीं है कि पीड़ा सहन करने का परिणाम सुधारात्मक ही हो, मनोवैज्ञानिक आघात प्रत्यक्ष विरोधी परिणाम भी उत्पन्न कर सकते हैं। और यही समय है कि फ्रांस की महान् सांस्कृतिक परम्परा के प्रशंसक वास्तविक शहीदों के प्रभामंडल और अपने वैचारिक दृष्टिकोण के भ्रम के बीच के अंतर को पहचानना सीखें।

दूसरे व्यक्ति, जो फ्रांस के नाम पर अधिकारपूर्वक बोल सकते हैं, वे मौन हैं। वे जानते हैं, जैसी कि एक चीनी कहावत भी है कि मछली मारने का एक अलग समय है और जाल सुखाने का अलग। किंतु साहित्य के क्षेत्र में काला

बाजार है, जहाँ मानवीय त्याग, संघर्ष और नैराश्य का सौदा होता है और उसकी भावना बहक जाती है। यह साहित्यिक दिवालियापन हमें उसी प्रकार फ्रांस के सर्वसाधारण के यथार्थ रूप का परिचय देता है, जैसे हालीवुड यूरोप के गुप्त आंदोलन का! फ्रांस के लिए यह तनिक भी हितकर नहीं है और यह बड़े भयंकर रूप में लोगों का ध्यान उन यथार्थ समस्याओं की ओर से—जिनका हमें सामना करना पड़ेगा—हटा कर, उन्हें पथभ्रष्ट कर देता है।

उपन्यासकार के प्रलोभन*

१

महान् रूसियों में से कोई एक—सम्भवतः तुर्गनेव (Turgenev) तभी लिख सकता था, जब वह अपनी मेज के नीचे गर्म पानी से भरी बाल्टी में अपने पैर डाल लेता था और उसके सामनेवाली खिड़की खुली रहती थी। मेरा विश्वास है कि उपन्यासकार के लिए ऐसी स्थिति विशिष्टतापूर्ण है। गर्म पानी से भरी बाल्टी, उसकी प्रेरणा, उसकी अंतश्चेतना, रचनात्मक शक्ति—अथवा आप जो भी कहना चाहें—के लिए है; और खुली खिड़की उसके सामने बाह्य संसार को उपस्थित करती है, जो कलाकार की रचना के लिए उपकरण-स्वरूप है।

गर्म पानी से भरी बाल्टी को हम कुछ देर के लिए भूल जायें और यह मान लें कि हमारा उपन्यासकार सर्जन-शक्ति से सम्पन्न एक वास्तविक कलाकार है। अब हम उस खुली खिड़की पर अपने विचार केंद्रित करें और यह देखें कि अपनी मेज के पीछे बैठे उस व्यक्ति पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है!

प्रथम और सर्वाधिक सशक्त सम्मोह लेखक के मन में पैदा होता है, खिड़की बंद करने और पर्दों को खींच देने का। स्पष्ट ही, इस साधारण प्रतिक्रिया के बहुत-से दिलचस्प पहलू हैं। शायद सर्वाधिक खतरनाक यही है कि लेखक की यह चेष्टा बहुत स्वाभाविक प्रतीत होती है। लेखक को एकाग्रता की जरूरत होती है; वह तुरंत ही धैर्य खो देता है। उसे निश्चित रूप से इसके लिए अमित और चिर-नवीन प्रयास करना चाहिए कि खुली खिड़की हो और उसके जरिये कमरे में सुनायी देनेवाले हृदयवेधी चीत्कार, हास्य, विलाप तथा युद्ध में आहत होनेवालों की चीख-पुकार को वह सह सके।

खिड़की बंद करने के सम्मोह का दूसरा पहलू यह है कि सम्मोह के परम्परागत रूप से यह बिलकुल नहीं मिलता है, बल्कि इसका रूप उसके विपरीत

---

* सन् १९४९ के सितम्बर माह में, पी. ई. एन. क्लब में हुई अंतर्राष्ट्रीय कॉंग्रेस में दिया गया वक्तव्य।

है। उसके मन में सम्मोह पैदा करनेवाला, नश्वर अभिलाषाओं के लिए नहीं, बल्कि आत्मा के उन्नत क्षेत्रों को अपनाने के लिए कहता है। उसकी अभिलाषाएँ हैं—शांति, सौंदर्य और शायद परमात्मा के साथ एकात्मता भी। दुरात्मा आपसे आपकी आत्मा माँगता नहीं। वह चाहता है, आप स्वयं उसे उपहार में दे दें। वह कानों में फुसफुसाता है–"खिड़की बंद करो। विश्व बहुत बुरा है। यहाँ कुछ करना बुरा है। उत्तरदायित्व बुरा है। पर्दे खींचो, युद्ध में आहत होनेवालों की वह चीख-पुकार भूल जाओ, अपने कान बंद कर लो और अमरता के मंद प्रकाश पर दृष्टि डालो।"

बंद खिड़कियों के पीछे अद्भुत और कभी-कभी सुंदर रचनाओं का निर्माण रहता है, शीशे के मकान का विकास होता है—कथानक और चरित्र उस शीशे के मकान में पनपते हैं। 'श्वेत मीनार' तो बंद खिड़की के भीतरी हिस्से का केवल एक अंतिम रूप था। इसके अलावा और भी रूप हैं; क्योंकि पर्दे गिरा कर कमरे की सजावट, विस्मयजनक ढंग से, समय के फैशन के अनुसार होती है, यद्यपि फैशन और समय स्वयं ही अवकुंठित-से माने जाते हैं। 'श्वेत मीनार' एक कलाकार का निर्माण था—दूसरे नैतिक सिद्धांतों पर निर्मित हैं। उनके निवासी दूसरे के संकट के समय आनंद नहीं मनाते, ईश्वर-प्रार्थना करते हैं। गिरे हुए पर्देवाला कमरा गिरजाघर के भीतरी हिस्से में परिवर्तित हो सकता है, जहाँ कि दाढ़ीवाला रूसी उपन्यासकार अपने क्रांतिकारी अतीत के लिए प्रायश्चित-स्तोत्र गाता है। यह कमरा एक प्रकार के आत्मदर्शी गहरे सागरस्थ मत्स्यालय में बदल सकता है, जहाँ स्वतः आगत प्रकाश में दानव निवास करते हैं अथवा मोपासाँ और गेरार्ड डे नर्वल की गहेदार कोठरी में भी बदल सकता है। अंतिम रूपांतर योगी के अभ्यास के लिए उपयुक्त विदेशी आश्रम-सा प्रतीत होता है। प्रायः ऐसा मालूम होता है कि अधिकारी के युग के बाद योगी का युग आनेवाला था। इतना तो हुआ प्रलोभन नं. १ के सम्बंध में।

प्रलोभन नं. २ में उपन्यासकार खुली खिड़की को दबाव के रूप में नहीं, बल्कि आकर्षण के रूप में अनुभव करता है। मेज के पीछे बैठे व्यक्ति के मन में खिड़की बंद करने का नहीं, बल्कि खिड़की से बाहर झाँकने का प्रलोभन उत्पन्न होता है। सड़क पर की घटनाओं से वह इतना विमुग्ध हो जाता है कि वह हाव-भाव दिखलाने लगता है, चीखता है और बनावटी बातें करने लगता है। पहले हमारे सामने सम्पूर्ण रचनात्मक शक्ति का दृष्टांत था;

किंतु यथार्थता का आभास नहीं मिलता था। अब हमारे सामने, बौखलायी दृष्टि का दृष्टांत है, जिसका रचनात्मक प्रक्रिया-द्वारा शमन नहीं किया जा सक है। खिड़की पर अधिक झुक कर बाहर झाँकने के लिए हमारे लेखक ने गर्म पानी से भरी बाल्टी से अपना पैर निकाल लिया है; सच्चे अर्थ में, वह उपन्यास-कार न रह कर रिपोर्टर बन जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकारी-युग के बहुत-से गद्य-लेखकों की असफलता का यही कारण था। यह एक ऐसा काल था, जिसमें उपन्यास, वर्ग-संघर्ष के मोर्चों के युद्ध से सम्वाददाताओं-द्वारा भेजी जानेवाली रिपोर्ट की तरह लिखे जाते थे। पात्र नीरस, द्विपक्षीय और अस्वाभा-विक पृष्ठभूमि में, अपने ही अस्तित्व के विरुद्ध संघर्ष करते प्रतीत होते थे। अधिकारी-युगवाले उपन्यास के लोगों में वर्ग-पक्ष (लम्बाई) और यौन-पक्ष (चौड़ाई) था; किन्तु तीसरा, विवेकहीन पक्ष (गहराई) नहीं था, अथवा नहीं के बराबर था।

अधिकारी-युग के बाद अथवा योगी के युग में, विवेकहीन पक्ष ने अपने सभी प्रतिपक्षियों से प्रतिशोध लिया। जिन कुछ लेखकों ने, अधिकारी युग को जीवित रखा है, वे युद्ध के घमासान में भी, विवेकहीन पक्ष को कभी नहीं भूले—
—उदाहरणार्थ, साइलोन (Silone) और माल्रौक्स (Malraux); किन्तु वे अपवाद हैं।

स्पष्टतः खिड़की खुली रखने के साथ-साथ गर्म पानी से भरी बाल्टी में पाँव रखे रहना अत्यंत कठिन है। अतः अतीत और वर्तमान के अधिकांश उपन्यासकारों ने एक समझौता किया है और इस समझौते का सार ही प्रलोभन नं. ३ है।

इसमें खिड़की न तो पूर्णरूपेण खुली है, न पूर्णरूपेण बंद। और, पर्दे भी इस तरह खींचे गये हैं कि अधिक दुःखद और अशांतपूर्ण दृश्य लेखक की नजरों की ओट हो गये हैं और बाहरी दुनिया का एक सीमित भाग ही दिखायी देता है। वह पर्दे के एक छिद्र में दूरवीक्षण यंत्र लगा कर विश्व के एक छोटे और शायद बहुत कम महत्त्वपूर्ण खंड की परिधि रेखा की छाया देख सकता है। ऐसी स्थिति में उच्च कोटि की रचनाओं का सृजन इसके बावजूद भी हो सकता है कि वे केवल बाहर के दृष्ट विषय के खंडों को ही लेकर लिखी गयी हैं। उनमें वासना-विहीन प्रेम, स्वेद-विहीन कार्य, ईर्ष्या-विहीन वर्ग-विभेद और कोष्ठबद्धताविहीन खिन्नता होगी। दूरवीक्षण यंत्र दूसरी दिशा में भी घुमाया जा सकता है अथवा दाहिनी खिड़की के बदले बायीं खिड़की खोली जा सकती है—और तब हमें मिलता है प्रेमविहीन वासना और कोष्ठबद्धता, घृणा

तथा स्वेदकण, जिनका छोटा रूप भी बहुत बड़ा दिखाई देता है। इस अपूर्ण इष्ट विषय को लेकर भी प्रशंसनीय रचनाओं का निर्माण हुआ है। फिर इस इतने सफल तरीके को "प्रलोभन के वशीभूत" की संज्ञा क्यों दी जाये और खिड़की पूरे तौर से खुली रखने के लिए आग्रह क्यों? क्योंकि पर्दे में छिद्रवाले तरीके से, कभी-कभी, सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से बहुत ही सुंदर रचनाएँ लिखी जा सकती हैं—विक्टोरिया-काल के उपन्यास अथवा यथार्थवादी उपन्यास के समान, किंतु कला के रूप में उपन्यास के विकास-क्षेत्र को अंततः यह समाप्ति की ओर ले जाता है। डिकेंस अथवा ज़ोला के प्रति जो हमारी प्रशंसा होती है, उसमें सदा शुभेच्छापूर्ण अनुग्रह का हल्का-सा पुट रहता है।

२

निश्चय ही, 'प्रलोभन' शब्द से पहले ही किसी मार्ग के अस्तित्व का अनुमान लगा लिया जाता है, जो किसी लक्ष्य तक पहुँचा दे—पूर्णता की ओर ले जाने वाला मार्ग, जिससे गुमराह करने के लिए सम्मोहक हमें लुभाने की चेष्टा करता है, यह आवश्यक नहीं हैं कि आत्मसमर्पण का अर्थ कला की असफलता हो; किंतु मेरा विश्वास है कि 'यूलेंसपीगेल' (Eulenspiegel) और 'डान क्विक्सोट' (Don Quixote) से लेकर 'वार ऐंड पीस' (War and Peace) 'द मैजिक माउंटेन' (The Magic Mountain) और 'फान्टेमारा' (Fontamara), तक एक ही मुख्य मार्ग है। और, मेरा यह भी विश्वास है कि 'ट्रिस्ट्राम शैंडी' (Tristram Shandy), 'विदरिंग हाइट्स' (Wuthering Heights), 'स्वान्स वे' (Swan's Way) और 'द वेव्ज' (The Waves) अपनी परम परिणति में सर्वोत्कृष्ट हैं।

इस प्रत्यक्ष निरंकुश विशिष्टता का औचित्य सिद्ध करने के लिए हम अपनी खिड़की तक लौट चलें और अपने पराजित लेखक को काम करते हुए देखें। उसके कमरे के पर्दे गिरे हैं; किंतु उसने एक छोटा-सा गोल छिद्र उसमें बना लिया है। उस छिद्र से एक दूरवीक्षण यंत्र लगा हुआ है। यंत्र से एक मकान और बगीचा दिखायी देता है। एक लड़की अपने हाथों में गुलाबों का गुच्छा लिये अपने मंगेतर की प्रतीक्षा कर रही है। ग्राम्य पुस्तकालयों में उपलब्ध पुस्तकों में वर्णित स्वप्न-नायिका के समान ही वह लड़की हो, यह कोई आवश्यक नहीं। वह एक सुसभ्य युवती हो सकती है, जिसके बायें हाथ में

'प्राउस्ट' की एक प्रति हो सकती है। "क्या वह सुंदर नहीं है!" हमारा लेखक पूछता है। सम्भव है, वह बहुत अच्छा लेखक हो और 'बुक सोसाइटी' ने उसकी प्रशंसा की हो। "क्या वह सजीवता की प्रतिमूर्ति नहीं है?" लेखक कहता है—"उसका नाम सिल्विया है!" और निश्चय ही, हमें स्वीकार करना होगा कि पर्दे में छिद्रवाले तरीके की देन होने पर भी मकान, बगीचा, युवती और गुलाब के फूलों का चित्रण पूर्ण सजीव है! इस प्रशंसा-भरी दृष्टि से लगभग पचीस पृष्ठों तक मौन निहारते रहते हैं और तब अचानक अपने इस प्रश्न से लेखक को भयभीत कर देते हैं—"क्षमा करेंगे; किंतु क्या आप, पृष्ठभूमि के कारखाने की चिमनी, अणु-विभंजन, वोरोनाफ (Voronoff) के बंदरों और बंदी-शिविरों का चित्रण करना नहीं भूल गये हैं?" "क्या आप पागल हैं?"—हमारा लेखक कड़े स्वर में जवाब देता है—"क्या आप चाहते हैं कि मैं अपने उपन्यास में एक जर्मन शरणार्थी का चित्रण करूँ, जिसकी पीठ पर दाग हैं?"

निश्चय ही, हमारा जवाब है—"नहीं!" हम नहीं चाहते हैं कि वह जबरन किसी चीज का चित्रण करे, पृष्ठभूमि के रूप में कारखाने की चिमनी का भी नहीं; उससे कुछ नहीं होगा। किंतु हमारे मस्तिष्कों में एक विकल्प है, जो जानना चाहता है कि सिल्विया एक कठपुतली के रूप में चित्रित की जा रही है, या एक जीती-जागती युवती के रूप में उसका चित्रण हुआ है, जो इसी सदी की निवासिनी है? विकल्प है : या तो वह बंदी-शिविरों के बारे में जानती है और फिर भी हाथ में गुलाब के फूल लिये वहाँ खड़ी रहती है और तब यह उसके चरित्र को महत्त्वपूर्ण बना देता है—उसका यह रूप अपमानजनक है, ऐसी बात नहीं, बल्कि यह महत्त्वपूर्ण है। अथवा उसने उन शिविरों के विषय में न कभी सुना है, न पढ़ा है और तब इससे पुनः हमें एक संकेत मिलता है। और, ये संकेत आवश्यक हैं; क्योंकि उसके समय के आवश्यक तथ्यों से उसके सम्बंध अथवा उसके सम्बंध के अभाव का हमें इनसे पता लगता है। किंतु पर्दे के उस छोटे-से छिद्र-द्वारा लेखक ने इन आवश्यक तथ्यों को ढँक रखा है। वह हम लोगों को उसे अपने सही रूप में कैसे दिखा सकता है? उस चित्रण में नहीं, बल्कि लेखक के मस्तिष्क में ही हम कारखाने की चिमनी का अभाव पाते हैं।

पृष्ठभूमि का अभाव (चित्रण में नहीं, बल्कि लेखक के मस्तिष्क में) मकान, बगीचा, और गुलाब लिये सिल्विया को अधूरे और नकली रूप में चित्रित करता है। खिड़की के पर्दानशीन हिस्सों के पीछे क्या हो रहा है, इससे लेखक की अनभिज्ञता ही उसके चित्रण को, उसकी चौड़ाई और गहराई, उसके

स्वरूप और अनुपात, से वंचित कर देती है और मुझे ऐसा अनुभव होता है कि बगीचे में प्रतीक्षा करती इस युवती को हम जितनी अधिक देर तक देखते हैं, उतनी ही अधिक वह मोम की पुतली के समान प्रतीत होती है।

सर्वांगसुंदर उपन्यास तब, निश्चय ही, पूर्णरूपेण खुली खिड़की की अपेक्षा करता है और यह भी कि लेखक को, अपने काल के आवश्यक प्रवाह और तथ्यों (आँकड़े भी) विचारों और सिद्धांतों (भौतिक विज्ञान भी) का उपयुक्त ज्ञान रहना चाहिए। यह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रयोग के लिए नहीं है, क्योंकि तब जो वह सीखेगा वह उपन्यास नहीं, ज्ञानकोष (Encyclopedia) होगा। यह ज्ञान अप्रत्यक्ष प्रयोग के लिए है। जिस प्रकार रचनात्मक समीकरण की प्रकिया में सिल्विया योगदान करती है, उसी प्रकार इसे योगवाहक के रूप में कार्य करना है। इसके बिना, विक्टोरिया-काल के कथानक के समान, कथानक मनमाना और उसके पात्र विकृत होंगे। निर्माण का कार्य सर्वज्ञान की अपेक्षा करता है।

३

किंतु क्या यह सब अव्यावहारिक नहीं है? सैकड़ों उपन्यासों में, जिनमें कुछ अच्छे उपन्यास भी शामिल हैं, युवती अपने फैले हुए हाथों में गुलाब लिये, विजय-गर्व के साथ अपने बगीचे में स्थिर खड़ी रहती है। उसके प्रति हमारी आपत्ति तो इतनी ही थी कि लेखक ने उसके दृष्ट वातावरण, अणु-विभंजन और आग की लपटों के विश्व में उसका चित्रण नहीं किया था, अथवा नहीं करना चाहता था। किंतु क्या हुआ, अगर ये संकीर्ण वातावरण, जो उसके चरित्र को स्वरूप प्रदान करते हैं, यथार्थ में, उन अप्रिय घटनाओं से, जिन्हें हम हठपूर्वक सारभूत की संज्ञा देते हैं, सम्बंधित नहीं हैं। क्या वास्तविक जगत् में ऐसी लाखों सिल्विया नहीं हैं, जो अपने समय की समस्याओं और इन आग की लपटों से अछूती हैं? और, क्या उन लोगों के सम्बंध में अच्छी पुस्तकें लिखना सम्भव नहीं है?

आइये, हम एक ऐसे मनुष्य की कल्पना करें, जो शेष विश्व से सम्बंध-विच्छिन्न एक टापू में रहता है और उसे शेष विश्व की कोई जानकारी नहीं है। अवश्य ही, उसका 'वास्तविक' चरित्र उसके निकट के वातावरण से प्रभावित है। फिर भी, उपन्यास के पात्र के रूप में उसके सम्बंध में सबसे दिलचस्प बात होगी, उस समय के परमावश्यक तथ्यों के विषय में उसकी अबोधता—पृष्ठभूमि से उसका (नकारात्मक) सम्बंध। हम उसे विशिष्ट उपन्यास-पात्र

के रूप में देखते हैं : अर्थात् "वह अपने सम्बंध में जितना जानता है, उससे अधिक हम उसके सम्बंध में जानते हैं।" हमने अपनी दृष्टि में, शहरों, पर्वतों और नदियों की, जिनसे वह अनजान है, पृष्ठभूमि को शामिल कर लिया है और इन शहरों, नदियों तथा पर्वतों के अनुपात में उसे देख कर ही सिर्फ, हम उसे औपन्यासिक जीवन प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में, उसका औपन्यासिक चरित्र, उसके टापू के संकीर्ण वातावरण से, जिसकी छाप उसके वास्तविक जीवन पर है, प्रभावित नहीं है, बल्कि उसके औपन्यासिक चरित्र पर सुदूर के वातावरण का, जिससे उसका तनिक सम्बंध नहीं है, प्रभाव है। अगर मैं इस सुदूर के वातावरण को अपने दिमाग से निकाल दूँ, तो वह अपने वास्तविक जीवन में तो फिर भी जीवित रहेगा, किंतु उपन्यास के लिए मर चुका होगा। क्या बंदी-शिविर, कारखाने की चिमनियाँ और आग लगानेवाले, नदियों और पर्वतों से कम यथार्थ अथवा महत्त्वपूर्ण हैं?

औपन्यासिक स्वरूप का नियम कहता है कि लेखक के लिए "यथार्थ जीवन" का चित्रण करना-भर ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि समन्वय-प्रणाली में उसे इसका ज्यामितीय स्थान भी अवश्य निर्धारित कर देना चाहिए। इस समन्वय-प्रणाली के प्रधान आशय का प्रतिनिधित्व उसके समय के प्रभावकारी तथ्य, विचार और प्रवृत्तियाँ करती हैं। एन (N)-विस्तार और दिक्काल की घटनाओं में भी उसे उसे इसका स्थान अवश्य निश्चित कर देना चाहिए। वास्तविक सिल्विया स्वरूप-निर्माणकारी तत्त्वों के संकीर्ण पारिवारिक भँवर के केंद्र के चारों ओर चक्कर काटती है, जबकि लेखक उसके औपन्यासिक जीवन का चित्रण करने के लिए, उसके समय की। भीषण व्यापारिक हवाएँ, भयंकर आँधी-चक्रवात और न्यूनताओं से उत्पन्न भँवर के बीच उसे ला पटकता है। निश्चय ही, उसके लिए, इनका वर्णन करना अथवा उल्लेख करना भी आवश्यक नहीं है। किन्तु निस्संदेह वहाँ इनका अस्तित्व होना चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि सिर्फ इसी मार्ग का अनुसरण करके लेखक, स्वयं को गलत और अवरुद्ध रास्तों से बचाते हुए, सही मार्ग पर आगे बढ़ सकता है। उसकी दृष्टि की चौड़ाई-गहराई के प्रत्यक्ष अनुपात में ही उसकी महानता है। उसका विषय अगर एक युवती और बगीचा है, तब भी उसके कमरे की खिड़की में सभी ग्राह्य दृश्यों का समावेश होना जरूरी है। भले ही उसका ध्यान किसी एक बाजे की ध्वनि पर केंद्रित हो; फिर भी उसके कानों को सभी वाद्यों की ध्वनि-समता और विषमता के प्रति सजग होना चाहिए। "वातावरण

में जहाँ कहीं आशा है, वह उसकी ओर आकर्षित होगा और जहाँ पीड़ा है, उसे उसका अनुभव होगा।" (सी. डे लेविस)

४

हम लोगों का समकालीन होने से, उसे मुख्यतः पीड़ा का अनुभव होगा। अन्य कालों में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि राजनीति की ओर ध्यान देना कलाकार के लिए एक प्रलोभन है। किन्तु आज के समय में, राजनीति की ओर न ध्यान देना ही प्रलोभन है।

उसकी मान्यताएँ जो भी हों, उसके किसी विचार के लिए—राजनैतिक, दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक—उपन्यास का रूप और अस्तित्व सिर्फ तभी सम्भव है, जब उपन्यास के चरित्रों से उसकी समता हो। एक यथार्थ उपन्यास में, वर्णन और रिपोर्टों की तरह कोई चीज नहीं होती, उसमें मुख्य घटना पात्र के मस्तिष्क में घटती है। इस प्रकार, एक दुहरी पाचन-क्रिया के पश्चात् ही, तथ्य और विचार, दोनों व्यक्त होते हैं।

यह एक अद्‌भुत—कभी-कभी कष्टजनक—प्रक्रिया है। जब मैं उपन्यासकार-वर्ग के बारे में सोचता हूँ, तब मुझे सदैव आस्ट्रेलिया की श्वेत चींटी के कुछ अद्‌भुत आचरणों का स्मरण हो आता है। इस जाति की साधारण चींटियाँ अपने पाचन-यंत्र की न्यूनता के कारण, अपनी पहुँच के भोजन से भी लाभान्वित होने के योग्य नहीं होतीं। वे सभी भूख से तड़प कर मर जाती हैं, लेकिन कुछ विशिष्ट प्रकार की मजदूर चींटियाँ भोजन बटोरती हैं, उन्हें छाँटती हैं, खाती हैं और सुपाच्य बनाती हैं और अपने पेट की चीजें सभी को खिलाती है—रानी चींटी, मजदूर चींटियाँ और परदार वयस्क चींटियों को। कुछ जातियों में मजदूर-चींटियाँ कभी अपना अड्डा नहीं छोड़ती; वे दीवट की अंधेरी सुरंगों और गुफाओं में अपना सिर डाल कर भोजन की तलाश करती हैं और संगृहीत करने के अन्य स्थानों के अभाव में, स्वयं सजीव कुंड और मधु-पात्र बन जाती हैं। उनके फूले और लचीले पेट में फसल जमा रहती है और दूसरों को जब भूख लगती है, तो वे उसमें से निकाल कर उन्हें खाने को देती हैं।

हमारे अंधेरे निवासस्थान में झाँकते हुए, कड़वी और विषैली फसल के सुपाच्य उत्पादन से सैनिकों और स्वस्थ युवाओं को खिलानेवाला आज का कलाकार कुविचारों की ओर प्रवृत्त है। कई बार वह ऐसा महसूस करता है कि

सिर्फ वही एक व्यक्ति है, जो अभी भी मलिनावस्था में पड़े प्राणियों से घिरा है। अतः ऐसे विश्व में, जहाँ कोई स्वस्थ नहीं है, उसकी प्रेरणा और उसका कर्तव्य "अस्वीकार करना" ही है।

यथार्थ में, जितने प्रलोभनों का हमने उल्लेख किया है, उन सबका एक सामान्य नाम है—स्वीकार करने का सम्मोह। खिड़की बन्द करने का अर्थ है, बाहर के पागलपन को असाध्य मान लेना—उत्तरदायित्व से बचना। खिड़की को आधी खुली छोड़ने और ज्यादा दुःखद दृश्यों को छिपाने का अर्थ है संतोषपूर्ण मान्यता। आत्मसंतोष भी एक निष्क्रिय दुष्कर्म है और इस अर्थ में, कला जाने-अनजाने एक प्रकार है, किंतु केवल इसी अर्थ में जान-बूझकर-किये जानेवाले प्रचार का अर्थ है, कलाकार का त्याग और यह पलायन का सिर्फ दूसरा रूप है—नौसिखुआपन के सुखद क्षेत्र में पलायन, जहाँ सभी समस्याएँ और कठिनाइयाँ आसानी से हल हो जाती हैं।

कलाकार कोई नेता नहीं है; उसका उद्देश्य सुलझाना नहीं, बल्कि व्याख्या करना है; उपदेश देना नहीं, बल्कि व्यक्त करना है। "दूसरों के साथ अपने संघर्ष को हम कर्कश स्वरूप प्रदान करते हैं, जब कि अपने स्वयं के संघर्ष को कविता का नाम देते हैं—" यीट्स (Yeats) ने कहा था। व्याधि-मुक्त करने, शिक्षा देने और उपदेश देने का कार्य उसे अवश्य ही, दूसरों के लिए छोड़ देना चाहिए; किंतु उन विशेष उपायों-द्वारा, जो उन्हें अप्राप्य हैं, वह सत्य को अनावरित करता है और व्याधि-मुक्त करने के लिए भावपूर्ण प्रेरणा की सृष्टि करता है।

इस प्रकार, लेखक को एक निश्चित सामाजिक उत्तरदायित्व और कार्य को पूरा करना है। लेखक जब उपन्यास लिखता रहता है, तब यात्रा पर निकले किसी जहाज के कप्तान से वह भिन्न नहीं है, जिसकी जेब में मुहरबंद लिफाफे में आवश्यक आदेश रखे होते हैं। किंतु जब समुद्र में जाकर वह लिफाफा खोलता है, तो उसे ज्ञात होता है कि आदेश अदृश्य स्याही में लिखा है। उसे पढ़ने में असमर्थ होने पर भी, वह अपने कर्तव्य के प्रति निरंतर सजग है; क्योंकि वह एक सामान्य जहाज का नहीं, युद्धपोत का कप्तान है। उसकी जेब के अस्पष्ट तथापि आवश्यक आदेश उसे अपने उत्तरदायित्व के प्रति सचेत कर देते हैं। यही लेखक के उद्देश्य की महानता है—यही उसकी स्थिति है।

पाठक की उलझन*

प्रिय कारपोरल (फौज का एक छोटा अफसर) जेफ!

मुझे तुम्हारा संकट-सूचक पत्र मिला और मैं यथाशक्ति तुम्हारी समस्या को सुलझाने का प्रयास करूँगा। तुम लिखते हो—"मेरी उम्र २२ वर्ष की है। सेना में भरती होने से पूर्व रेडियो-कारीगर था। अब यहाँ कभी कभी पढ़ने के लिए कुछ पुस्तकें खरीदने की इच्छा होती है। आपको पत्र लिख कर मैं यही पूछना चाहता हूँ कि इसके लिए किन पत्रिकाओं का समालोचना-स्तम्भ मेरे लिए मार्ग-दर्शक बन सकता है? मै हर महीने केवल एक पुस्तक खरीद सकता हूँ और उसके लिए प्रति सप्ताह दो शिलिंग अलग बचा कर रखता हूँ। मैं 'न्यूज क्रानिकल' पढ़ता हूँ, कभी-कभी 'ट्रिब्यून' और 'न्यू स्टेट्समैन' भी पढ़ने को मिल जाता है। किन्तु अधिकांश समालोचनाएँ मेरी समझ में नहीं आतीं। हमारी छावनी में दूसरा कोई पुस्तकों का शौकीन नहीं है। .....हमारी छावनी भी बिल्कुल एकांत में है।"

लोग संभवतः सोचेंगे कि तुम्हारे पत्र को संकट-सूचक कहना अतिशयोक्ति है; किन्तु मेरे विचार से बात ऐसी नहीं है। क्योंकि तुम्हारे पत्र में जो सैद्धान्तिक प्रश्न है, उससे मेरा सम्बन्ध आंशिक रूप से ही है; और तुम्हारी इन पंक्तियों के बीच जिस द्रवित कर देनेवाली प्रार्थना का आभास है, मुख्यतः मेरा सम्बन्ध उसी से है। विगत तीन वर्षों में मैं फौज में लेक्चरर था, अतः तुम्हारी स्थिति के और तुम्हारे वर्ग के सैकड़ों व्यक्ति मुझसे मिले हैं। गम्भीर प्रकृति और विश्वसनीय होने के कारण तुम वायु-सेना के अतिरिक्त सेना के किसी भी विभाग में जल्दी तरक्की कर सकते हो। दो पट्टियाँ शीघ्र ही तुम्हारी वर्दी पर सुशोभित हो सकती हैं। तीसरी पट्टी मिलने की नौबत शायद ही आये। जब मैं तुम्हारा पत्र पढ़ रहा था, तुम अपनी पूरी आकृति में मेरे सामने उभरने लगे, यद्यपि मैंने तुम्हें कभी देखा भी नहीं है। मेरी आँखों के सामने एक दृश्य आ खड़ा हुआ, जिसमें तुम शनिवार को दोपहर में छुट्टी के समय वाई. एम. सी. ए. के पुस्तकालय में अथवा डब्ल्यू. एच. स्मिथ की पुस्तकों

* प्रथम बार 'ट्रिब्यून' (लन्दन) अप्रैल, १९४४ में प्रकाशित।

की दूकान की लड़की से 'पेंगुइन सीरीज' की कोई पुस्तक माँग रहे हो, जो प्राप्य नहीं है। तुम अस्पष्ट रूप से 'कामनवेल्थ' और 'फेडरल यूनियन' के प्रति आकर्षित मालूम होते हो—जब कि मजदूर दल का नाम तुम्हें किसी पुरानी शराब के समान लगता है। तुम डायरी रखते हो; पर नियमित रूप से उसमें नहीं लिखते और 'ट्रिब्यून' अथवा 'न्यू राइटिंग' के लिए सैनिक जीवन पर कोई छोटी कहानी लिखने की योजना भी बनाते हो। सैनिकों के क्लास में तुम 'कर्जन पंक्ति' और 'जर्मनों की पुनःशिक्षा' के सम्बन्ध में सावधानी से तैयार किये गये प्रश्न भी पूछते हो। कुछ वर्ष पूर्व तुम 'वामपंथी पुस्तक-क्लब' के सदस्य भी थे; किन्तु अधिकतर पुस्तकें तुम्हारे लिए उसी पुरानी शराब की तरह होने से अथवा स्तालिन-हिटलर-समझौते के कारण तुमने क्लब छोड़ दिया। नृत्य समारोह में तुम किसी गम्भीर लड़की को पसन्द करते हो, जो बहुधा निर्बल और कृश-काय रहती है; पर अपनी अन्य खूबसूरत बहनों से अधिक सच्चरित्र है। शाम की कक्षाओं, रात्रि-अध्ययन और फ्रांस में एक सप्ताह रह सकने के लिए रुपये बचाने की योजना में तुम अपना भविष्य देखते हो। तुम धनिकों से ईर्ष्या नहीं करते, परन्तु तुम्हें दारिद्र्य से तीव्र घृणा है। तुम्हारी दृष्टि में 'वर्ग-संघर्ष' एक अव्यावहारिक शब्द है; लेकिन 'रुकावटें' तुम्हारे लिए अद्भुत आकर्षण रखती हैं, जिनके साथ पेरिस और पिछली सदी की कल्पना भी जुड़ी है। तुम्हारे समस्त विचारों और भावनाएँ तुम्हारी अत्यधिक निराशाओं की प्रतीक हैं। किन्तु तुम्हारी व्यक्तिगत समस्या पर हम बाद में विचार करेंगे।

पहले तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देता हूँ। उसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि कथा-कहानियों के लिए 'हेराल्ड' में बेजेमन (Betjeman) के लेख पढ़ो और गहन विषयों के लिए 'आब्ज़र्वर' का वह पृष्ठ पढ़ो, जिसमें पुस्तकों की समीक्षा रहती है। विस्तृत जानकारी के लिए तुम 'लिसनर' खरीदा करो। इन पत्रिकाओं के लेखकों के मत सदैव ठीक ही हों, सो बात नहीं, परन्तु सामान्यतः वे जो लिखते हैं, वे मौलिक एवं विचारपूर्ण होते हैं तथा वे विषय से दूर भी नहीं भटकते।

अब तुम्हारे प्रश्न का विस्तृत उत्तर देता हूँ। सर्वप्रथम मुझे यह कह देना चाहिए कि इस देश के आलोचकों का स्तर दूसरे देशों की तुलना में बहुत बुरा नहीं है। रूस में प्रायः सरकारी प्रवक्ता की ओर से ही साहित्य-सम्बन्धी मत प्रदर्शित किया जाता है। वहाँ की साहित्यिक चर्चाओं में प्रतिक्रान्ति की भूलों का ही पुट रहता है। रूस में जब गिडे का दौर चल रहा था, उस समय

उसकी कटु आलोचना करने का अर्थ था—रूस के अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक सम्बन्ध को तोड़ना और जब गिडे रूस का विरोधी बन गया, तब उसके साहित्य की प्रशंसा करने का अर्थ था—लेखक या सम्पादक की आत्महत्या। मास्को के एक महान् साहित्य-संयोजक (जे. आर. बेचर) ने मुझसे एक बार कहा था—"जो लेखक हमें अपने लिए उपयोगी जान पड़ते हैं, हम उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि करते हैं और जो हमारे लिए हानिकारक प्रतीत होते हैं, उनका हम विनाश कर देते हैं। कलात्मक धारणाएँ तो क्षुद्र बुर्जुआ वर्ग के पक्षपात के समान हैं।"

जर्मनी के बारे में कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। वहाँ तो रूस से भी बुरी दशा है। साहित्य की आलोचना भी जाति और दल के दृष्टिकोण से की जाती है। इसलिए कई भले लेखकों की पुस्तकों पर प्रतिबन्ध है, यथा हेन (Heine) की पुस्तकों पर यहूदी होने के कारण, थामस मैन (Thomas Mann) की पुस्तकों पर उदारमतवादी होने के कारण, सायलोन (Silone) की पुस्तकों पर समाजवादी होने के कारण—चाहे उनकी साहित्यिक योग्यता कुछ भी क्यों न हो।

फ्रान्स के समाचार-पत्रों ने पुस्तक-समालोचना को अधिक महत्त्व नहीं दिया। इंग्लैण्ड के पत्रों में पुस्तक-समालोचना के लिए काफी स्थान और ध्यान दिया गया है। पहले साहित्यिक जगत् में भी राजनीति का हस्तक्षेप और भ्रष्टाचार का आधिपत्य था। वार्षिक पारितोषिक दलबन्दी के अनुसार बाँटे जाते थे। वहाँ पुस्तकों की व्यापक बिक्री का प्रमुख साधन है—प्रकाशकों के साहसी प्रयत्न। इन प्रयासों में कभी-कभी आलोचकों का मुँह मीठा करना भी था।

मुझे वह घटना याद है, जब मेरी पहली पुस्तक फ्रांस में प्रकाशित हुई थी। मेरे प्रकाशक ने मुझे दिन-भर अपने दफ्तर में बैठा रखा, और सम्पादक, आलोचक तथा प्रतिष्ठित लोगों को भेजी जानेवाली लगभग तीन सौ प्रतियों पर मुझे हस्ताक्षर करने पड़े। इस सूची में समाज के विभिन्न वर्ग के श्रेष्ठ लोगों के नाम थे। सौभाग्य से इस देश में ऐसा रिवाज नहीं है। कुछ प्रकाशक समालोचकों को दावतें देते हैं। दूसरी ओर आलोचना के तूफान को दबाने के लिए समाचार-पत्रों में विज्ञापन की प्रचुरता भी रहती है। कुछ लेखक आलोचकों से मित्रता कर लेते हैं। लेकिन ये सब उचित सीमा के बाहर नहीं होता। सारांश यह कि, युद्धपूर्व यूरोप के किसी भी देश की अपेक्षा इंग्लैण्ड में होनेवाली आलोचना अधिक सभ्य तथा प्रामाणिक थी।

किन्तु यह तो इससे सम्बन्धित एक पहलू है। पुस्तक-समालोचना के स्तम्भों का—विशेष कर कथा-कहानी से सम्बन्धित स्तम्भों का—अध्ययन करने पर मुझे तुम्हारी शिकायत उचित जँचती है। अमुक पुस्तक खरीदने-योग्य है या नहीं, कोई यह जानना चाहे, तो पत्रों में की गयीं आलोचनाएँ सहायता करने के बजाय उलझन पैदा कर देती हैं। मेरे मत में इसका मुख्य कारण यह है कि बहुतेरे पेशेवर उपन्यास-समीक्षक, कालान्तर में अपनी समालोचना का मूल्य भूल जाते हैं। अवश्य ही, साहित्यिक योग्यता के माप के लिए कोई निश्चित मापदंड नहीं है। भावना की उष्णता नापने के यंत्र का आविष्कार अभी बाकी है। लेकिन इतनी अपेक्षा तो रहती है कि आलोचक पुस्तक के महत्त्व के आधार पर ही उसकी आलोचना करेगा।

'संडे टाइम्स' के ९ अप्रैल, १९४४ के अंक में, जो मेरे सामने है, राल्फ स्ट्रेस (Ralph Strauss) ने अपने स्तम्भ में तीन उपन्यासों की आलोचना की है, परन्तु इन सबका अन्त एक ही लय में किया गया है। वे इस प्रकार हैं—

"साथ रखने-योग्य सर्वोत्तम पुस्तक। एक भी पृष्ठ नीरस नहीं।"

"यह पुस्तक असाधारण रूप से उत्तम है।"

"बहुत सुन्दर, अति आशाजनक।"

अनायास ही दूसरे सप्ताह (१९ मार्च) का पत्र उठाने पर पाँच आलोचनाएँ मिलीं, जिनमें प्रत्येक के अंत की पंक्ति इस प्रकार है—

"इस लेखिका से परिचित होना कितना आनंददायी है।"

"इस उपन्यास के चित्रण उत्कृष्ट हैं।"

"मनोरंजक और सहानुभूतिपूर्ण ढंग से कहानी कही गयी है।"

"भाषा सरल और आनन्ददायक है।"

"संवाद सरल और स्वाभाविक हैं।"

मुझे तुम्हारे प्रति सप्ताह बचाये हुए दो शिलिंग याद आये और बड़ा दुःख हुआ। इस प्रकार एक ही रंग में रंगे इन अभिप्रायों के आधार पर दो शिलिंग खर्च करके तुम कौन-सी पुस्तक खरीद सकोगे? इन आलोचकों ने अपनी आलोचना के साँचे बना रखे हैं। प्रस्तावना का एक वाक्य, तीन-चार वाक्यों में कथा का स्वरूप, फिर नम्र आलोचना का कोई शब्द और उपर्युक्त मधुर अन्त—अन्त में तीन तारे लगाये कि समालोचना समाप्त और तुरन्त दूसरी समालोचना का आरंभ। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि नवप्रकाशित उपन्यासों में एक है किसी मिस मारजरी एडवर्ड्स-लिखित 'रोज़ेज़ फ्राम

ए केंटिश गार्डन' और दूसरी 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट'। दोनों एक ही माप से मापे जायेंगे। दोनों की समालोचना में बीस-बीस पंक्तियाँ रहेंगी। सिर्फ बीच में तारे रहेंगे—कुछ इस प्रकार—

"केंट के प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण सुन्दर है। चरित्रों का निर्माण कुशलता-पूर्वक हुआ है और कथा— यद्यपि कहीं प्रवाह में रुकावट पड़ जाती है, फिर भी— बड़े सुन्दर और उचित ढंग से कही गयी है।"

"रूसी दास्तोवस्की (Dostoevsky) में मिस एडवर्ड के सुकोमल हास्य का अभाव है। एक उत्तेजित युवक एक कुल्हाड़ी से एक सूदखोर की हत्या कर डालता है ... कुछ दूषित-से प्रभाव का चित्रण है। किन्तु सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण स्पष्ट है; भाषा में प्रवाह है और संक्षेप में कहानी बड़े सुन्दर और कुशलतापूर्ण ढंग से कही गयी है!"

इन मापदण्डों पर टन और औंस के माप में कोई अन्तर नहीं है। मैं मानता हूँ कि मि. स्ट्रेस की तरह के लोग कम होंगे, किन्तु उनमें सिर्फ मात्राओं का अन्तर होता है। दैनिक तथा रविवारीय पत्रों के पुस्तक-स्तम्भ की यही मुख्य कमजोरी है। एक-एक करके उनका उल्लेख करना बड़ा कष्टदायक होगा, अतः जिन उच्च स्तरीय साप्ताहिकों से तुम्हारी शिकायत है, उनकी बात लेते हैं। तुम कहते हो, तुम उन्हें समझ नहीं पाते और यहीं तुम्हारी निराशा और ईर्ष्या की भावना के आवरण में तुम्हारी व्यक्तिगत समस्याएँ स्पष्ट हो उठती हैं।

मैं अनुमान लगा सकता हूँ, तुम क्या अनुभव करते होगे। तुम बड़ी उत्सुकता से कोई लेख पढ़ना आरम्भ करते हो—मान लो 'न्यू स्टेट्समैन' में रेमंड मोर्टिमर (Raymond Mortimer) या स्टोनियर (Stonier) का लिखा हो—और कुछ पंक्तियों के बाद एक मायाजाल-सा तुम्हारे सामने आ जाता है—शायद प्राउस्ट (Proust) या कफ्का (Kafka) या पेगुई (Peguy) का उल्लेख, जिनकी रचनाएँ तुमने नहीं पढ़ीं—और तुम रुक जाते हो। किन्तु लेखक यह अनुमान लगा लेता है कि प्रत्येक ने उनके सम्बन्ध में अवश्य पढ़ा होगा और नहीं तो कम-से-कम सबको पढ़ना जरूर चाहिए। अतः तुम्हारी अवस्था बिना पाठ याद किये पाठशाला में जानेवाले विद्यार्थी या बिना निमंत्रण के दावत में गये मेहमान-जैसी हो जाती है। और, यहीं हमारे सामने संकट उपस्थित हो जाता है। प्रगतिशील बुद्धिजीवी वर्ग और सुशिक्षित मजदूर-वर्ग के बीच दीवार खड़ी होने का यही कारण है।

हमें पाखंड का सहारा छोड़ कर मान लेना चाहिए कि दीवार अब भी खड़ी है। जितना ही हम उसे हटाने का प्रयत्न करते हैं, उतना ही अपना सर फोड़ते हैं।

१९२०–३० के बीच वामपंथी लेखकों ने जनता के लिए लिखा; लेकिन वह भी निरर्थक रहा। उन्होंने उच्च वर्ग का उपहास उड़ाया था; लेकिन वह उनका अपना मज़ाक बन गया। दो वर्गों के बीच की इस दीवार को हमें नष्ट करना ही चाहिए, ऊपर से छलाँग मार कर जाने में कोई अर्थ नहीं—लेकिन यह राजनीतिक कार्य है, साहित्यिक नहीं। मेरे विश्वास से समाजवाद का यही प्रमुख और अन्तिम कार्य है।

उच्च और निम्न वर्ग के विषय में होनेवाली सारी बकवास सत्य-स्थिति को छिपाने के लिए उड़ायी गयी गर्द के गुब्बारों के समान है। सही बात यह है कि इन आलोचकों के माँ-बाप औसतन इनके पठन-अध्ययन और चिंतन के लिए सोलह-सोलह वर्ष व्यतीत करते हैं, जिससे इन्हें आध्यात्मिक पोषण—जिसे पाने के लिए तुम उत्कंठित हो—प्राप्त है। लेकिन तुम ९ वर्ष तक ही अपनी परिस्थितियों के कारण पाठशाला में जा सकते हो। वह पाठशाला भी अलग होती है। चिंतन के लिए आवश्यक वातावरण तुम्हें नहीं मिलता। तुममें और उसमें—तुममें और मुझमें—जो अन्तर है, वह यही है। किसी सभा में जब हम एकत्र होते हैं, कन्धे से कन्धा मिला कर बैठते हैं, तब यह दीवार टूटती-सी मालूम होती है। लेकिन जब हम अपनी-अपनी दिनचर्या में लग जाते हैं, तब यह दीवार फिर खड़ी हो जाती है। यह न तुम्हारा दोष है, न मेरा। तुम्हारे बारे में अपने को अपराधी मान लूँ या मेरे बारे में तुम अपने को अपराधी मान लो, तो भी इससे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

तुम्हारी निराशा की भावना से मुझे सहानुभूति है। इसके मूल में विद्यमान समाज-रचना का मैं तिरस्कार करता हूँ। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं, कि मैं तुम्हारे द्वारा उच्च वर्ग पर किये गये आक्षेपों का समर्थन करूँगा। वह फासिस्टों का मार्ग है। हमारा ध्येय उस दीवार को नष्ट करना है। जब तक वह दीवार है, प्रजातंत्र पोला रहेगा।

अब मैं तुम्हारे मुख्य प्रश्न की ओर मुड़ता हूँ। पढ़ने का आनन्द लूटने के लिए पांडित्य-प्रचुर आलोचना पढ़ने को तुमसे भला कहा किसने? मुझे तो यह राह गलत लगती है। प्रचलित कहावत को बदल कर मैं तुमसे कहूँगा कि अंगूर खट्टे हैं, इसीलिए तुम जबरन् खाने की चेष्टा करते हो। मेरी यही

सलाह है कि तुम आनन्द के लिए पढ़ो, दाँतों-तले होंठ चबा कर इच्छा के विरुद्ध नहीं।

मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ। मैं फ्रान्स में बहुत दिनों तक रहा हूँ और मुझे मद्यपान का बहुत शौक है। मेरे कुछ फ्रेंच लेखक-मित्र मदिरा की गन्ध और स्वाद से ही कह देते थे कि वह किस प्रदेश में किस साल में बनी है। दावत के समय उनमें यही बातचीत होती रहती थी। उनका वार्तालाप मैं समझ नहीं पाता था और इसी से उसमें हिस्सा भी नहीं ले पाता था। मैं उनमें अकेला पड़ जाता, अतः मुझमें क्रोध और ईर्ष्या की भावना उत्पन्न हुई। साथ ही एक प्रकार की हीनता भी मैं अनुभव करने लगा। तुम्हारे ही समान मेरे लिए भी उनकी बातें समझ से बाहर थीं। उन्हीं के समान होकर मैंने शराब पीने की नकल करनी चाही, पर मैं इसमें सफल न हो सका—होता भी कैसे? मेरे जीवन के प्रथम बीस साल अंगूर के बाग़ में नहीं, उस प्रदेश में बीते थे, जहाँ अधिक शराब नहीं पी जाती। एक दिन रात को उनके साथ गलत तरीके से मैंने खाया और गलत तरीके से शराब भी पीता गया, फलतः मैं अपने आपे में न रहा। तब से मैंने सिर्फ अपने आनन्द के लिए ही शराब पीने का नियम बनाया है। इसके लिए कौन शराब अच्छी है और कौन बुरी, कौन पुरानी है और कौन ताज़ी, इतना समझने की शक्ति मुझ में है: और शराब से प्राप्त होनेवाले आनन्द के लिए, बस, इतना ही पर्याप्त है।

मेरे कहने का गलत अर्थ मत ले लेना। मैं यह मानता हूँ कि मुझसे अधिक अनुभवी मनुष्य को मद्यपान में मुझसे अधिक आनन्द प्राप्त होगा। यही नियम साहित्य संगीत-कला पर भी लागू है। हमारा ध्येय यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी पसंद के क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त करने का अवसर मिले, सब लोग अंगूर के बगीचे में ही पलें-बढ़ें, लेकिन तब तक के लिए हमें प्राप्त परिस्थिति का अधिकाधिक लाभ उठाना चाहिए, न कि उसे नष्ट करना।

इसलिए, मित्र! आनन्द के लिए पढ़ो। आलोचक क्या कहते हैं, उसकी चिन्ता मत करो। किसी भी सार्वजनिक वाचनालय या पुस्तक की दूकान में चले जाओ, जो भी पुस्तक मन में आये, उठा कर खोलो। उसका एकाध पृष्ठ पढ़ो, तुम्हें स्वयं ही मालूम हो जायेगा कि वह पुस्तक तुम्हारे पढ़ने-लायक है या नहीं। यों ही कोई पुस्तक पढ़ने के लिए स्वयं को मजबूर मत करो। यह सर्वथा निरर्थक प्रयत्न है। रेडियो का सुमधुर संगीत बन्द करके जिस पुस्तक के पढ़ने में तुम एकाग्रचित्त हो सको, बस, वही पुस्तक तुम्हारे पढ़ने-योग्य है।

कथा-कहानियाँ तभी पढ़ो, जब तुम्हें वे उत्तेजना प्रदान करती हों। कथा-कहानियों की जितनी पुस्तकें हैं—'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (Pilgrim's Progress) भी—एक विशेष प्रकार के पाठक-वर्ग को उसके जीवन के विशिष्ट काल में आकर्षक लगती ही हैं। यदि योग्य समय पर योग्य पुस्तकें तुम्हारे हाथ आ जायें, तो तुम उन्हें दूर न रख सकोगे, लेकिन दूसरे किसी समय वही व्यर्थ लगेंगी। जो बात उपन्यास के लिए है, वही निबन्ध, इतिहास और तत्त्वज्ञान के लिए भी। यदि उन पुस्तकों का तुम्हारे अपने हित, समस्या एवं शंकाओं से सम्बन्ध नहीं है, तो उन्हे अपने से दूर ही रखो। कभी भी केवल पढ़ने के लिए ही जबरन कुछ न पढ़ो।

आखिर साहित्य और कला का ध्येय क्या है? अगर समस्त संसार को भावनाओं से भर देना और उसके सर्जन में अर्थ-निर्माण करना, स्वयं अपना और अपनी परिस्थिति का ज्ञान गहरा और विस्तृत करना उसका ध्येय नहीं है, तो और क्या है? और, यह सब करना तुम्हारे सामर्थ्य में है।

ध्यान रखना, मैं किसी निवृत्ति-मार्ग का उपदेश नहीं दे रहा हूँ। निराश तथा क्रोधित होना तुम्हारा अधिकार और कर्तव्य है; किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में। और, गौर से देखो, तुम अपने क्रोध का क्या करते हो? गरीबों की यही एक मात्र ऐतिहासिक पूँजी है। क्रोध की भावना न होती, तो गरीब अब तक दासत्व ही भुगतते रहते। लेकिन अपने इस क्रोध के परिणाम का ध्यान रखो। दूसरे लोग तुम्हारी इस भावना का दुरुपयोग करने के लिए टकटकी लगाये बैठे हैं। इससे लाभ उठानेवाले केवल नाजी ही पहले और अंतिम व्यक्ति नहीं हैं, और अन्य लोग भी हैं। उनके जाल में न फँसो। तुम्हारा सच्चा शत्रु धनिक वर्ग है—बुद्धिजीवी उच्च वर्ग नहीं।

एक बड़ा सनकी*

एक बहुत बड़े सनकी व्यक्ति ने यों लिखा है—"लोगों को विश्वास दिलाने का तत्त्व, महान् असत्य में अन्तर्भूत है।" असत्य की महानता दो प्रकार की है—प्रमाण और प्रभाव! असत्य को वैभव प्राप्त होने पर लोग अपने-आप उसकी पूजा-अर्चना करने लगते हैं। सनकियों के रहस्यवाद की कुंजियों में यह कुंजी है... वास्तव में, यह वही कुंजी है, जिसने उसके सामने शक्ति के दरवाजे खोल दिये। स्पष्ट ही जब कुंजी इतनी अद्भुत है, तो ताला तो और भी अद्भुत होगा।

ताला ऐतिहासिकों की समस्या है—हमें तो कुंजी से मतलब है। इस सनकी व्यक्ति ने अपनी युवावस्था में भाग्य के अनेक दरवाजे खटखटाये। परन्तु वे दरवाजे कभी खोले नहीं गये। उसने चित्रकार होने का प्रयत्न किया; परन्तु उसके सूर्यास्त के चित्र कोई नहीं खरीदता। भवन-निर्माण के काम में वह लगा; किन्तु अन्य मजदूर उसके साथ मित्रता नहीं बरतते; क्योंकि वे शराब पीते थे और यह दूध पीता था। इसके सनकियों-से भाषण भी उन्हें पसंद नहीं थे। फिर वह सेना में शामिल हुआ। लेकिन वहाँ भी वह प्रथम श्रेणी से आगे न बढ़ सका। तदनन्तर वह मुक्ति-सेना में दाखिल हुआ। पुल के नीचे रहने लगा। समाज के लावारिस, आवारों के साथ घूमने लगा। यों ही कई वर्ष बीते। भावी राजनीतिज्ञ के लिए यह अनोखा अनुभव था। यहीं उसके ताले की सही कुंजी प्रथम आकार धारण करने लगी। इसलिए उसे समाज से घृणा हो गई। वह समाज के कूड़े को ही सारवस्तु मानने लगा। यह उसकी भूल थी। पर इस भूल से उसे लाभ ही हुआ।

उसने यह निष्कर्ष निकाला कि जिन मनुष्यों से समाज बनता है, उनके संकलित विचार-विकार समाज के विचार-विकार नहीं हैं। लेकिन मनुष्य के विचार-विकारों का 'लघुतम साधारण विभाज्य' है—समाज का मन। विभिन्न लोगों के एकत्र होने से उनकी बौद्धिक शक्ति में वृद्धि होने के बजाय उसमें असंतुलन पैदा होता है—प्रकाश में प्रकाश के मिल जाने से अंधकार के निर्माण

* 'आब्जर्वर', लंदन, अक्टूबर १९४२ में प्रकाशित।

होने-जैसी यह बात है—लेकिन भावना के आन्दोलन विद्युत्-प्रवाहों के समान दूसरे प्रवाह से अभिवृद्ध होते हैं।

समाज के निचले स्तर में उतरने से उस सनकी व्यक्ति को अपने जीवन का पता लगता है। सामाजिक जीवन का 'लघुतम साधारण विभाज्य' उसे प्राप्त होता है। मानो अपने भाग्य का ताला खोलने की उसे कुंजी मिल जाती है। इस कुंजी का जादू पहले उस पर ही होता है। उसका निराश मन स्फूर्ति से भर उठता है। पहले उसका चेहरा, जो मुर्झाया हुआ रहता था, वही अब खिल उठता है। उसकी आँखों में आशा-दीप जगमगाने लगते हैं। उसकी नाक के नीचे और भाल पर स्थित काले दाग देख कर लोग उस पर मुँह बनाते थे; परन्तु अब उन्हें लगता है कि वे दाग नर-बलि करनेवाले जंगली लोगों-द्वारा नृत्य के समय चिह्नित किये जाने पर भयानक दाग के समान ही हैं। उसका स्वर पहले की अपेक्षा अधिक कर्कश बन गया; लेकिन लोग उससे वेद-मंत्र निकलते देखने लगे। मंत्र का बार-बार उच्चार करने से ढोल बजाने-जैसी आवाज आती है, वह सनकी व्यक्ति इसे जानता था, अतएव वह अपने को 'ढोल बजानेवाला' कहने लगा।

आरम्भ में वह छोटी-छोटी सभाओं में बोलने लगा। बुद्धि को परे रख कर, लोगों की भावनाओं को स्पर्श कर, उन्हें उत्तेजित करनेवाले भाषण वह देने लगा! और, उसका परिणाम भी हुआ। उसी समय उसके देश का पराभव हुआ था। फलतः लोगों के मन में निराशा छायी थी। उनके उत्साह को दूसरी राह बताना आवश्यक था। उन्होंने देखा कि यह सनकी उनके लाभ की बातें बता रहा है—यद्यपि इसका प्रभाव तभी लक्षित हुआ, जब इसने एक ऐतिहासिक घटना का रूप धारण कर लिया—कुंजी ताले में गयी थी।

इतिहास सदा ऐसे ही ताले-कुंजी को लेकर लिखा गया है। व्यक्तिगत प्रयत्न कुंजी के समान हैं और वस्तुनिष्ठ समाज-रचना ताला है। इतिहास की व्यापक रूप-रेखा पहले से ही निश्चित होने पर भी उसमें कुछ अनिश्चित भाग रहता ही है। किस ताले में कौन चाभी लगेगी? यह भाग्य का खेल है। वेलिंग्टन-जैसे (Wellington) कई शूर सेनापति केवल सेवा-निवृत्त सूबेदार के रूप में मर गये होंगे। इसके विपरीत भी हुआ होगा। हमारा यह सनकी व्यक्ति उचित समय पर मर गया होता, तो वेमर (Weimar) जिंदा रह जाता और दूसरा महायुद्ध स्थगित हो जाता—अथवा शायद सदा के लिए टल जाता।

लेकिन परिस्थिति ऐसी है कि भाग्य की अज्ञात खाई को ढँकने के लिए मनुष्य को खुली आँखों मरना पड़ता है और यह भय बना रहता है कि इसकी पुनरावृत्ति न हो जाये—भविष्य में कोई दूसरा सनकी इस कुंजी को न पा ले। यह भय तब तक बना रहेगा, जब तक समाज का 'लघुतम साधारण विभाज्य' (मन) इस ऊँचे स्तर पर नहीं पहुँच जाता कि वह इस प्रकार के सनकियों की सामर्थ्य के बाहर रहे। सनक और प्रजातंत्र में सम्भवतः यही मूलभूत समस्या है।

रिचार्ड हिलारी की स्मृति में*

१

एक मृत मित्र के बारे में लिखना, समय के विरुद्ध लिखना है। उसके सम्बन्ध में किसी दंतकथा का आविर्भाव होने के पहले ही सुदूर की धुँधली स्मृति में लुप्त होनेवाली किसी आकृति का पीछा करना, उसे पकड़ना तथा पकड़ कर रखे रहने के समान ही यह लिखना भी है। कारण, मृत मनुष्यों से किसी प्रकार का व्यवहार दुष्कर है। साथ-साथ सेना में काम करने वाला कोई व्यक्ति उन्नति कर के जब अफसर बन जाता है, तब उससे व्यवहार बनाये रहने में जिस कठिनाई का अनुभव होता है, उसी प्रकार की दिक्कत यहाँ भी है। उसके घोर मौन के कारण हमारा चित्र अस्थिर हो जाता है। दौड़ शुरू होने के पूर्व ही हम हार जाते हैं। जिस रूप में वह था, उसी रूप में उसकी प्राप्ति फिर कभी नहीं होगी। उसकी स्मृति के आसपास दंतकथाओं की घटाएँ छाने लगी हैं, उसकी दिलचस्प छोटी-छोटी बातें याद बन कर रह गयी हैं और उसके चरित्र की साधारण घटना भी हमारे स्मृति-गृह में प्रस्तर-प्रतिमा के समान हो गयी है।

युद्धकाल में तो इस प्रक्रिया की गति तीव्र होती है। मृत मनुष्य तत्काल ही अंतर्धान हो जाते हैं और उनकी दंतकथाएँ वेग से प्रसारित होती हैं। हिलारी के सम्बंध में ऐसी ही एक दंतकथा अभी-अभी प्रचलित हुई है और यह

---

* प्रथम बार, अप्रैल, १९४३ में 'होराइजन' (लंदन) में 'दंतकथा का जन्म' The Birth of a Myth शीर्षक से प्रकाशित। "द' लास्ट एनिमी" The last Enemy के लेखक रिचार्ड हिलारी ने सन् १९३९ में, १९ वर्ष की आयु में लड़ाकू विमान-चालक के रूप में हवाई सेना में नाम लिखाया था। ब्रिटेन की लड़ाई में उस के विमान को मार गिराया गया और वह बुरी तरह झुलस गया। शारीरिक रूप से अयोग्य करार दिये जाने के बावजूद उसने सक्रिय सेवा में फिर से जाने पर जोर दिया और ८ जनवरी, १९४३ को २३ वर्ष की उम्र में, एक रात्रि-प्रशिक्षण-उड़ान में उसकी मृत्यु हो गयी। इस दुर्घटना के रहस्य का पता नहीं लग सका।

अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि वह शीघ्र ही फैलेगी, जब तक उसका नाम इस महायुद्ध का एक प्रतीक बनकर नहीं रह जायेगा। दंतकथा के विस्तार को रोकना सम्भव नहीं है और किसी को इसकी चेष्टा भी नहीं करनी चाहिए। दंतकथा का विस्तार स्फटिक के समान ही होता है। जिस प्रकार भूमि के परमाणु एकत्र होकर स्फटिक का रूप धारण करते हैं, उसी प्रकार समाज के मन में बिखरी हुई सुप्त भावनाएँ दंतकथा के रूप में प्रकट होती हैं।

निश्चय ही, प्रश्न उठता है कि एक उपयुक्त क्षेत्र का निर्माण कौन करता है? स्पष्ट ही, समाज की इस अस्पष्ट और विस्तृत भावना के साथ उसका निकट का सम्बंध होना चाहिए—उस प्रकार का वीर पुरुष बनने की उसमें तीव्र इच्छा होनी चाहिए, जिस प्रकार के वीर पुरुषों के बारे में दंतकथाएँ कही जाती हैं। उसे स्पष्ट ही कुछ ऐसा करना चाहिए, जो उसकी उस तीव्र इच्छा का द्योतक हो। हिलारी का जीवन और मरण एक प्रकार से प्रतीकात्मक था। किंतु किसका प्रतीक? यही उसे मालूम नहीं था और यह स्वयं यह जानने का बहुत इच्छुक था। उसने एक पत्र में लिखा था—

"...मैं सोने के पूर्व इसे लिख रहा हूँ और मुझे अजीब-सा लग रहा है; क्योंकि मुझे आज ही पता चला है, कोलिन पिंकने (Colin Pinckney) सिंगापुर में मारा गया। तुम उसे नहीं जानते हो; किंतु पुस्तक पढ़ने के बाद उसे जान जाओगे और मुझे आशा है, उसे पसंद भी करोगे। उसकी मृत्यु एक उचित अनुलेख का जन्म देती है और फिर भी मेरे मस्तिष्क में उसी प्रश्न को उठाती है, जिसका मैंने पुस्तक में उल्लेख किया है और जवाब देने का प्रयास किया है। प्रश्न है, जो व्यक्ति बच गया है, उसका उत्तरदायित्व क्या है? मेरा तात्पर्य व्यक्ति से है, व्यक्तियों से नहीं; क्योंकि अब मैं ही अंतिम व्यक्ति बचा हूँ। यह बड़ी विचित्र बात है कि मुझ-जैसा व्यक्ति जिसने सबसे कम योगदान किया है, बचा रह जाये। मैं ताज्जुब करता हूँ, ऐसा क्यों हुआ?..."

किस प्रकार का उत्तरदायित्व उस पर आ पड़ा था? वह किस प्रतीक का प्रतिपादक था? इससे एक दंतकथा पनप सकती है और हमें पसंद भी आ सकती है। उसी के अनुरूप हम सोच सकते हैं, और फिर भी, ऐसा क्यों होता है, हम इससे अनजान रह सकते हैं। बिना रहस्योद्घाटन के भी प्रतीक का हमें आभास हो सकता है। आखिर कोई दो हजार वर्षों से भी अधिक काल के बाद हमें कोई यह बता सका कि ओडिपस रेक्स (Oedipus Rex) की दंतकथा हम साँस रोक कर क्यों सुनते हैं?

मृत्यु से दो वर्ष पूर्व हिलारी इसी प्रश्न का उत्तर खोज रहा था। दंतकथा के उस क्षेत्र का वह विश्लेषण करना चाहता था, जिसे वह स्वयं के निकट अनुभव करता था। वह जानता था कि वह मरने वाला है। लेकिन क्यों? यही वह जानना चाहता था। वास्तव में, उसने जानबूझकर ऐसे मार्ग को अपनाया था, जिसका अंत मृत्यु के अतिरिक्त कुछ नहीं था। उसने एक पत्र में लिखा था :

"मित्र! तुम कहते हो, विश्वास रखो; लेकिन किस पर विश्वास रखूँ? तुम्हारा कहना है—'सब कुछ ठीक हो जायेगा।' यह तो इस पर निर्भर करता है कि 'ठीक' से तुम्हारा क्या तात्पर्य है? अगर तुम यह कहना चाहते हो कि कोई चमत्कार होगा और मुझे किसी ऐसे काम को करने का आदेश मिलेगा, जिसे मैं सिर्फ भलीभाँति कर ही नहीं सकूँगा, बल्कि उसे करने में मुझे आनंद आयेगा, तो वह मुझे तनिक भी मान्य नहीं। वैसा विश्वास रखना बुरा है, हानिकारक है। अगर तुम्हारे कहने का अर्थ यह है कि प्रथम विमान-दुर्घटना के बाद, मेरा सक्रिया सेवा के लिए वापस आना ठीक है, और इस पर मैं विश्वास रखूँ, तो यह मुझे मान्य है। किंतु अब मैं मृत्यु को पराजित कर दूँगा—इस कथन पर भी विश्वास करना मुझे स्वीकार नहीं। इन घटनाओं का क्रमिक अंत एकमात्र मृत्यु ही तो है। कुछ घंटे विमान में उड़ने के पश्चात् मेरी सहज प्रवृत्ति कहेगी—'अब मैं जीवित रहूँगा।' जबकि मेरी बुद्धि कहेगी—'मैं बचूँगा नहीं।'—और इस बार बुद्धि का कथन ही सत्य सिद्ध होगा।

"और फिर :

"……पहले के समान ही, जितनी ज्यादा उड़ान मैं भरूँगा, मेरी सहज प्रकृति मुझसे कहेगी कि मैं बच कर निकल जाऊँगा, जबकि मेरी बुद्धि का कथन कि मैं नहीं बचूंगा, धीमा पड़ता जायेगा।

"किंतु इस बार मेरी बुद्धि का कथन सत्य प्रमाणित होगा। इस पर मुझे इतना अधिक विश्वास है कि इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं रह जाती…"

यह कुछ विचित्र है—है न? साधारणतया हमारी सहज प्रवृत्ति ही हमें संकट का आभास देकर डरा देती है और बुद्धि हमें धीरज बँधाती है। किंतु हिलारी के सम्बंध में बात उल्टी है। किंतु अभी तो और कुछ विचित्र घटित होनेवाला है। हमने स्वयं लक्ष्य किया है, यह सहज बुद्धि कितनी भ्रमात्मक रही है। वह इसे जानता था और बार-बार उसने इस पर जोर दिया।

उदाहरणार्थ,....." औषध ने पहले ही काम करना आरम्भ कर दिया है। जब मैं मेस में प्रवेश करता हूँ, तो मेरे चलने का ढंग बनावटी होता है...।" आदि। और फिर भी वह उड़ान पर वापस जाने का घातक निश्चय करता है—जानबूझ कर अपनी सहज प्रवृत्ति का अनुसरण करता है और बुद्धि की उपेक्षा करता है। अपने स्थान पर पहुँचने के कुछ ही दिनों बाद, वह लिखता है :

" कोई सदा के लिए विवेकपूर्ण हो सकता है और उसकी बुद्धि अंततः उसे कहती है कि यह पागलपन है; पर वह सदा अपनी सहज प्रवृत्ति का कथन सुनता है...।"

और एक दूसरे पत्र में :

" यात्रा की समाप्ति के लिए निश्चय ही, यह एक अद्भुत स्थान है।"

इस प्रकार, उसकी " सहज प्रवृत्ति " जब कहती है, वह बच जायेगा, तो वह उस पर विश्वास नहीं करता है; किंतु जब वह उसे यात्रा की समाप्ति की ओर ढकेलती है, तो वह उसका विश्वास करता है। यहाँ कौन किसे धोखा देता है? स्पष्ट ही, सहज प्रवृत्ति अपने शिकार को धोखा देती है; वह मनुष्य को भुलावा देकर मृत्यु-जाल में फँसा देती है। किंतु ध्यान से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि मनुष्य स्वेच्छा से, जान-बूझकर, स्वयं को मृत्यु-जाल की ओर ले जाये जाने देता है :

" मैं अमरीकी फिल्मों के उस नायक के समान अनुभव करता हूँ, जो एक डाकू है और स्वेच्छा से जेल की ओर कदम बढ़ाता है और अंतिम बार अपने पीछे जेल के दरवाजे बंद होने की आवाज सुनता है...!"

यह अद्भुत और संदिग्ध 'सहज प्रवृत्ति'—जिसका दंड वह स्वीकार करता है और जिसकी सांत्वना का वह असंतोषपूर्वक तिरस्कार करता है, जिसके विरुद्ध इच्छापूर्वक तर्क पेश करता है, मुँह बनाता है, "एक बच्चे के समान रोता भी है;" किंतु अंत में, नम्रतापूर्वक उसे स्वीकार करता है—हमारे लिए निश्चय ही, एक विचित्र शक्ति प्रतीत होती है। हमारे पास अब तक इसके नामकरण के लिए कोई वैज्ञानिक शब्द नहीं है; लेकिन स्फटिक-परमाणु के विशिष्ट प्रकार में एकत्र होनेवाली शक्ति के समान ही यह दीखती है।

२

यहाँ हम देखते हैं कि किस प्रकार दंतकथा अपने शिकार पर हावी होती है

और उसका विनाश करती है। हिलारी के पत्रों में तत्कालीन अपेक्षा और आकांक्षा स्पष्टतया प्रतिबिम्बित होती है। ये उसके रक्त में घुलमिल गयी थीं। वह उनका प्रतीक बन गया था।

किंतु यह सब-कुछ हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं देता—किसका प्रतीक ? आखिर पैट फिनुकेन (Pat Finucane) ने तो शत्रु के बत्तीस विमान गिराये थे, जबकि हिलारी ने केवल पाँच ही। उसे कोई पदक भी नहीं मिला था। "द' लास्ट एनिमी" नामक पुस्तक उसकी पीढ़ी में सर्वाधिक आशाजनक पुस्तक थी। किंतु उसमें केवल आशा ही है, सिद्धि नहीं। उसने कौन-सी मनोवृत्ति, कल्पना अथवा आशा व्यक्त की है? हिलारी स्वयं भी किसी मूल्य पर यह जानने का इच्छुक था; किंतु इसकी उसे अनुमति नहीं थी। यह खेल के नियमों के विरुद्ध होता; क्योंकि इस अस्पष्ट-धुँधले क्षेत्र में उचित बात सदा गलत कारणों के लिए करनी पड़ती है। वह सिर्फ इतना ही जानता था कि इस सम्बंध में उसकी सहज प्रवृत्ति सही थी, और सूत्र रूप में वर्णन करने की लेखक की अभिलाषा के कारण, उसने बार-बार यह बताने का प्रयत्न किया है कि वह क्यों सही थी ? किंतु इसमें उसे सफलता नहीं मिली। सफलता मिली होती, तो सहज प्रवृत्ति मर गयी होती और वह जीवित रह जाता। लेकिन उसे तो अपने स्मृति-लेख की खोज करते हुए मरना था।

"द' लास्ट एनिमी" के अंतिम अध्याय में पुस्तक के पूर्व-अध्यायों की भड़कीली सुविधा लगभग असहाय तुतलाहट में बदल जाती है; किंतु एक बार जहाँ संकट—व्यक्तित्व के टूटने तथा पुनः जुड़ने की अपरिहार्य प्रक्रिया—खत्म हुआ, वह पुनः यह खोजने निकल पड़ता है कि, वह किस तथ्य का प्रतिपादन करता है। उसने एक पत्र लिखा था—

"कुछ दुविधा के साथ मैं पुस्तक लिखने बैठा; क्योंकि मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि जब किसी ने अंततः यह बताया कि देश के युवा-वर्ग पर युद्ध का परिणाम, चलचित्रों के अनेक चरम बिंदुओं से कुछ अधिक—एक प्रकार के मानसिक संघर्ष के रूप में—था, तो पुस्तक काफी अच्छे ढंग से लिखी जानी चाहिए और विषय का इसमें उचित प्रतिपादन होना चाहिए। मैं नहीं जानता, मुझे सफलता मिली अथवा नहीं। अंत में, मैं अपने 'आइलैंड फोर्टेस' (Island Fortress) और "द' नाइट्स आव द' एयर" (The Knights of the Air) के बारे में इतना परेशान हो गया कि मैंने इसे किसी प्रकार लिख देने का दृढ़ निश्चय कर लिया—इस आशा में कि अगली पीढ़ी शायद यह

समझ सके कि बेवकूफ होने पर भी हम इतने बेवकूफ नहीं थे—हमें यह भलीभाँति स्मरण था कि पिछले युद्ध में ये सारी बातें देखी गयी हैं; किंतु उसके बावजूद—उसके कारण नहीं—हम इसे संघर्ष-योग्य समझते थे।"

एक मुहावरे के अलावा कि "उसके बावजूद, उसके कारण नहीं" यह पर्याप्त सफाई नहीं है। केवल यह मुहावरा किसी प्रकार हमारे मन में ताल देनेवाले चिमटे के धीमे कम्पनों को स्थिर कर देता है; क्योंकि अधिक अथवा कम, हम सभी जानते हैं कि हम यह युद्ध किसी चीज के 'कारण' नहीं, बल्कि किसी चीज के 'बावजूद' लड़ रहे हैं। बड़ी-बड़ी बातें और नारे हमें हतोत्साहित करते हैं। हमें कोई इतना सीधा समझे, यह हमें पसंद नहीं। कोरी बातों की देशभक्ति, निराशावादी-पाखंडी-योद्धा का बर्ताव इस युद्ध के मानसिक वातावरण के उपयुक्त है और हमें उन शक्तियों के बारे में आभास मिल जाता है, जो अपने कार्य के लिए इस विशिष्ट नायक का चुनाव करती हैं। किंतु यह आभास-मात्र है। बार-बार की शल्यक्रिया के बाद, जिसने हिलारी के चेहरे को पुराने पेबंद लगे कोट के समान नया कर दिया था, एक दूसरे पत्र में, यह कुछ बढ़ा-चढ़ा कर लिखा गया। इसमें मूल तत्त्व से पेबंद अधिक थे और तारीख के स्थान पर था—

अस्पताल में
बिस्तरे पर
क्रोध में

"...मानवता आकंठ दुर्भाग्य से ग्रसित है। मेरा अनुमान है, तुम अगर इसके लिए संघर्ष करना चाहते हो, तो तुम्हें इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। तुम्हें इससे कुछ नहीं मिलने का। सद्गुण स्वयं में ही पर्याप्त पुरस्कार है, यदि तुम इससे सहमत नहीं हो, तो तुम्हें इसका आनंद उठाने के योग्य होना चाहिए—अन्यथा, परमात्मा तुम्हारी मदद करे।"

छः सप्ताह बाद, हाथों पर एक और शल्य-क्रिया होने के पश्चात् एक दूसरे पत्र में वह यही भाव दूसरी दृष्टि से व्यक्त करता है—

"वायुसेना का विशेष गुण क्या है? इसका विश्लेषण करना मेरे लिए कठिन प्रतीत होता है। मेरा अनुमान है, इसमें कोई ऐसी बात है, जो इसके सदस्यों को दूसरे सैन्य दल के सदस्यों से बिलकुल पृथक् कर देती है। यह कहना कि वह कोई वायव्य गुण है, असत्य और एक प्रकार की सनक है, तथापि मैं इसके लिए इससे अच्छा शब्द नहीं सोच पा रहा हूँ। यह कुछ ऐसी चीज है—एक

प्रकार की अबोधगम्य जानकारी—जिसका जन्म सिर्फ उच्च कोटि के आत्मविश्वास और नम्रता के संयोग से हो सकता है और जिसे प्रत्येक संघर्षकारी वायुयान-चालक अनुभव करता है। शायद अंत में, यही वह विशिष्ट गुण है। कोई भी मनुष्य किसी संगठन की अपेक्षा अदृश्य के अधिक समीप रहता है; किंतु वायुसेना, एक संगठन के रूप में, किसी अन्य संगठन की तुलना में, मनुष्य को अधिक अवसर देती है। और फिर भी अगर वायुसेना के सैनिक इसका अनुभव करते हैं, तो अवश्य ही अनजाने; क्योंकि वे अद्‌भुत रूप से निराश हैं। मि० डी० मोरगन के उपन्यासों के समान—मूल उद्देश्य तो प्रभावशाली है; किंतु इसकी प्राप्ति में किसी चीज का अभाव खटकता है। जैसा कि मि० हैरिसन पूछते हैं, शांति के दिनों में क्या वह दिन आयेगा, 'जब वे भय से भी कुछ अधिक पर विजय प्राप्त करेंगे ?'"

कितने ईर्ष्यालु ढंग से वह अपने नैराश्य की सघनता की रक्षा करता है। वह अपने दरवाजे की सीढ़ियों पर इसे एक पहरेदार कुत्ते के समान बैठा देता है। यह सदा क्रुद्ध, और उत्तेजित रूप से भूँकता रहा; किंतु इसने काटा नहीं। उसके पीछे दरवाजा खुला था और मकान सुरक्षित था।

पाँच महीने बाद, सहज प्रवृत्ति ने अपना प्रभाव दिखाया और वह पुनः उड़ान भरने लगा, यद्यपि उसके हाथों में, जो चिड़ियों के चंगुल की तरह लगते थे और जो चाकू और काँटे को भोजन के समय काम आनेवाली सलाइयों की तरह पकड़ते थे, दो एंजिनवाले भारी वायुयान का, जिस पर उसने प्रशिक्षण पाया था, ब्रेक सँभालने की भी शक्ति नहीं थी। उन्हें ब्रेक के यंत्र में विस्तारक बैठाना पड़ा। वह 'अंडर-कैरेज' (नीचे की छोटी गाड़ी) को भी नहीं खोल सकता था। इस कार्य के लिए अपने साथ उसे एक और व्यक्ति को रखना पड़ता था। कभी-कभी वह पट्टा तक नहीं बाँध सकता था। ("...अब मैं सचमुच ही परवाह नहीं करता। अगर विमान किसी दुर्घटना का भी शिकार हो जाये, तो हो जाये। अगर मुझ पर कुछ बीतती है, तो कोई बात नहीं।" हिलारी ने एक पत्र में लिखा था।) उसकी घायल आंखों पर कृत्रिम पलकें बिठायी गयी थीं, जिससे वह कभी-कभी ऊँचाई नापने के यंत्र को ठीक से पढ़ नहीं पाता था। उसके सिर में भयंकर दर्द रहता और वह बुरी तरह अस्वस्थ हो उठता। तूफान में विमान ले जाते समय, भारी एंजिन के संचालन से उसके जले हुए हाथ की चमड़ी उखड़ जाती। मेडिकल बोर्ड को धोखा देने में वह किसी प्रकार सफल हो गया था; किंतु स्वयं को धोखा नहीं दे सका। अपनी

अंतिम रात्रि-प्रशिक्षण-उड़ानों में वह लगातार कई बार दुर्घटना का शिकार होते-होते बचा और देर-सबेर कभी तो उसके बचने की यह शृंखला टूटने ही वाली थी।

लेकिन तब वह उड़ान पर वापस क्यों गया?

क्या यह उसका अहंकार था? हिलारी ने लिखा था—"मुझे स्वयं आश्चर्य है कि क्या यह सही है, जैसा किसी बेवकूफ लड़की ने कहा था, मैं सिर्फ अपने अहंकार की रक्षा करने के लिए वापस गया? मेरे विचार से यह गलत है; क्योंकि मेरे वापस आने के निर्णय में, मेरा यह विश्वास निहित था कि मैं जीवित नहीं बचूँगा।" आप बुद्धिमानी से इस उक्ति को तोड़-मरोड़ कर कह सकते हैं कि यह उस पर लादे गये अभियोग से उसे बरी नहीं करता। यह मान लिया; किंतु तब आपको उस प्रेरणा के लिए, जो अपने संतोष की खातिर विनाश स्वीकार करती है, अधिक उपयुक्त नाम खोजना पड़ेगा।

आत्मविनाश अथवा पीड़ा से आनंद प्राप्त करने की प्रेरणा? उसने एक पत्र में लिखा—"मेरे मित्र! मैं उस व्यक्ति की तरह हूँ, जो अँधेरी सुरंग से गुजरता है और बहुत दूर पर दीख पड़ने वाले प्रकाश पर नज़र जाते ही आनंद से उछल पड़ता है, फिर हिचकिचाता है, उसे संदेह होता है—यह भ्रम-जाल तो नहीं! पुनः आश्वस्त हो, वह आगे बढ़ता है—मौन, उसका हृदय धक धक करता है और जब वह प्रकाश में पहुँच जाता है, तब संतोष की साँस लेता है, आनंदाश्रु बहाते हुए मानो अपना अंतःकरण उड़ेल देता है—रिचार्ड!" एक युवक, जो इस प्रकार का प्रेमपूर्ण पत्र लिखता है, कठोर और निर्दय प्रवृत्ति का नहीं प्रतीत होता। किंतु, पुनः कोई यह तर्क पेश कर सकता है कि ये दोनों गुण किसी एक में हो सकते हैं; चलिए यह भी मान लिया।

ध्येय-विशेष के प्रति भ्रांतपूर्ण आसक्ति?.....हिलारी ने लिखा है—"अपने शुभेच्छुओं को, गलत स्थान पर दिखायी गयी उनकी दया के लिए, थोड़ा विक्षिप्त बने और बनावटी नम्रता का सहारा लिये बिना मैं, तत्काल उन्हें धोखा नहीं दे सकता था। अतः मैं पाखंडी बना रहा। वे कहेंगे—'हमें विश्वास है, अवश्य ही उनके पास कुछ ऐसा था, जिसने तुम्हें हानि पहुँचायी। निश्चित रूप से, उन शैतानों से तुम बुरी तरह घृणा करते होगे।' और मैं क्षीण स्वर में कहूँगा—'मैं नहीं जानता।' बस, इतना ही। मैं यह नहीं समझा सकता था कि उनके युद्ध में मैं घायल नहीं हुआ था, 'आवर आइलैंड फोर्ट्रेस' अथवा "मेकिंग द' वर्ल्ड सेफ फार डेमोक्रेसी" के विचार, युद्ध में जाते समय, मेरे

लिए घातक नहीं प्रमाणित हुए। मैं यह नहीं कह सकता था कि जो भी तकलीफ मुझे हुई है, उसके लिए मुझे अफसोस नहीं है, बल्कि मैं उसका स्वागत करता हूँ और अब, जब युद्ध समाप्त हो चुका है, मैं एक प्रकार से इसके लिए कृतज्ञ हूँ और यह निश्चित है कि समय पर, यह मुझे अपने निजी विकास के मार्ग पर बढ़ने में सहायता करेगा।" किंतु शायद यह कोरी विनम्रता है अथवा अधोमुखी अहंकार—युवा अंग्रेज अपनी त्रुटियों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना पसंद करते हैं।

इस प्रकार हम चालाकी और विश्लेषण का सहारा लेकर इस पीड़ित व्यक्ति पर तब तक लेबिल चिपकाते जा सकते हैं, जब तक वह विश्व-भ्रमण के लिए निकले व्यक्ति की लेबिल लगी टंक की तरह नहीं लगने लगे। ऐसे वक्तव्यों में सदैव कुछ-न-कुछ सत्य रहेगा और वह हर किसी पर किसी-न-किसी रूप में अवश्य लागू होता है। अगर हमारे विशेषणों में कोई एक प्रत्यक्ष रूप से सही नहीं बैठता, तो हम इसका रूप बदल सकते हैं और इसे जरूरत से ज्यादा प्रतिफल अथवा 'शमित का प्रतिशोध' की संज्ञा दे सकते हैं। हमें अपने ये छोटे विशेषण अवश्य ही प्रिय हैं, वे हमें व्यग्रता और उदासीनता से—दुःखद उलझनों का सामना करने की आशंका से—बचाते हैं। हम अपनी ज्योति को, तारों के नीचे मोमबत्तियों के प्रकाश के समान ही प्रकाशमान रखना पसंद करते हैं। किंतु एक बार जहाँ वह बुझ गयी—इतने बड़े आकाश के नीचे, जहाँ से हम रवाना हुए थे, लौटकर वहीं आ जाते हैं। हमारे विशेषण धूमिल पड़ जाते हैं, लेबिलें उखड़ जाती हैं, सिर्फ व्यक्ति बच जाता है—तारों के नीचे अकेले—उस शक्ति के सामने, जिसका कोई नाम नहीं है और जो उसके विनाश के लिए निर्धारित की गयी है। हम उसके भाग्य के विरुद्ध उसकी बुद्धि—दंतकथा के विरुद्ध मनुष्य—का संघर्ष देखते हैं और दंतकथा मनुष्य का भक्षण कर जाती है।

अपने एक पत्र में हिलारी ने लिखा—"मैं सोचता हूँ, मैं वापस जाऊँगा। और अधिक विवेकपूर्ण मैं नहीं बन सकता। सहज प्रवृत्ति ही इसका निर्णय करे। सम्भव है, ऐसा इसलिए है कि मैं स्वयं अपने-आपे में लौट आया हूँ। मैं नहीं कह सकता। मैं इस पत्र से कुछ नहीं समझा (तुम शायद समझ जाओगे) और फिर भी यह किसी रूप में व्याख्या प्रतीत होती है।.....पुनः यह शांति के वही वृत्त हैं। उन्हें निश्चित रूप से वापस आना चाहिए—निश्चित रूप से।"

किस प्रकार वह जाल में उलझा हुआ संघर्ष करता है—बच निकलने के

लिए, जीवित रहने के लिए! आखिर, केवल बाईस वर्ष की उम्र थी उसकी। वह एक पत्र में लिखता है—

"प्रिय, मैं तुमसे विनती करता हूँ, इस हल्केपन पर तुम अपनी भौंहें न सिकोड़ो; क्योंकि वस्तुतः यह वह नहीं है, जो प्रतीत होता है। यह एक व्यग्र अंतःकरण की प्रक्षुब्ध धड़कनें हैं। हल्के-से आवरण से ये ढँकी हैं, बस!.....

"यदि मैं बेवर्ली निकोलस (Beverley Nichols) होता, मेरे पैरों में स्वेड के जूते होते और सामने डेफोडिल्स (एक प्रकार के विलायती फूल) होते, तो मैं स्वच्छंद बाहर भ्रमण करता और जीवन का आनंद पाने के लिए उनके बीच में उछल-कूद मचाता। किंतु ये तीनों चीजें मेरे पास नहीं हैं। अतः मैं 'मेस' की मदिरा की बोतल पर ही संतोष कर लेता हूँ। स्वयं में प्रसन्न रहने का एक हल्का-सा भाव-मात्र ही दृष्टिगत होता है, जो इसका प्रतीक है कि अपने अंतर में मैं सुखद भविष्य की उम्मीद को चिपकाये हूँ।....."

कुछ भी हो, हिलारी केवल बाइस वर्ष का था। इससे दुगुने साल की उसकी अवधि कम-से-कम अभी और बाकी थी। लेकिन बचने की कोई सूरत नहीं थी और वह इसे अनुभव करता था। अतः जो बेनाम शक्ति उसे विनष्ट करती है, उसका नामकरण करने का प्रयास वह बारम्बार करता था—"और अधिक विवेकपूर्ण मैं नहीं बन सकता। सहज प्रवृत्ति ही इसका निर्णय करे"—आरंभ से अंत तक उसके विभिन्न प्रयासों पर हमने विचार किया है। निर्णय हो जाने के बाद भी उसने पुनः एक प्रयास किया—इसे विवेकपूर्ण बनाने के लिए। इस दैवी घटना का रहस्योद्घाटन करने का उसका अंतिम प्रयास ही उसके पत्रों में छाया है, जो उसने अपनी मृत्यु के पूर्व के कुछ अंतिम सप्ताहों में लिखे थे। यथा—

"केनिंगटन के सम्बंध में तुम्हारी भावना भी मजेदार रही। अगर मैं उसके साथ नहीं रहा होता, तो मुझे "द' मिंट" नहीं पढ़ना चाहिए था और यदि इसे मैं नहीं पढ़ता, तो (शायद) मुझे वापस नहीं आना चाहिए था।"

इसका अर्थ निम्न अंश से स्पष्ट हो जाता है, जो उसने एक सप्ताह बाद लिखा था—

"जब मैं अभी भी अस्थिर चित्त था, मैंने "द' मिंट"—वायुसेना में टी. ई. लारेंस की अप्रकाशित यातना—पढ़ी। उसमें अक्सब्रिज में, वायुसेना के उच्च कर्मचारी की हैसियत से बितायी गयी उसकी अवधि का वर्णन था। यह मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं इससे बहुत प्रभावित हुआ; क्योंकि इसमें मुझे वही मिला, जिसकी मुझे तलाश थी। वायुसेना के उन कर्मचारियों और उनके साथ जिन

छोटी-छोटी चीजों में उसने हिस्सा बँटाया—जैसे यातनाएँ—उनके बीच, उसने एक प्रकार की मित्रता की भावना और प्रसन्नता का अनुभव किया, जो पहले उसे नहीं मिली थी।

"मैं उसी के लिए वापस आया और फिर भी....."

तो इसी के लिए वह वापस आया था, मित्रता और प्रसन्नता की भावना लेकर। सात महीने पूर्व लिखे गये "मानवता आकंठ दुर्भाग्य से ग्रसित है" से यह काफी दूर का मार्ग है। जो कम उम्र में मरते हैं, वे बड़ी तेजी से रास्ता तय कर लेते हैं। किंतु यह भी अंतिम लक्ष्य नहीं है। अपने वापस आने के उद्देश्य को स्पष्ट करने के इस अंतिम प्रयास के पीछे अद्भुत दुर्भाग्य था; क्योंकि उसने एक पत्र में लिखा था—

"...और फिर भी स्वयं को पुनः तीन साल पहले ले जाना कठिन है। युवा उड़ाके वही हैं और फिर भी जैसे वे वह नहीं हैं—किसी प्रकार की कमी है उनमें। मैं अभी भी बाहर हूँ.....मैं कभी-कभी युद्ध-विषयक भाषण में सिर उठाकर देखता हूँ। मुझे उम्मीद रहती है कि मैं अपनी बगल में नोएल एगेज़ेरियन (Noel Agazarian) को बैठा देखूँगा; किंतु उसके बजाय कोई मुहासे वाला युवक मेरी बगल में बैठा अपनी नाक खुजाता रहता है.....!"

और उसी पत्र में इसके पहले :

"यह मेरा दुर्भाग्य ही है कि यह स्थान इतना सर्द और उजाड़ है—सिर्फ मकानों तथा वृक्षों से नहीं, बल्कि सभी मानवीय सम्बंधों की दृष्टि से भी!...पहली दो रातें मैं धीरे-धीरे चलकर अपनी झोंपड़ी में वापस आ गया और एक बच्चे के समान रोता रहा। इसका मुझे स्वयं आश्चर्य है; क्योंकि मैं समझता था कि इसके लिए मैंने स्वयं को फौलाद बना लिया है..."

इवेन लारेंस भी, जिसका उस पर इतना अधिक प्रभाव था, उसके काम नहीं आता। अपने पहुँचने के दूसरे दिन, वहाँ के पुस्तकालय में, उसे पहली पुस्तक जो मिली, वह थी, डेविड गारनेट द्वारा सम्पादित 'लारेंस के पत्र'। यह उसके लिए एक विलक्षण महत्त्व वाली प्रतीत होती है। उसने एक पत्र में लिखा है—"मैंने वह पुस्तक निकलवायी और तुम चाहे, विश्वास करो अथवा नहीं, इस पृष्ठ...को खोला।" फिर वह लारेंस की वायुसेना में वापस जाने की इच्छा पर गारनेट के वक्तव्य का हवाला देता है—

"आश्चर्य होता है। क्या उसकी इच्छाशक्ति उसकी बुद्धिमत्ता से अधिक महान् नहीं हो गयी है? कुछ उपद्रव करके उस पर अभिमान करने का इस युवक

का दुस्साहस एक ऐसी चीज है, जिसकी हम प्रशंसा करते हैं; किंतु एक शिक्षित मनुष्य के लिए यह हास्यास्पद और असाधारणता का चिह्न है।"

लारेंस पर दिया गया निर्णय वह स्वयं पर लागू करता है। यह उचित मूल्यांकन नहीं है—"मित्रता और प्रसन्नता" की तलाश-सम्बंधी उसके उद्देश्यों से उसे भयानक रूप से परे हटा देना है। वह अपने नैराश्य और एकाकीपन के सम्बंध में शिकायत करना बंद नहीं करता। वह लिखता है—

"शायद यह सिर्फ बिलकुल अकेले होने का भय ही है, जब कि मैं सोचता था, मुझे एकाकीपन बहुत पसंद है। परंतु यहाँ के एकांतवास में मानवीय सम्पर्क का पूर्ण अभाव है। कितना भयानक है यह—कड़वी गोली निगलने के समान ही! वे आदमी नहीं, केवल यंत्र हैं। युद्ध-सेना में आदमी थे, उनसे बातें कर सकते थे, उन्हें प्यार कर सकते थे।.....मेरा तुम पर इतना प्रेम है कि कभी-कभी ऐसा लगता है, मानो मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। अपनापन, मानवता, हास्य, बुद्धि—यहाँ जिन-जिन गुणों का अभाव है, तुम उन सब के आगार हो।"

निश्चय ही, उस भयानक नीरस जीवन में कुछ हर्ष के क्षण भी थे। दो एंजिनवाले विमान को पहली बार अकेले उड़ाकर वापस ले आने पर जब वहाँ के युवा वायुयान-चालक उसे बधाई देते हैं, तब उसका हृदय आनंद से भर आता है।

वह एक पत्र में लिखता है—"आखिर वे आदमी ही हैं। उनके स्नेह की पुरानी उष्णता भी मुझे नयी प्रतीत होती है। औषध अपना काम कर रही है।

"मैं एक समाचार-पत्र उठा लेता हूँ—'बेवरीज रिपोर्ट'! आह, वह युद्धोत्तर परिस्थिति पर विचार कर रहा है। लेकिन हमें युद्धोत्तर काल की क्या चिंता है! तब तक हम मर चुके होंगे। देखें, 'डेली मिरर' में जेन क्या कर रही है? हम पृष्ठ उलटते हैं, उसके पैरों के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हैं और मैं अपने चारों ओर के चेहरों को गौर से देखता हूँ और जो मैं देख पाता हूँ, उससे मुझे प्रसन्नता होती है। मैं खुश हूँ।

"हम भोजन-गृह की ओर जाते हैं और बाद में, अलाव के इर्द-गिर्द बैठते हैं, शराब मँगाते हैं...और मँगाते हैं, फिर गप्पें लड़ाते हैं। समय बीतता जाता है। क्या मैं दुःखी हूँ? हाँ, लेकिन थोड़ा-सा—बहुत थोड़ा-सा; क्योंकि कल मुझे पुनः उड़ान भरनी होगी।"

किंतु स्नेह और सुख के ऐसे क्षण थोड़े ही होते हैं और जो होते हैं, वे भी

दिखावटी—कृत्रिम। तुरत ही, उसके मन पर एकाकीपन एक बार फिर हावी हो जाता है। उसकी जिंदगी के दिन गिने हुए हैं। अब उसे केवल दस ही दिन जीना है।

वह एक पत्र में लिखता है—"मैं के. के सिद्धान्त पर विचार करता हूँ। जब तक व्यक्ति शारीरिक रूप से थक नहीं जाता है, तब तक मृगतृष्णा के पीछे पागलों-सी दौड़-धूप चलती रहती है।

"आज रात मुझे लगभग विश्वास हो गया है कि वह ठीक कहता है। किंतु उसका सिद्धांत ठीक नहीं होना चाहिए; क्योंकि 'मित्रता और सुख' की तलाश में ही मैं वापस आया हूँ।"

दस दिन और—फिर यह सारी दौड़-धूप खत्म हो जायेगी। लेकिन क्या यह सच है कि वह इसी कारण वापस आया था? पर मित्रता किससे? मुहासेवाले युवक के पीछे नोएल अंगेज़ेरियन, पीटर पीज़ और कोलिन पिंकने तथा दूसरे मित्रों की आकृतियाँ हैं। अपने साथियों में—ब्रिटेन की लड़ाई में भाग लेने वाले उड़ाकों में—वह अकेला बचा था। हवाई अड्डे के युवा वायुयानचालक "किसी न-किसी रूप में पहले की तरह नहीं हैं।" हिलारी केवल २३ वर्ष का था; लेकिन वह बहुत वृद्ध दीखता था—मानो पिछली पीढ़ी का हो! एक-के-बाद-एक उसके सब साथी मारे गये थे। इस सम्बंध में हिलारी ने अपनी पुस्तक "द' लास्ट एनिमी" में एक वाक्य लिखा है। वह वाक्य समाधि-पत्थरों की कतार के समान ही प्रतीत होता है। "इस उड़ान से ब्रूडी बेंसन वापस नहीं आया। इस उड़ान से बबल वाटरसन वापस नहीं आया। इस उड़ान से लैरी कनिंघम वापस नहीं आया।" जब-जब वे वायुयान-चालक अपने-अपने वायुयान पर चढ़े और युद्ध के लिए रवाना हुए, तब ऐसा लगता था, मानो वे अपने दिवंगत साथियों को भावुकतापूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करते थे। हिलारी अकेला बच गया था और उन्हें श्रद्धांजलियाँ अर्पित करने जाता था; क्योंकि जीवित बच जाने वाला सदा कर्जदार रहता है। हिलारी ने सोचा था, वह वापस आया है, जीवित प्राणियों से मित्रता करने, जब कि मृतकों से उसका पहले से ही भाई-चारा था।

हम देखते हैं कि अपने ध्येय की मीमांसा करने और उसे विवेकपूर्ण बनाने का उसका यह प्रयास पहले के प्रयासों के समान ही, सत्य का आधार लिये था—लेकिन पूर्ण सत्य नहीं। शायद अंतिम और पूर्ण सत्य उन सूत्रों से निर्मित—जिन्हें हमने एकत्र किया, कुछ समय के लिए उनका अनुसरण किया और फिर उन्हें छोड़ दिया—एक ढाँचा है। पर सब सूत्रों को एकत्र करने से ही ढाँचा

नहीं तैयार हो जाता है। उसका अपना प्रतीकात्मक स्वरूप है, जिससे ये सूत्र बिलकुल अनजान हैं। वे मामूली धागे हैं—कारण और प्रभाव से बुने हुए धागे; किंतु पूर्ण हुए स्वरूप में प्रभाव, कारण का संचालन करता प्रतीत होता है। धागे अस्थायी हैं और ढाँचा स्थायी!

३

शायद मुझ पर कल्पित कथा गढ़ने का आरोप लगाया जाये। कुछ लोगों को अपने नायकों को मिट्टी की प्रतिमाओं के रूप में देखना पसंद है—कुछ लोग एक दूरवीक्षण यंत्र से, सिर-से-पैर तक उनकी जाँच करना पसंद करते हैं। पहली श्रेणी के व्यक्तियों को हिलारी के पत्रों के प्रकाशन से दुःख पहुँचेगा, जब कि दूसरी श्रेणी के व्यक्ति प्रसन्न होंगे। अंतिम दिनों के उसके पत्र वस्तुतः बड़े भयानक हैं। ये उस आदमी के पत्र हैं, जो शीशे में स्वयं को देखकर यह जान लेता है कि वह समाप्तप्राय है। हिलारी ने लिखा है—

"दिन-भर रो-रोकर मेरी आँखें फूल गयी हैं। अपने कमरे में, एकांत में, मैं घंटे-भर तक एक छोटे बच्चे की तरह रोता रहा था। क्यों? डर के कारण! अभी तक मैंने यह नहीं देखा है कि वायुयान कैसा है और अब तक मैं यह नहीं जानता हूँ कि रात भयावह होगी अथवा नहीं। यहाँ के वातावरण के कारण ही इस भय की सृष्टि हुई है? बहुत-कुछ अंश में ऐसा ही है, यह मैं जानता हूँ। शायद वायुसेना में 'नैतिक सूत्र का अभाव' इसे ही कहा जाता है। मुझे बहुधा ताज्जुब होता है। एक बार व्यक्ति का धैर्य टूट जाने के बाद ऐसा ही होता होगा। किंतु मुझे किसी चीज का स्पष्ट डर नहीं लगता। केवल मैं दुःखी हूँ—इतना दुःखी कि कहा नहीं जा सकता...।"

यह दुःख मुख्यतया शारीरिक कारणों से ही है। हिलारी लिखता है—"...मैं कुछ स्वार्थी हूँ। इसलिए मेरे सामने यही प्रश्न मुख्य है कि यहाँ की अत्यंत तीव्र ठंड मेरे हाथ-मुँह की जली हुई चमड़ी को कहीं निर्जीव न बना दे। उससे भी अधिक डर इस बात का है कि मेरी आत्मा में पैठ कर यह ठंड मेरे सारे शरीर को निर्जीव बना देगी। मेरे अंतर्मन में छिपा हुआ भय ही यहाँ के वातावरण के कारण बाहर निकल आया है।...इस जगह, रात्रि के समय, इस ठंड में मैं मर जाऊँगा, यही भय मुझ पर हावी होता जा रहा है।"

निश्चय ही, उसने साहस नहीं छोड़ा था। हवाई अड्डे पर किसी को उसकी

इस मनोव्यथा का आभास तक नहीं था। वहाँ के लोग उसे खूब पसंद करते थे। अपने दग्ध मुँह और हाथ के साथ अपने कृत्रिम होंठों पर बच्चों-सी सरलता बिखेरे जब कदम बढ़ाता वह हवाई अड्डे की ओर जाता, तो लोग उसे देखते ही रहते थे। वे उसे 'दिलचस्प प्राणी' के नाम से पुकारते थे। और वहाँ की दिनचर्या थी, मद्यपान, नृत्य और विमान-दुर्घटनाएँ। वह इन सब का आदी बन गया था।

उसके जीवन में कुछ क्षण निराशा के थे, तो कुछ हर्ष के। एक पत्र में वह लिखता है—

"आज काफी अच्छा लगता है; क्योंकि आज मैंने वास्तव में उड़ान भरी है।...सर्दी से दाँत किटकिटा रहे हैं, इसीसे पैदल चलना पड़ता है, अन्यथा यह समय हवाई अड्डे पर मौन बैठकर इस प्रशांत स्तब्धता की ओर एकटक देखते रहने का है। सर्वत्र निस्तब्धता विराज रही है। उड़नेवाले और नीचे उतरनेवाले वायुयानों की मशीनों की आवाज़ ही सिर्फ सुनायी देती है।

"मनोविज्ञान की दृष्टि से यह बात कितनी अद्भुत प्रतीत होती है कि मेरा संहार करने का अवसर खोजनेवाले उस फौलादी वायुयान में कदम रखते ही मेरा भय भाग जाता है और मन को शांति महसूस होती है।"

उसके जीवन में कुछ क्षण अत्यंत अन्यमनस्कता के भी होते है, जिनके लिए उसकी इच्छा होती है कि ये जल्दी से जल्दी समाप्त हो जायँ। मृत्यु से एक सप्ताह पूर्व ही, उसने हवाई अड्डे पर एक नृत्य देखा था। उसका उल्लेख करते हुए वह लिखता है—

"मुझे अब सोने जाना है; लेकिन मदिरा के नशे में मदहोश लोगों को देखने के लिए मैं रुका हूँ। रात के ढाई बज रहे हैं; फिर भी मैं यहीं रुका हूँ। न जाने क्यों, कुछ खोया-खोया सा लगता है। यह भावना युवकों और अधेड़ स्त्रियों में पायी जाती है! मैं इस भावना पर बहुत पहले ही काबू पा चुका हूँ—कुछ खोने का भय—फिर भी मैं रुका रहा।"

सबसे बुरा यह है कि अपने 'अहंकारी अभिप्रायों' के लिए वह स्वयं का तिरस्कार करता है। वह लिखता है—"इस लम्बे और स्वयं पर तरस खानेवाले पत्र के लिए मुझे क्षमा करना (मुझे विश्वास है, यह सच है)। अगर सम्भव हो, तो मेरे लिए शर्मिंदा मत होना।" दिवंगतों के भाईचारे का यह विचित्र शिष्टाचार है। उनके साथ सम्बंध बनाये रखने के लिए मृत्यु को अपनाना ही पड़ेगा—यह भावना हिलारी के मन में घर कर चुकी थी। किंतु पुनः, लेखक होने

के नाते उसमें यह जानने की उत्सुकता भी है कि उसकी नाड़ी की गति क्या है; लम्बे-लम्बे पृष्ठों पर अपनी मनोव्यथा का चित्रण करने की इच्छा भी है। आत्मनिरीक्षण और आत्मवंचना, स्वीकृति और विद्रोह, अहंकार और विनय, तेईस वर्ष की उम्र और अनंत काल—इन द्वंद्वों में उसका मन परेशान हो जाता था।

एक दूसरे पत्र में वह लिखता है—"कोस्लर (Koestler) के पास इसके लिए एक सिद्धांत है। उसका विश्वास है कि हमारे जीवन की दो अवस्थाएँ हैं—एक दुःखद जीवन और दूसरा, तुच्छ जीवन। प्रायः तुच्छ जीवन की सतह पर हम विचरते हैं; किंतु समय-समय पर, गर्व और भय के क्षणों में हम स्वयं को दुःखद जीवन की सतह पर स्थानांतरित पाते हैं। मानवीय अवस्था का एक दुर्भाग्य यह है कि हम किसी सतह पर स्थायी रूप से नहीं रह सकते, बल्कि दोनों के बीच झूलते रहते हैं। जब हम तुच्छ जीवन की सतह पर होते हैं, तब दूसरे की यथार्थताएँ बकवास लगती हैं। जब हम दुःखद जीवन की सतह पर रहते हैं, तब दूसरे के सुख-दुख छिछले और मूर्खतापूर्ण लगते हैं। कुछ लोग सारी जिंदगी यह तय करने में ही बिता देते हैं कि किस सतह पर रहा जाये। वे इस सत्य को पहचानने में असमर्थ रहते हैं कि हमें बारी-बारी से दोनों सतहों पर रहने का दंड मिला हुआ है। किंतु ऐसा होता है कि असाधारण परिस्थितियों में—उदाहरणार्थ, यदि किसी को लम्बे अर्से तक शारीरिक संकट की स्थिति में रहना है—व्यक्ति दोनों सतहों की विभाजन-रेखा पर आ जाता है। यह एक अद्भुत स्थिति है—कसे हुए रस्से पर चलने के समान ही। चूँकि बहुत कम लोग इसे सह सकते हैं, अतः वे सिद्धांतों और धारणाओं को विस्तृत कर देते हैं—उदाहरणार्थ, वायुसेना की भद्दी भाषा और किसी बात को दबा कर कहने का तरीका। दूसरे शब्दों में, वे दुःखद और तुच्छ सतह को एक सदृश करने की चेष्टा करते हैं। कोस्लर के विचार से, दुःखद और प्रबल सिद्धांत को एक प्रतिष्ठित लौकिक सिद्धांत में बदल कर स्थिर कर देना, सभ्यता की क्रमिक उन्नति का मुख्य मार्ग है। मेरे विचार से वह सही है।"

यथार्थ में, मैं अभी भी विश्वास करता हूँ कि लक्षणों के अनुसार यह सही है। एक सतह से दूसरी सतह की उछाल ही साधारण व्यक्तियों को नायक बना देती है—मनोविज्ञान को धर्म में बदल देती है। ब्रिटेन के युद्ध में हजारों ऐसे प्रतिबिम्ब पृथक्-पृथक् देखने को मिले। सिर्फ समय बीतने का भी यही परिणाम है; क्योंकि वर्तमान मुख्यतः तुच्छ सतह पर है, जब कि इतिहास सदा दुःखद

सतह पर रहता है। जिस प्रकार ज्वालामुखी फूटने पर, (पम्पाई में जैसा हुआ) पाठशाला जानेवाले बच्चे गोलियाँ खेलते-खेलते प्रस्तर-स्मारक में बदल जाते हैं, उसी प्रकार मानव पर युद्ध का दुःखद परिणाम होता है।

किंतु शायद कोई यह कहेगा कि लावा ने उन लड़कों को स्मरणीय बना दिया!

४

दोनों सतहों की विभाजन-रेखा पर—कसी हुई रस्सी पर—चलने का अभिशाप एक प्रकार के व्यक्ति को और मिला है—कलाकार को, विशेष कर लेखक को। यान-चालक दुःखद सतह को तुच्छ सतह की ओर बढ़ाकर यह तनाव सह सकता है; किंतु कलाकार दूसरी ओर बढ़ता है। वह दुःखद अथवा सम्पूर्ण सतह के स्वरूप से तुच्छ को देखने का प्रयास करता है।

क्या हिलारी एक लेखक की हैसियत से ऐसा करने में सफल रहा? आशा तो स्पष्ट ही लक्षित है, मेरा विश्वास है, उसे सिद्धि भी मिल जाती। वायुसेना के लेखकों में सेंट इक्सपरी (St. Exupèry) के साथ उसका एक विशिष्ट स्थान है। दूसरों की तुलना में—"जहाँ लोग कैमरा हाथ में लिये प्रतीक्षा करते रहते हैं कि संयोग मिले और उन्हें अच्छी तस्वीरें उपलब्ध हों"—वह एक पेशेवर कैमरामैन (फोटोग्राफर) की तरह सिद्धहस्त है, जिसे सदा अच्छी तस्वीरें मिल जाती हैं—संयोग चाहे उपलब्ध हों अथवा नहीं।

"द' लास्ट एनिमी" नामक उसकी पुस्तक से यह सिद्धहस्तता स्पष्ट दिखायी देती है। उसकी लेखनी में प्रथम श्रेणी का सजीव चित्रण करने की योजना है। यथार्थता, सुस्पष्टता, तेजस्विता, अर्थ-गाम्भीर्य, उत्साह—आदि सभी आवश्यक गुण उसमें थे। इस पुस्तक के दो प्रकरणों के लिए मैं उसे युद्ध का सर्वोत्तम चित्रण करनेवाली पुस्तक कहूँगा। ये प्रकरण हैं—"द' वर्ल्ड आन पीटर पीज" और 'आइ सी, दे गाट यू टू।' और, इन्हीं दो प्रकरणों से यह सिद्ध होता है कि वह केवल रिपोर्टर ही नहीं था। इन प्रकरणों में वह नैतिकता के मूल्यांकन की समस्या सुलझाने की चेष्टा करता है। और यहाँ उसकी सारी सुविधा, सारी वाक्-चपलता उसका साथ छोड़ देती है। उसकी भाषा नीरस बन जाती है। उसके विचार उलझ जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भावातिरेक के कारण वह घबड़ा जाता है और इसी से ठहर-ठहर कर बोलता है। वह अपनी पुस्तक में लिखता है—

..."मैं इन व्यक्तियों के बारे में लिखूँगा, पीटर के बारे में और दूसरों के बारे में लिखूँगा। मैं उनके लिए उनके साथ रहकर लिखूँगा। वे मेरी बगल में रहेंगे। इन व्यक्तियों से अथवा जिसे सम्बोधित करके मैं यह पुस्तक लिखूँगा, उनसे मेरा अभिप्राय किनसे है, मैं यह भी जानता था—मानवता से। मानवता ही किसी पुस्तक का पाठक-वर्ग है। हाँ, वही तिरस्कृत मानवता—जिसका मैंने पीटर के सम्मुख उपहास किया था, जिसे मैंने धिक्कारा था।"

भावना के आवेग में लिखे उन दो सर्वांग सुंदर प्रकरणों की और इसकी तुलना करके देखिये, तो ज्ञात हो जाता है कि कहाँ आशा सिद्धि से दूर हो जाती है। भावना-प्रधान ज्ञान का उल्लंघन और यथार्थता को सूचित करने की सुविधा ही दो ऐसे मूल गुण हैं, जो लेखक को जन्म देते हैं। "द' लास्ट एनिमी" के लेखक के बारे में ऐसा आभास होता है कि पुस्तक में इन दोनों का समन्वय करनेवाले का अलग-अलग अस्तित्व है। किंतु पुस्तक में ऐसे स्थल भी हैं—और ऐसे स्थल काफी हैं—जहाँ लेखक के दोनों रूप वस्तुतः मिलते हैं। उदाहरणार्थ, आँखों-देखी विमान की प्रथम प्राणघातक दुर्घटना के सम्बंध में वह लिखता है—

"एक झोंपड़ी में 'शस्त्रविद्या' पर व्याख्यान हो रहा था। व्याख्यान समाप्त हुआ ही था कि हमारे कानों में, काफी ऊँचाई से आनेवाली चीख टकरायी। आकाश से नीचे की ओर तेजी से गिरते हुए वायुयान से वह चीख सुनायी पड़ी थी। कारपोरल (फौज का एक छोटा अफसर) नीचे बैठ कर सिगरेट पीने की तैयारी करने लगा। उसने सिगरेट का कागज निकाला, तम्बाकू का डिब्बा खोला, कागज पर थोड़ी तम्बाकू रखी, उसे लपेट कर सिगरेट बनाया और कागज के कोर पर जीभ फिराकर उसे चिपका दिया। सिगरेट उसने मुँह में लगाया और तभी हमने यान के गिरने की आवाज़ सुनी। हम जहाँ थे, वहाँ से कोई एक मील के फासले पर यह दुर्घटना हुई होगी। सिगरेट सुलगाते हुए, वह अफसर बोला—'मुझे इसके पहले घटी एक ऐसी ही दुर्घटना की याद है। मैं उस समय सफाई-दल में था। वह कोई अच्छा दृश्य नहीं था!'

"बाद में, हमें ज्ञात हुआ कि युद्ध-सामग्री लेकर आदमी अधिक-से-अधिक कितनी ऊँचाई पर जा सकता है, वह यान इसी की परीक्षा कर रहा था। चालक सम्भवतः बेहोश हो गया होगा। उसके अवशेष नहीं मिले; किंतु हमने शव-पेटी रेत से भरी और बड़ी धूम-धाम से उसका अंतिम संस्कार किया।"

यह है दुःखद और तुच्छ का मिलन। अस्पताल के प्लास्टिक सर्जरी के

भयानक कमरे का वर्णन करनेवाले अध्याय "द' ब्यूटी शॉप" में भी हम इसे पाते हैं। उस "ब्यूटी शॉप" में नाक, कपाल से आगे निकली होती है, कृत्रिम सफेद होंठ मरक्यूरोक्रोम से लाल रंगे होते हैं, कृत्रिम पलकें, जिनका उपयोग नहीं हो पाता और जो बेकार हो जाती हैं, तोड़ कर टोकरी में फेंक दी जाती हैं। किंतु यह सब ऐसे उत्तम और विलक्षण ढंग से कहा गया है कि बुरा अनुभव करने के बजाय हम उन्मुक्त हँस पड़ते हैं। यह खूबी उसे कैसे प्राप्त हुई? यह विभाजन-रेखा पर चलने का ही प्रभाव है; क्योंकि जो हमें विलक्षण प्रतीत होता है, वह वस्तुतः तुच्छ के विकृत दर्पण में दुःखद का प्रतिबिम्ब है।

इस प्रकार के प्रसंग पुस्तक में भरे पड़े हैं। हर दूसरे या तीसरे पेज पर ऐसे प्रसंग मिलते हैं—आक्सफोर्ड की स्मृतियाँ, जर्मनी में हुई एक नाव-दौड़, बम फेंकनेवाले हवाई जहाज से प्रथम सम्बंध, आतंकपूर्ण रात्रिकालीन उड़ान, टार्फसाइड (Tarfside) के बच्चे, उड़ाकों के चित्रण, हवाई सेना के प्रतिरूप—हवाई अड्डे का वातावरण, दुर्घटनाएँ, मृत्यु, शराब में मत्त रहना, आपरेशन...और अधिक आपरेशन, अंधापन, नर्सों के साथ झगड़े और दर्शन-सम्बंधी बातें। जीवन की दोनों सतहें अभी तक मिली नहीं हैं; किंतु एक पर विचरते हुए, वह दूसरी सतह से भी सम्बंध रखता है। और, इससे यह विश्वास होता है कि अगर उसे कुछ सालों तक और जीवित रहने तथा कुछ और पुस्तकें लिखने का अवसर मिला होता, तो आशा पूरी हो गयी होती।

परंतु अब, साहित्य में हिलारी के नाम पर स्थान सदा रिक्त रहेगा, तथापि हम इस रिक्तता की कुछ आशावादिता के रूप में व्याख्या कर सकते हैं। 'बुर्जुआ' (Bourgeois) उपन्यास दिन-प्रति-दिन नीरस एवं निस्सार बनते जा रहे हैं; क्योंकि जिस युग में उनका जन्म हुआ था, वह युग ही अब समाप्त हो चला है। सुसंस्कृत मध्यमवर्ग से मानवतावादी नये लेखकों का उदय हो रहा है। इनमें हवाई सैनिक, क्रांतिकारी, साहसिक व्यक्ति, संकटपूर्ण जीवन बिताने वाले व्यक्ति शामिल हैं। इन लेखकों ने पर्यवेक्षण की एक नयी क्रियात्मक प्रणाली, अद्भुत अंतरावलोकन और इससे भी अधिक अद्भुत चिंतन की प्रवृत्ति अपनायी है—साथ में अध्यात्मवाद भी। सेंट इक्सपरी, साइलोन, ट्रेवेन, हेमिंग्वे, मालरौक्स, शोलोचाउ, इस्ट्रेटी अग्रगामी हो सकते हैं, और हिलारी भी उनमें स्थान पा सकता था। किंतु एक पतली-सी पुस्तक, पत्रों का संग्रह, दो छोटी-छोटी कहानियाँ—बस, इतना ही शेष है और यह उस रिक्तता को भरने के लिए पर्याप्त नहीं।

थामस मेन का कहना है कि दीर्घकाल तक लोग याद रखें, इसके लिए पुस्तक

का उत्कृष्ट होना ही नहीं, बल्कि आकार में भी बड़ा होना आवश्यक है। दुर्भाग्य-वश यह सत्य होने पर भी हिलारी की पतली-सी पुस्तक पाठकों की स्मृति की गहराई में जा बैठने के लिए काफ़ी वजनदार है—जब कि बहुत-सी वजनदार पुस्तकें स्मृति की ऊपरी सतह तक ही रह जाती हैं।

आख़िर वह कौन-सी चीज़ है, जो इस युवा यान-चालक और लेखक के जीवन-मरण को प्रतीक बना देती है? हमारे इस आरम्भिक प्रश्न का उत्तर अभी तक बाकी है। क्योंकि यह प्रश्न जिन विचारों या मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है, अंततः उन्हें, उसकी पीढ़ी और वर्ग के विचारों तथा मूल्यों में समाहित होना ही है। यही उसने अपनी पुस्तक में लिखा है—

"विश्वविद्यालय के अधिक बुद्धिमान् विद्यार्थियों में आत्मनाश का बीज अधिक स्पष्ट दिखायी दे रहा था। ये विद्यार्थी जिस मध्यमवर्ग से आये और विद्या प्राप्त कर सके, उसी मध्यमवर्ग का तिरस्कार करने लगे—उसी पर हमला करने लगे। इन्हें इसमें बढ़ावा मिला, अपने साहित्यिक आदर्शों से—ओडेन, इशरवुड, स्पेंडर तथा डे लेविस के प्रति अपनी असंदिग्ध भक्ति से। इस प्रकार अपने वर्ग के सीमित दृष्टिकोण के बंधन से इनकार करने पर भी यथार्थवादी मजदूर-नेताओं द्वारा वे संदेह से देखे जाने लगे। वे उन्हें 'बुर्जुआ' 'आदर्शवादी' आदि कहने लगे। एक तिरस्कृत विश्व, जिससे वे आये थे और दूसरे, तिरस्कार करने वाले विश्व, जिसमें वे प्रवेश करने वाले थे, के बीच बड़ी संदिग्धता और झुंझलाहट के साथ वे अपना संतुलन बनाये हुए थे।"

तो इस रूप में उसने अपना अतीत देखा। परंतु उसके सम्बंध में तथा तत्कालीन वातावरण के सम्बन्ध में इसके विपरीत जानकारी देनेवाला एक पत्र उपलब्ध है। यह पत्र हिलारी की मृत्यु पर ट्रिनिटी कालेज के उपप्रमुख ने हिलारी के पिता को सांत्वना देते हुए लिखा था—

"...फिर डिक अपने मोहक और महान् व्यक्तित्व के साथ पहुँचा और साल समाप्त होते ही उसने जो पराक्रम दिखाया, वह हमारी संस्था के इतिहास में अमिट रहेगा। हमारी संस्था-भर में उसका वर्ग उत्कृष्ट था और डिक अपने वर्ग में उत्कृष्ट था। एक नौका-दौड़ में उसने जिस फुर्ती और बहादुरी का परिचय दिया, वह अविस्मरणीय है—उसके चलते हमारे विद्यालय को जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, वह कभी धूमिल नहीं होने की। सन् १९३९ में भी उसके अदम्य उत्साह और कौशल से विद्यालय की प्रतिष्ठा बनी रही, जो विद्यालय ने पिछले

वर्ष उसके नेतृत्व में पायी थी। और तब यह निर्दय युद्ध छिड़ा..."

मेरा अनुमान है, इसे कोई एक विपक्षी तर्क कह सकता है; किंतु इसके बिना कुछ सध नहीं सकता। नौका-दौड़ में उसने विलक्षण वीरता का परिचय दिया। वह और ओडेन एक प्रकार से एक-दूसरे के पूरक हैं। उस वीरता के अभाव में वह ब्रिटेन के युद्ध में भाग नहीं लिये होता; और ओडेन के प्रति भक्ति नहीं होती, तो "द' लास्ट एनिमी" पुस्तक नहीं लिखी जाती। अपनी परम्परा के विरुद्ध जिस वेग से इन युवकों पर प्रतिक्रिया हुई थी, वह प्रमाणित करता है कि उस पर परम्परा की पकड़ कैसी मजबूत थी। मनुष्य पर परम्परा का परिणाम दो प्रकार से होता है—एक संहारक और दूसरा शुद्धिकारक! अधिकांश व्यक्तियों पर उसका पहला परिणाम होता है—हिलारी की गणना दूसरे वर्ग में होती है, जिसमें बहुत कम लोग होते हैं। आक्सफोर्ड की शिक्षा का जो इस पर परिणाम हुआ, उसे वह कुछ उल्लेखनीय पंक्तियों में कहता है—

"मैंने वहाँ ग्रुप पढ़ा। उससे अधिक महत्त्व की बात यह है कि कितनी मदिरा पी जाये, महिलाओं के साथ किस प्रकार शिष्ट व्यवहार करना चाहिए, किसी की आँखों में गड़े तथा स्वयं को उलझन में डाले बिना, दूसरों से कैसे सम्बन्ध बनाये रखा जाये—इन सबकी शिक्षा मुझे वहीं मिली। परिणामतः मुझ में थोड़ा आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ। शिक्षा की किसी अन्य प्रणाली से मेरे लिए यह सर्वथा असम्भव था।"

लेडी फार्टेस्क्यू ने हिलारी के सबन्ध में उसकी प्रशंसा करते हुए कुछ लिखा है, जो प्रकाशित नहीं हुआ है। वे लिखती हैं—..."डेवान में जंगल की सफाई के समय, मैंने रिचार्ड हिलारी की अंतिम उड़ान के बारे में सुना। मौन बैठकर मैं, हवा में बाजों को चक्कर काटते देखती। वे झपट्टा मारने को तैयार रहते और तब अपने शिकार पर टूट पड़ते। हिलारी ने भी अपने बम-वर्षक यान का इसी कुशलता से संचालन किया था। हमें और इंग्लैंड को सुरक्षित रखने के लिए, संकटों की पर्वाह किये बिना, दुश्मनों के विघ्नों की ओर से बेफिक्र वह मौत के मुँह में कूद पड़ा।"

यह दूसरा विपक्षी तर्क कहा जा सकता है। किंतु हिलारी की स्वयं अपने सम्बन्ध में इसके विपरीत धारणा थी। "द' लास्ट एनिमी" में उसने लिखा है—

"...३ सितम्बर, १९३६ के दिन आक्सफोर्ड के युवकों की टुकड़ी युद्ध के लिए गयी...हम लोग भ्रमजाल में फँस गये थे और हमारा सब-कुछ नष्ट हो गया था। समाचार-पत्रों ने 'विनष्ट पीढ़ी' के रूप में हमारा उल्लेख किया और

हम अप्रसन्न नहीं हुए। बनावटी तौर पर हम स्वार्थपरायण और अहंकारी थे, किंतु अहंकार करने योग्य दिव्य अनुभूति हममें नहीं थी। महायुद्ध ने हमारी यह कमी पूरी कर दी। इसके लिए कोई बहुत बड़े पराक्रम की आवश्यकता नहीं थी। यद्यपि हम अनुशासनबद्ध नहीं थे; फिर भी हिटलर की सेना के संकल्पी युवकों की तुलना में इस किसी प्रकार कम भी नहीं थे। संसार के सम्मुख यही बात प्रमाणित करने का अवसर इस महायुद्ध ने हमें दिया।"

अपना अंतर पक्षपातरहित और निरभिमानी रखते की कह कैसी व्यग्रता है? कुछ लोग अपने कर्मों को निष्कलंक रख के मरते हैं और कुछ लोग अपने अंतःकरण को निष्कलंक रख कर मृत्यु का वरण करते हैं। पहले वाले ढंग से मरना आसान है—उनका जीवन-मरण उद्‌गार-चिह्नों द्वारा शासित होता है। किंतु हिलारी के लिए कठिन मार्ग था। इस मार्ग के अनुयायियों का जीवन-क्रम प्रश्न-चिह्नों से भरा रहता है, जिनको उन्हें स्वयं सीधा करना पड़ता है।

किंतु जिस लक्ष्य की ओर वे संकेत करते हैं, हम उसका केवल अनुमान लगा सकते हैं। उसके सिद्धांतों और तर्कों से हम इसका अनुमान नहीं लगा सकते, बल्कि उसकी रचनाओं के उन अंशों से ही इसका अनुमान लगाया जा सकता है, जहाँ वह अपने से बेसुध और अस्पष्ट है। वह पीटर पीज़ से—वही पीटर, अपने मित्रों में वह जिसकी सबसे अधिक प्रशंसा करता है, जिसकी मृत्यु वह अपनी कल्पना-दृष्टि में देखता है और जिसकी स्मृति उसके लिए पीड़ादायक होने के साथ-साथ धर्म का रूप ले लेती है—कहता है—"इस युग में अपने देश को प्यार करना भद्दा, ईश्वर से प्रेम करना पुराणपंथी और मानवता को प्यार करना भावुकता मानी जाती है, किन्तु तुम इन्हीं तीनों से प्यार करते हो!" और उस एक वाक्य तथा उसके तीनों उपेक्षापूर्ण विशेषणों द्वारा हम उसके आवरित गृह-प्रेम की एक झलक पाते हैं, जो अपना अंतःकरण निष्कलंक रख कर मरते हैं।

शत्रु को छलने की कलापूर्ण सैनिक विधि और चपलता के बावजूद, कोई "संगठित भावना और देशभक्ति के अनादर" की भावना-मात्र से प्रेरित होकर स्वयं को तीन-तीन बार मृत्यु के मुँह में नहीं भेजता है। सुनने में तो यह बहुत अच्छा लगता है; पर सचाई यह नहीं है। किंतु ऐसा होता है—सम्भवतः जब कोई सामान्य से अधिक भावुक, वीर तथा गृह-प्रेम की बीमारी से पीड़ित होता है, तब वह ऐसा करता है—एक ऐसी भावना, ऐसे स्वीकृत मत की खोज में निकलता है, जो न तो भावुकतापूर्ण हो, न भद्दा और न प्राचीन तथा जिसके

सम्बंध में कोई बिना किसी शर्म और दुःख के बोल सके। जब सभी वाद अर्थहीन हो जाते हैं, संसार कुटिल प्रश्नचिह्नों से पूर्ण हो जाता है, तब निश्चय ही, ईश्वर के प्रति मनुष्य की उत्कंठा इतनी प्रबल हो उठती है कि वह लौ पर झपटने वाले पतिंगे के समान आचरण करता है और अपने पंख जलाकर लौट आता है। किंतु यह अवश्य ही मानव की एक ऐसी सहज प्रवृत्ति है, जिस पर विवेक का जोर नहीं चल सकता।

वस्तुतः रिचार्ड हिलारी की तीन बार मृत्यु हुई—वह तीन बार जलाया गया। पहली बार आपरेशन करके और टुकड़े जोड़-जोड़ कर उसे नया चेहरा दिया गया। यह व्यर्थ था; क्योंकि दूसरी बार उसका शरीर झुलस कर जले कोयले के समान हो गया था; किंतु जो प्रक्रिया है, वह अवश्य पूरी हो, इसीसे उसकी इच्छा थी कि उसे विधिवत् दफन किया जाये। अतः गोल्डर्स ग्रीन में १२ जनवरी, १९४३ को उन्होंने तीसरी बार उसका अंतिम संस्कार किया और कोयला राख बन गया—राख समुद्र में मिल गयी।

यहीं मनुष्य का जीवन समाप्त होता है और दंतकथा आरम्भ होती है। यह, विनष्ट पीढ़ी—अधार्मिक युद्ध लड़नेवालों, अयोग्य सरदारों और उन व्यक्तियों की, जिन्हें लड़ने के लिए कुछ भी चाहिए—की दंतकथा है। यह बिना किसी क्रास के धर्मयुद्ध और क्रास की तलाश में भटकने वाले धर्म-योद्धाओं की दंतकथा है। कौन-सा धर्म—ईसा का अथवा बाराबास का—वे ग्रहण करेंगे, यह देखना अभी बाकी है।

बुद्धिजीवी वर्ग *

जो शब्द समझने में सरल, किन्तु जिनकी व्याख्या कठिन होती है, उनमें 'बुद्धिजीवी' एक है। तार्किक दृष्टि से वह अस्पष्ट किन्तु भावनात्मक दृष्टि से स्पष्ट है। इसके आस-पास कई प्रभामंडल घूमते हैं और स्थल तथा काल के अनुसार एक-दूसरे से टकराते हैं। उदाहरणार्थ, दीवानखाने में बैठकर कल्पना के चित्र रँगनेवाला व्यवसायी मध्यमवर्ग, १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में रूस का विद्यार्थी और उच्चवर्ग का क्रान्तिकारी-संगठन, नेपोलियन के बाद के युग में जर्मनी के विश्वविद्यालय के देशाभिमानी विद्यार्थी आदि—ये सब बुद्धिजीवी ही माने जाते हैं। उनके कपड़े अलग, बालों की बनावट अलग, खान-पान भी अलग-अलग। इस वर्ग की श्रेणी सदैव बदलती रहती है। इस वर्ग के प्रतिनिधियों के कालानुसार गुट, वर्ग, विभाग और उपविभाग बनते हैं। उनके आस-पास की परिस्थिति के कारण उनका वर्ग ढँक जाता है। इसका सही अर्थ प्राप्त करने के लिए आक्सफोर्ड डिक्शनरी देखना ही उचित है। उसके सन् १९३४ की तीसरी आवृत्ति में लिखा है—

'बुद्धिजीवी' स्वतंत्र विचार की इच्छा धारण करनेवाला, राष्ट्र का—विशेषतः रूस का—एक भाग।

१९३६ की आवृत्ति में उस समय की परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार इस शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है—"समाज का वह सुशिक्षित वर्ग, जो लोकमत तैयार करने के लिये योग्य समझा जाता है।"

दूसरा अर्थ स्पष्टतः अत्यन्त आशावादी सिद्ध हुआ है, इसलिए पहले के उचित अर्थ को ही हमें आधार मानना चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाये, तो बुद्धिजीवी की एकमात्र विशेषता होगी—"विचार-स्वातंत्र्य की आकांक्षा धारण करने वाला।"

यह आकांक्षा राष्ट्र के एक ही भाग में क्यों निर्मित होती है? हमारे इस वर्गबद्ध जग में, सरदारों और मजदूरों की संतानों में सहज एकता नहीं होती। कालविशेष और स्थल-विशेष का बुद्धिजीवी वर्ग समाज के प्रायः एक ही स्तर से आता

* प्रथम बार 'होराइजन' (लन्दन) मार्च १९४४ में प्रकाशित।

है। उसके छूटे हुए धागे ऊपर ही दिखायी देते हैं। बुद्धिजीवी वर्ग का अंग बनने के लिए केवल बुद्धि का ही होना आवश्यक तथा पर्याप्त नहीं, वरन् इस वर्ग के तैयार होने के लिए समाज की विशेष रचना भी अनिवार्य है। अर्वाचीन समाज की दृष्टि से ऐसी रचना का आरम्भ फ्रान्स की क्रान्ति से हुआ है।

२—बुद्धिजीवी वर्ग और तीसरी अवस्था

समाज की 'तीसरी अवस्था' वह थी, जिसके अनुसार विचार-स्वातंत्र्य की लालसा के लिए आवश्यक चीज कोई शौक की वस्तु नहीं, वरन् एक महान् आवश्यकता थी। तानाशाही के नीचे चूर होनेवाला मध्यम वर्ग अपना ऐतिहासिक स्थान प्राप्त करना चाह रहा था, और उसके लिए वह अपने विचार-स्वातंत्र्य की सुरंग लगा कर तानाशाही के किले को उड़ा देना चाहता था। प्रथम आधुनिक 'बुद्धिजीवी' थे फ्रांस के विश्व-ज्ञान-कोष (Encyclopedia) लिखने वाले। उन्होंने इतिहास की रंगभूमि पर यथार्थवादी और मूर्तिभंजक बन कर प्रवेश किया। यदि पुनर्जन्म पाकर गेटे पुनः अवतरित हुआ, तो वह हमारे युग के लिए सुसंगत नहीं होगा। लेकिन यदि वाल्टेयर पुनः अवतरित हुआ, तो एक पखवारे में ही वह अंग्रेज जनता में हिलमिल जायेगा और 'न्यू स्टेट्समैन' पत्र की सभी साप्ताहिक पहेलियाँ भरा करेगा। क्योंकि गेटे, पुनरुज्जीवन के युग का अन्तिम प्रतिभावान् लेखक था—लियोनार्दो (Leonardo) का सीधा उत्तराधिकारी—और समाज में उसका स्थान, किसी प्रतिभाशाली फ्लोरेंटाइन राजकुमार के दरबारी के समान था, जबकि वाल्टेयर के जमाने से सामंतशाही की निंदा की परम्परा आरम्भ हुई।

इस प्रकार 'बुद्धिजीवी' वर्ग का आधुनिक युग में यह अर्थ निश्चित होता है कि "सामाजिक परिस्थितिवश जो विचार-स्वातंत्र्य की लालसा रखता है—वह नहीं, वरन् जो विचार-स्वातंत्र्य की ओर ढकेला जाता है, वह है बुद्धिजीवी वर्ग।" विद्यमान् मूल्यों को नष्ट कर उनके स्थान पर अपने नये मूल्यों की स्थापना करने की मनोवृत्ति को ही यह नाम दिया जाता है। रचनात्मक प्रवृत्ति 'बुद्धिजीवी वर्ग' का दूसरा मूलभूत लक्षण है। सच्चे मूर्तिभंजक लोगों के पास सदा भविष्य का एक चित्र खींचने की क्षमता रहती थी और सभी यथार्थ-वादियों में उपदेश देने की एक लज्जाजनक छिपी प्रवृत्ति रहती है।

लेकिन उनके नये विचार कहाँ से आते हैं, मार्क्स ने इसका विश्लेषण सरल

भाषा में किया है —

"मध्यम वर्ग ने इतिहास में महान् क्रान्ति की है। उत्पादन में सदैव परिवर्तन, सामाजिक स्थिति में परिवर्तन और अस्थिरता तथा आन्दोलन की अखण्ड भावना—इसके लक्षण हैं। इसमें प्राचीन और पूज्य मत तथा विचार बहा ले जाये जाते हैं और नये मत और विचार स्थायी होने से पूर्व ही सनातनी एवं पुराने मान लिए जाते हैं। जो वस्तु कठोर है, वह पिघलकर वायुरूप बनती है, जो पवित्र है, उसे पाखंडी सिद्ध किया जाता है और अन्त में अपने जीवन की सही स्थिति और सामाजिक सम्बन्ध का ज्ञान मनुष्य शान्त चित्त से प्राप्त कर सकता है।

"जो बात भौतिक द्रव्यों के उत्पादन में है, वही बौद्धिक उत्पादन में भी है। किसी-किसी राष्ट्र का बौद्धिक उत्पादन समस्त संसार की जायदाद बन जाता है। राष्ट्रीयता का पक्षपात और एकाकीपन सदा के लिए नहीं टिक पाता। स्थानीय एवं राष्ट्रीय साहित्य के असंख्य प्रवाहों का संगम होकर संसारस्पर्शी साहित्य-सागर का निर्माण होता है।"

इसमें पहला परिच्छेद उत्तम है, परंतु दूसरे में आर्थिक मीमांसा से कला की ओर घातक छलाँग मारी गयी है। मार्क्सवादी समाज की इमारत में नीचे और ऊपर के दो तल्ले हैं, परन्तु ऊपर आने के लिए इन दोनों को आपस में जोड़नेवाली लिफ्ट या सीढ़ियाँ नहीं हैं।

भौतिक सम्पत्ति का उत्पादन और बौद्धिक सम्पत्ति का उत्पादन दो छोर हैं। समाज का जो वर्ग यशस्वी होता है, वह अपनी उत्पादन-प्रणाली के लिए उचित तत्त्वज्ञान की भूमिका बनाता है, लेकिन फ्रांस की एनसाइक्लोपीडिया, वहाँ की नेशनल एसेम्बली के आदेश से नहीं बनी। जब-जब कोई गुट या वर्ग अपने संघर्ष में विजयी बन कर आता है, तब-तब तैयार कपड़े के समान उसके विचार उसकी प्रतीक्षा में खड़े दृष्टिगत होते हैं। मार्क्स, मुसोलिनी, हिटलर और स्तालिन के कार्यों को तत्त्वज्ञान की भूमिका प्रदान करने वाले लेखक सहज ही प्रकाश में आ गये थे।

उपरोक्त उदाहरणों में प्रगतिशील और प्रतिगामी—उभय आन्दोलनों का समावेश हुआ है। वास्तव में, इन आन्दोलनों को अलग-अलग रखना चाहिए। प्रतिगामी आन्दोलन जीर्ण मूल्यों का आधार ले सकता है। एक-दो पीढ़ी पूर्व के, पुराने विचारों के आधार पर क्रान्ति के काल्पनिक चित्र बनाये जा सकते हैं और उस भ्रामक क्रान्ति से उत्साह की लहरें प्रवाहित हो सकती हैं। उसका

साथ देने के लिए बुद्धिजीवी वर्ग का एक भाग तैयार ही रहता है; वह अपने विचार-स्वातंत्र्य का तत्त्व छोड़ देता है; इतना ही नहीं, अपितु अपने वर्ग से सम्बन्ध भी तोड़ लेता है।

इसे अलग रखने पर भी मूल प्रश्न शेष ही रह जाता है और वह यह है कि इतिहास में प्रगतिशील एवं विकासशील आन्दोलनों के जीर्ण मूल्यों का आधार नहीं है, और तब भी ये आन्दोलन 'मानव के अधिकार' और 'मजदूरों की प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संस्था' स्थापित कर सकते हैं, और इन्हें उचित समय पर आवश्यक विचार अनुकूल रूप में हमेशा तैयार मिलता है। इसका क्या कारण है? अब मेरा इस बात पर विश्वास नहीं रहा कि आर्थिक प्रक्रिया हमारे तत्त्वज्ञान का निर्माण करती है। इस सिद्धान्त का पुराने मार्क्सवाद ने कोई ऐतिहासिक आधार नहीं बताया, इसे योगायोग भी नहीं कह सकते; इसका एक ही अर्थ हो सकता है, वह यह है कि राजनीतिक परिस्थिति और सांस्कृतिक विकास एक ही घटना के दो स्वरूप हैं, पर अब तक हम यह नहीं जान सके कि वह एक ही घटना कौन-सी है।

अन्य क्षेत्रों से दो उदाहरण लेकर मैं अपना विचार स्पष्ट करता हूँ। मन और शरीर का सम्बन्ध क्या है? उसमें कारण क्या है और कार्य क्या है? मुर्गी कौन और अण्डा कौन? इस प्रश्न का उत्तर उक्त दुमुही क्रान्ति के तत्त्वज्ञान से अस्थायी रूप में मिल सकता है। आपके शरीर का अम्ल आपकी मनोवृत्ति का न तो कारण है और न तो कार्य ही, लेकिन अम्ल और मनोवृत्ति—दोनों आपकी जीवन-रीति के परिणाम हैं।

दूसरा उदाहरण पदार्थ-विज्ञान और गणित-शास्त्र से सम्बन्धित है। जब आइन्स्टीन ने पदार्थ-विज्ञान में दो शुद्ध प्रयोगों के परिणाम परस्पर-विरोधी देखे, तब उसने अपना सापेक्षवाद सामने रखा, उससे पूर्व एक दूसरे गणितज्ञ ने इस सिद्धान्त की पूर्व तैयारी कर रखी थी। गणित-शास्त्र और पदार्थ-विज्ञान द्वारा सापेक्षवाद के स्वरूप स्वतंत्र प्रकट हुए थे। इन दोनों की युक्ति को चमत्कार ही मानना होगा, यदि वैज्ञानिक विचारों में विकास के मौलिक झुकाव को स्वीकार न करें, जिसके विभिन्न रूप पहले से ही पृथक्-पृथक् विद्यमान् रहते हैं।

इस प्रकार प्रगतिशील मध्यम वर्ग और 'तीसरी अवस्था' मानवीय उदार-मतवादी दर्शन का न तो कारण था और न कार्य। वे एक ही मूल से उत्पन्न दो अंकुर हैं—अंतर इतना ही है कि वे एक-दूसरे से सम्बद्ध हो गये। एक ही वस्तु का आकार और रंग जैसे निर्धारित होता है, उसी प्रकार ये दो स्वरूप

हैं। इस सामाजिक और बौद्धिक क्रान्ति में सुसंगति निर्माण करना ही फ्रेंच एन-साइक्लोपीडिया लिखने वाले और बाद के बुद्धिवादी का मुख्य कार्य है। उन्हें मूर्तिभंजन और नवधर्म की स्थापना—विध्वंसक और रचनात्मक—दोनों ही कार्य करने हैं।

३—तीसरी अवस्था का पतन

विध्वंसक और रचनात्मक—इन दोनों कार्यों के संपादन से ही बुद्धिजीवी वर्ग के विचित्र ढाँचे पर प्रकाश पड़ता है। समाज का आचार, विचारों की अपेक्षा अधिक निश्चल होता है। विज्ञान, कला और शास्त्रीयता के संकलित ज्ञान में तथा हमारे सामूहिक जीवन में सदैव बहुत अन्तर रहता है। हम युद्ध करते हैं, प्रार्थना-मन्दिरों में जाते हैं, राजा को पूजते हैं, निषिद्ध अन्न ग्रहण करते हैं, निषिद्ध यौन सम्बन्ध रखते हैं, अपने बच्चों को बिगाड़ते हैं, अपना संसार दुःखमय बनाते हैं, दूसरों पर अत्याचार करते हैं और दूसरों का अनाचार सहते हैं; लेकिन हमारी पाठशाला की पुस्तकों में और कला-प्रदर्शनियों में आदर्श जीवन के चित्र चित्रित रहते हैं। वैसा आचरण व्यवहार में लाने में सदियाँ लग जाती हैं। हम अपने-आप में ही विसंगत पाये जाते हैं। काल-विशेष के गुलाम बन कर हम अपना दिन-प्रति-दिन का जीवन बिताते हैं। आकाश के बीच विद्यमान अन्तर ज्यों अजस्र अंकों में गिनना पड़ता है, त्यों ही हमारे ग्रंथालय और शयनगृह के गहरे अन्तर को नापना पड़ेगा। तथापि तात्त्विक ज्ञान और स्वतंत्र विचारों का वातावरण उपस्थित रहने पर भविष्य में सामाजिक परिवर्तन में उसका काफी उपयोग होगा। फ्रेंच एनसाइक्लोपीडिया लिखने वालों द्वारा निर्माण किये गये वातावरण का जाकोबिन लोगों ने उपयोग किया।

वातावरण से सहायता लेने का गुण वर्गविशेष में ही है। यह वर्ग अपने आचरण और ज्ञान की पृष्ठभूमि पर निश्चित किये हुए आदर्श आचरण में अपनाता है और सुसंगति निर्माण करने का यत्न करता है। जिनके स्वार्थ और हित सामाजिक चहारदीवारी में निहित रहते हैं, उनके मन में विचार-स्वातंत्र्य की प्रभावपूर्ण प्रेरणा का आना प्रायः असम्भव है। आये भी कहाँ से? उन्हें स्वीकृत प्रणाली को नष्ट करने की आवश्यकता और नये विचार स्थापित करने की आकांक्षा नहीं होती। अज्ञात स्थिति के बारे में बेचैनी होने पर ही ज्ञान की लालसा उत्पन्न होती है। जो स्वस्थ और सुखी होते हैं उनमें जिज्ञासा कदाचित्

ही होती है। इसके विपरीत जो दीन और दलित होते हैं, उन्हें न तो विचार-स्वातंत्र्य के पीछे पड़ने का अवसर मिलता है, और न उनमें इतनी सामर्थ्य ही है। वे विवशता के कारण ही विद्यमान विचारों को स्वीकार या उनका तिरस्कार करते हैं।

ऐसी गलतफहमी में मत पड़िए कि बुद्धिजीवी का अर्थ होता है 'मध्यमवर्ग'। सम्वेदन-क्षमता, जिज्ञासा, प्रगतिशीलता आदि वृत्तियाँ विशेष प्रकार की असफलता से ही निर्मित होती हैं। ऐसी असफलता बहुत अधिक होना उचित नहीं, और बहुत कम होना भी अच्छा नहीं। तनिक से दुख और चित्त की किंचित् अस्वस्थता से जिज्ञासा का उद्भव होता है। परम्परागत विचारों को अंगीकार करनेवाले उच्चवर्ग में असफलता की भावना नहीं होती; परन्तु निचले वर्ग में वह होती है—इतनी तीव्र कि परिणाम में यह वर्ग या तो पराश्रित बन जाता है या असफलता के धक्के खाता रहता है। यह असफलता एक खास तरह की होनी चाहिए। कोई असंतुष्ट लेखक या कलाकार जब विद्रोह कर उठता है, तो उसका कारण यह नहीं होता कि समाज ने उसके विकास का अवसर छीन लिया है, और उसे विनाश की खाई में ढकेल दिया है, वरन् अपना विकास करने का मौका उपलब्ध रहने पर भी परिस्थिति के सम्मुख वह अपने आपको कमजोर पाता है, तथा उसे ऐसा लगता है कि वर्तमान परिस्थिति के सामने उसे अपना सिर झुका देना चाहिए। आत्मसंतुष्ट मनुष्य के लिए विचार करना शौक का विषय होता है, परन्तु असफलता से ग्रसित मनुष्य को विचार की आवश्यकता महसूस होती है। जब तक विचार और परम्परा, तात्त्विक सिद्धान्त और व्यावहारिक आचरण के बीच गहरी खाई है, तब तक हमारी बुद्धि पर तिरस्कार एवं आकांक्षा का भिन्न-भिन्न नियंत्रण बना रहेगा।

यह समूचा वर्णन बहुसंख्यक मध्यम वर्ग पर लागू नहीं किया जा सकेगा। जब तक उनमें जाकोबिनियों की क्रान्तिकारी वृत्ति थी, तब तक यह वर्णन उन पर लागू हो सकता था; परन्तु बाद में, एक समय का क्रान्तिकारी अनुदार बन गया। अब वह एक बुद्धिमान सदस्य नहीं रहा, बल्कि निश्चल चिपचिपा सरेस बन गया है, जो इस सामाजिक संस्था को जोड़े रहता है। उसकी निराशाएं दबा दी गयीं। उसमें नये विचार-निर्माण की आकांक्षा नहीं रही, वह पुरातन विचारों के शिखर पर बैठने की आकांक्षा करने लगा। इस तरह बुद्धिजीवी वर्ग, जो एक समय उत्कर्षाभिमुखी बुर्जुआ वर्ग की रीढ़ था, उसके अपकर्ष-काल में विरोधी बन गया।

४—बुद्धिजीवी-वर्ग और चौथी स्थिति

तीसरी स्थिति जैसे-जैसे अपनी प्रगतिशील वृत्ति खोकर, पहले स्थिर, फिर प्रतिगामी बनने लगी, वैसे-वैसे बुद्धिजीवी वर्ग उससे अधिकाधिक दूर जाने लगा और अपने विध्वंसक तथा विधायक कार्य के लिए उपयुक्त शक्तिशाली मित्र खोजने लगा। इस खोज का उत्तम उदाहरण है १९-वीं सदी का रूस। 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' में लिखा है:—"जब-जब क्रान्तिकारी और बुद्धिवादी कार्यकर्ता राज्य-स्वातंत्र्य की आवश्यकता का वर्णन करते, किसान की दुर्दशा की बातें करते अथवा भावी समाजवाद का चित्र उपस्थित करते, तब-तब उनमें उनकी निजी दुर्दशा का ही वर्णन होता, जिसके कारण उनका हृदय भर जाता था; और उनकी यह दुर्दशा मुख्यतः भौतिक न होकर मानसिक होती थी।"

रूस के बुद्धिजीवी वर्ग की यह मानसिक दुर्दशा उस द्वन्द्व का दूसरा स्वरूप था, जिसका मैंने वर्णन किया है। वह द्वन्द्व था निश्चल, पुराना एवं स्वभाव-नियंत्रित दैनिक जीवन का सिद्धान्त और आदर्श के संकलित स्वरूप से विरोध। १९-वीं सदी के रूसियों को पश्चिमी यूरोपीय संस्कृति से जो तत्त्वज्ञान और विचार मिलते, वे थे ब्रिटिश लोकशाही, फ्रेंच साहित्य और जर्मन दर्शन। उन रूसियों को पश्चिम के राष्ट्र, ज्ञान का भांडार प्रतीत होते। इतिहास की गति ऐसी विलक्षण है कि दो महायुद्धों के पश्चात् कालांतर में, पश्चिमी राष्ट्रों का 'बुद्धिजीवी वर्ग' रूस के साम्यवाद से मंत्रमुग्ध हो गया। उसे अपनी पूंजीशाही का ह्रास होता दीख रहा था और साम्यवाद ही मानव की आशाओं का केन्द्र आभासित हो रहा था। फिर भी पूर्ववर्ती रूसी क्रांतिकारी बुद्धिजीवी—शेलाबो, सोंजा, पेट्रोव्स-काजा, बाकुनिन, नेचाइयू क्रोपोटकिन के अनुयायियों और सँकरे नावों के युग के ब्लूम्सबरी में मौलिक अंतर है। इस सादृश्य का उपहास करना और द्वितीय अलेक्जेंडर के हत्यारों की वीरता तथा साइबेरिया के निष्कासितों तथा स्ल्यूसेल-वर्ग के कैदियों के बलिदान द्वारा ब्लूम्सबरी लोगों की असारता दर्शाना आसान है। अर्द्ध एशियायी रूसियों और उच्च श्रेणी के पाश्चात्य लोगों की सर्वसम्मत महान् सहनशीलता और दैवाधीनता की जातीय तुलनाएँ एक भेदमूलक तत्त्व अवश्य प्रदान करती हैं; किन्तु मूल तत्त्व नहीं। मूल चीज यह है कि लोग अपने उत्तरदायित्वों के बोझ-तले पनपते हैं और जब यह बोझ उन पर से हटा लिया जाता है, तो वे सिकुड़ने लगते हैं। नेचाइयू वर्षों कारावास की एकान्त

कोठरी में सीकचों से बँधा पड़ा रहा और जब उसके साथियों ने उससे सम्बन्ध स्थापित करने और उसे मुक्त करने की व्यवस्था में सफलता पायी, तब उसने वहाँ से जाने से इनकार कर दिया, क्योंकि वह चाहता था कि उसके साथी अन्य आवश्यक कर्तव्यों की ओर एकाग्रचित्त हों। किन्तु बाद में, वह जनेवा में अत्यधिक गंदे संघर्षों में लिप्त हो गया और एक अपरिचित की मौत मरा। आदरणीया रूसी छात्र-वीरांगनाएं और अन्य शहीद इक्सले अथवा इवेलिन वॉघ (Evelyn Waugh) के उपन्यासों के किसी पात्र से कम उन्मत्त नहीं थे; 'द' लेसले' गंवार था, जिसने एक काल्पनिक द्वन्द्व-युद्ध में अपनी जान गँवायी; मार्क्स दूसरों के टुकड़ों पर जीवित रहनेवाला एक झगड़ालू व्यक्ति था; बाकुनिन एक सिस्टर पर आँख गड़ाये था; किन्तु वह नपुंसक था और मृत्यु-पर्यंत क्वाँरा रहा। ट्राट्स्की अपनी दोपहरी और शाम वियेना के 'काफे सेन्ट्रल' में शतरंज खेलने में बिताता था। लेनिन को अपने भाई अलेक्जेन्डर के फांसी पर लटकाये जाने से प्राणघातक आघात पहुँचा। अतः बुर्जुआ वर्ग के प्रति उसकी घृणा बड़ी तीव्र थी—रूसी क्रान्ति मात्र जिसकी प्रलम्बता थी। बुद्धिवादियों की प्रकृति में एक प्रकार का उन्माद स्वाभाविक है (मैं इस विषय पर शीघ्र ही लौटूँगा)। इतिहास किसी व्यक्ति के उद्देश्य में नहीं, केवल उसकी सफलताओं में दिलचस्पी रखता है। किन्तु क्या बात है कि ब्लूम्सबरी को असारता का अपराधी ठहराते हुए कुछ कालों में ही उत्तरदायित्व का भार और परम सुख बुद्धिजीवी वर्ग को सौंपा जाता है। यही वह प्रश्न है, जहाँ रूसियों और ब्लूम्सबरी की तुलना नर्म पड़ जाती है। अत्यधिक सच यह है कि यह ऐतिहासिक निर्माण का प्रश्न है, जो उत्तरदायित्वों को बाँट लेने का जिम्मेदार है।

दोनों देशों के समाजवादी ढांचों की तुलना से इस प्रश्न का जवाब तत्काल ही स्पष्ट हो जाता है। १९-वीं सदी के रूस में मजदूर-संघ नहीं थे, सहकारी संस्थाएँ नहीं थीं, और न मजदूरों का आन्दोलन ही था। दास-प्रथा का उन्मूलन १८६२ में ही हुआ था। उस आलसी-उनींदे प्रचण्ड देश में तानाशाही से आधुनिक पूँजीवाद की ओर क्रमिक संक्रमण नहीं हुआ था। मैंने वहाँ के किसानों से बातचीत की है। उन्हें अपने सिर पर घूमने वाले विमान का ज्ञान था, परन्तु रेल या मोटर उन्होंने कभी न देखी थी। दूसरी ओर, कुछ लोग ऐसे भी थे, जो मोटर में तो बैठे थे, किन्तु साइकिल नाम की कोई चीज होती है, यह मानने को तैयार नहीं थे।

ऐसे लोगों में ज्ञान का प्रचार करना बुद्धिजीवियों के लिए स्वर्ग-सुख के समान था। उनमें से जो लोग शुरू से ही किसान का रूप धर कर समाज में घुलमिल कर नये सन्देशों का प्रचार करने लगे, उन्हें साफ मैदान हाथ लग गया। न तो मजदूर-संघ या मजदूर नेता उनके प्रतिस्पर्धी बनकर खड़े थे, और न कोई यह कहने वाला ही मिला कि तुम अपना स्वांग उतार कर मास्को लौट जाओ। रूसी किसान वर्ग निर्विकार रहा। उसने प्रचारकों की पुकार पर ध्यान न दिया; फिर भी सुधार करने के लिए निकले हुए बुद्धिजीवी प्रचारक निराश नहीं हुए, क्योंकि उनके सामने कोई प्रतिस्पर्धी नहीं था। उन्होंने अपना ढंग बदला। जनता को प्रेमपूर्वक समझाने के बजाय उन्होंने आतंक फैलाना आरम्भ किया; फिर वे कारखाने के मजदूरों में और सैनिकों में मिलकर काम करने लगे। वे लड़े, बँटे और अलग हुए; लेकिन हर हालत में उन्होंने अपना यह ऐतिहासिक कार्य जारी रखा। पुराने का विध्वंस कर नये की स्थापना करने की अपनी इच्छा वे तृप्त करने लगे। उनके इस अखंड विश्वास ने जैसे पर्वत को भी हिला दिया।

इसके ठीक विपरीत पश्चिमी राष्ट्र के बुद्धिजीवी वर्ग को ऐसी उपजाऊ भूमि नहीं मिली। उनकी आकांक्षा को समझने वाले सच्चे मित्र भी उन्हें नहीं मिले। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार बुद्धिजीवी वर्ग को मजदूर वर्ग से मिल-जुल कर उनका परामर्शदाता बनना चाहिए था। इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि इसके लिए आवश्यक धैर्य और योग्यता बुद्धिजीवी वर्ग में न थी। सन १८४८ में विद्यार्थी वर्ग और मजदूर वर्ग साथ-साथ रणांगण में लड़े। फ्रान्स में और पिछले महायुद्ध के बाद जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगेरी, बलगेरिया तथा स्पेन के अन्तर्राष्ट्रीय सैन्यदलों के क्रान्तिकारी आन्दोलनों में भी उन्होंने उत्तम कार्य-कुशलता का परिचय दिया।

परन्तु १९-वीं सदी के पूर्वार्ध के बाद से मध्य एवं पश्चिम यूरोप के मजदूरों ने अपने-अपने संगठन-दल, ट्रेड यूनियन तेजी से स्थापित किये और अपने नेताओं का चुनाव किया। इस कार्य की विशेषता यह रही कि उन्होंने अपनी नौकरशाही को जन्म दिया। दल के व्यक्ति तीव्र इच्छा शक्ति वाले और दृढ़ निश्चयी थे। यह तीव्र क्रान्ति का युग था। उसमें 'तीसरी स्थिति' विनष्ट हो गयी और 'चौथी स्थिति' का महत्त्व तो तीसरी से भी जल्दी घट गया। द्वितीय समाजवादी आन्दोलन की जिन शाखाओं ने कुछ ऐहिक सुख प्राप्त कर लिये थे तथा शासनकर्त्ता से सत्ता की डोर हथिया ली थी, उनका ध्येयवाद शीघ्र ही

पंगु बन गया। पश्चिमी राष्ट्र का बुद्धिजीवी वर्ग मजदूर दल का सदस्य बन कर पार्लियामेन्ट में शामिल हुआ, वामपंथी समाचार-पत्र का सम्पादक बना, सायंकालीन बौद्धिक वर्ग का प्राध्यापक बना, परंतु उसके 'विचार-स्वातंत्र्य' से कोई समस्या हल होती नहीं दीखती थी। १९-वीं सदी के अन्त में पश्चिमी राष्ट्र के बुद्धिजीवी वर्ग के सामने दो ही रास्ते रह गये। बुर्जुआ वर्ग के उत्तराधिकारी के रूप में रहना अथवा मजदूरों के स्कूल में शिक्षक बन कर दिन काटना। इन विभिन्न भूमिकाओं के अनुसार ही उनका विकास हुआ और गुट बने। शा और वाल्टेयर की तुलना कीजिए, लीओन ब्लम और सेन्ट जस्ट की तुलना कीजिए—अन्तर स्पष्ट हो जायेगा, यह अन्तर अवस्थामूलक नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक अवसरों से सम्बंधित है।

प्रथम महायुद्ध से संसार को एक ओर धक्का पहुँचा, तो उससे नव-निर्माण का अवसर भी मिला। उस समय तक समस्त कल्पनाओं में मूलतः परिवर्तन हुआ—चाहे वह कल्पना सापेक्षवाद की हो या क्वांटम सिद्धान्त की हो, मनो-विश्लेषण की हो या नग्न यथार्थवादी हो, वायुयान विद्या से सम्बन्धित हो या बेतार के तार से। ग्रन्थालयों में पूर्णतः नवीन संसार से सम्बन्धित ग्रन्थ भरे थे और उससे निकलने वाली प्रकाश-किरणों को देखकर 'बुद्धिजीवी वर्ग' अर्द्ध पागल हो गया। अपनी प्राचीन, पुरानी, दीमक लगी दैनिक परम्परा और आचार-विचारों से उसे चिढ़ हो आयी। नव-निर्माण के लिये यह कैसा स्वर्ण अवसर था!

लेकिन उससे फायदा उठाने वाले सहयोगी कहाँ थे? उन बीस बरसों में यूरोप के ध्येयवादी युवकों के कार्यों के सारे सूत्र अकेले 'तृतीय समाजवादी आन्दोलन' के हाथ में थे। उस संस्था ने यूरोपीय क्रान्ति का जो नक्शा तैयार किया था, वह रूस की तत्कालीन परिस्थिति पर आधारित था। ८० प्रतिशत लोग निरक्षर थे; और ग्रामीण जनता तथा नगर की जनता का अनुपात था—दस और एक का।

दो दशाब्दियों के बीच अपने अस्तित्व में यह क्रान्ति उसी अर्द्ध एशियायी तानाशाही द्वारा शासित होती थी। यूरोप में उसका अमल कराने के लिए बुद्धिवादी लोगों की आवश्यकता थी, साथ ही आँख मूँदकर आज्ञापालन करनेवाले निष्ठुर अनुयायियों की भी जरूरत थी। पश्चिमी बुद्धिजीवी वर्ग के जिन थोड़े सदस्यों को उसमें शामिल किया गया, पहले उनके विचार-स्वातंत्र्य का अधिकार खो गया, फिर विचार-स्वातंत्र्य की इच्छा भी अस्त हो गयी। वे हठधर्मी, इस विशेष पंथ के अनुयायी और दल के किराये के टट्टू बन गये और उन में जो महान् थे, उनका बड़ा शोचनीय अन्त हुआ। जर्मनी में, क्रान्ति काबू

में आयी लगती थी, लेकिन वहाँ के क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी वर्ग का अन्त बड़ा ही दुखद हुआ। लिइकनेट (Liebknecht) तथा लक्ज़ेम्बर्ग (Luxemburg) की हत्या कर दी गयी। कम्यूनिस्ट पार्टी से पाल लेवी (Paul Levy) का निष्कासन हुआ और बाद में उसने आत्महत्या कर ली। रूथ फिसर को भी निकाल बाहर किया गया और उसका अन्त अज्ञात ही रहा। न्यूयार्क में टालर ने अपने आप गले में फाँसी लगा ली। नाजियों के एक बंदी शिविर में म्यूसैम मार दिया गया। मार्क्स होल्ज़ रूस में संदेहास्पद परिस्थितियों में पानी में डुबा कर मार डाला गया। हेंज़ न्यूमैन भी, कम्यूनिस्ट पार्टी का अन्तिम जीवित नेता, जो बुद्धिजीवी वर्ग से सम्बंधित था, इसी प्रकार समाप्त कर डाला गया।

परन्तु इस रक्तपात में पश्चिमी बुद्धिजीवी वर्गसमूह को शामिल नहीं किया गया। इसके नेताओं को इसकी आवश्यकता महसूस नहीं हुई। पश्चिमी बुद्धिजीवी लोग इस क्रान्ति के सहयात्री बन कर रहे; ठीक उस पाँचवें पहिये के समान, जो चार पहियों वाली गाड़ी में जुड़ा होता है। इस संक्रान्तिकाल के लिए बुद्धिजीवी वर्ग उत्तरदायी नहीं था, क्योंकि उसे जिम्मेदारी की जगह से हटा दिया गया था। वे अंधकार के खोखले कोने में मन मार कर पड़े रहे, और बुर्जुआ वर्ग के उत्तराधिकारी बन कर रह गये। इसमें किसी का दोष नहीं; क्योंकि उनकी स्थिति आइने के रूप में थी—प्रकाश के रूप में नहीं।

मैं न तो किसी को अपराधी मानता हूँ और न किसी के अपराध का बचाव ही करता हूँ। बुद्धिजीवी वर्ग हमारे समाज का एक अंग है और बड़ा ही संवेदनशील अंग है। जब शरीर में रोग होता है, तो उसके कुप्रभाव से चमड़ा भी खराब हो जाता है। बुद्धिजीवी वर्ग का अधःपतन सामाजिक रोग का ही लक्षण है। जिस तरह प्रशासक वर्ग का भ्रष्ट होना तथा मजदूर वर्ग का निद्रालीन रहना सामाजिक रोग का चिह्न है, वैसा ही यह भी है। एक ओर बुद्धिजीवी वर्ग को परेशान कर के उसका स्वातंत्र्य छीन लेना और दूसरी ओर उसके सिर पर अपयश मढ़ना—या तो यह कोरी मूर्खता है या इसमें कोई दाँव-पेंच है। जब नाजीवाद ने यूरोप के बुद्धिजीवी वर्ग को विध्वस्त कर दिया, तब वह भलीभाँति जानता था कि वह क्या कर रहा है।

५. बुद्धिजीवी वर्ग और मतिविभ्रम

यह भावात्मक आवरण सिर्फ भिन्न-भिन्न जाति के सामाजिक वर्गों के बीच ही

नहीं, बल्कि समस्त सामाजिक संस्था और इसके वातावरण के बीच फैला था। इस रूपक को कुछ और आगे ले जाने का जी करता है, और ऐसा करना शायद पूर्णतया निरर्थक भी नहीं है। तत्त्वसम्बन्धी इस असारता का यह ऊपरी आवरण है, एक सतह है, ऊपरी झिल्ली है, जो स्नायुओं के लिए तंतु और अपरिपक्व अवस्था में रीढ़ की हड्डी और मस्तिष्क का कार्य करती है। मुख्य स्नायु-प्रणाली—जैसी लोग आशा करते हैं—भीतरी सुरक्षित भागों तथा अंतर्भाग से नहीं, बल्कि झुँझलाहट और उत्तेजना, कुछ मोह और अधिक यातना के बाह्य उभाड़ के आक्रमण के समक्ष स्थायी रूप से समर्पित बाहरी सतह से उत्पन्न है। उभार के इस स्थायी प्रभाव के अंतर्गत तन्तु क्रमशः अपनी विषमता खो बैठते हैं और परिवर्तन की उस प्रज्वलित प्रक्रिया के अंदर से गुजरते हैं, जो अंत में चेतनता की प्रथम धुँधली चमक को जन्म देता है। मस्तिष्क-आवरण की भूरी वस्तु मूलतः चर्मतंतु थी—प्रत्यक्ष और विशिष्ट चेतना-युक्त रूपान्तर द्वारा परिवर्तित। यहाँ तक कि महा धर्मभ्रष्ट फ्रायड भी जहाँ अपनी पुस्तक "बियांड द' प्लेज़र प्रिंसिपल" में मस्तिष्क की रचना के सम्बन्ध में इस पहलू का उल्लेख करता है, वहाँ वह छंदमय हो गया है। मनुष्य ने अपना मस्तिष्क विकसित किया, जिसमें उसका भूरा पदार्थ, किसी बंद बक्स में रखी बहुमूल्य वस्तु के समान, सुरक्षित है। समाज द्वारा स्नायु-तंतुओं के लिए ऐसा कोई आवरण प्रदान नहीं किया जाता, बल्कि उनके साथ पैर के गोखरु की तरह व्यवहार किया जाता है—क्योंकि वे एक स्थायी रोग की तरह हैं, जो छोटे-छोटे आघातों के द्वारा बराबर पीड़ा पहुँचाते हैं।

रूपक से यथार्थ की ओर वापसी, बुद्धिवादी वर्ग और उन्माद के बीच का सम्बंध आकस्मिक नहीं है, बल्कि नियमित है। बहुसंख्यक लोग अपना आचार-विचार परम्परागत प्रथा के अनुसार बनाये रखते हैं। जो स्वतंत्र रूप में अपने आचार-विचार निश्चित करता है, उसे स्वभावतः ही इस समाज का विरोधी माना जाता है। मतिविभ्रम के लिए अल्पसंख्यक गुट में रहना ही पर्याप्त है। स्वतंत्र बुद्धि का मनुष्य और विक्षिप्त मनुष्य में केवल एक सीढ़ी का ही अंतर है। इस अन्तर को दूर करने के लिए समाज का विरोधी दबाव शक्ति प्रदान करता है।

किसी नाचघर में किसी एक के खाँसने पर प्रत्येक व्यक्ति खाँसने लगता है और हरेक को लगता है कि उसका गला खुजला रहा है। सामूहिक अनुकरण एक यथार्थ शक्ति है। उसका विरोध करने का अर्थ है, अपनी सामाजिक परिस्थिति के विरुद्ध विद्रोह करना। परिणाम में ज्ञानतंतु की विकृति और अपराध

की भावना का निर्माण होता है। कोई व्यक्ति भले ही सिद्धान्ततः हजार बार सही हो, अपने अन्तर्मन में डट कर बैठी बुरी परम्परा का विरोध करते ही, स्वयं अपराधी होने की भावना उसमें जाग्रत हो जाती है। समाज से लड़ने का अर्थ अपने मन की सामाजिक कल्पनाओं से ही लड़ना है। इससे अपना व्यक्तित्व विभक्त हो जाता है। सर्वज्ञता और न्यूनता, कायरता और उद्दंडता आदि मानसिक विकार दृष्टिगत होने लगते हैं। ये सब मस्तिष्क का सन्तुलन खोने के उदाहरण हैं। बुद्धिजीवी वर्ग उच्च वर्ग का आधार प्राप्त न होने पर भी अपने एकाकी संसार में भटकता रहता है और बौद्धिक मंथन करता रहता है। गत दस वर्षों से बुद्धिजीवी वर्ग यही कर रहा है। ऐसे अवसर पर विचार-स्वातंत्र्य के ध्येय में विश्वास न रखने वाला छिछला समूह एकत्र होने लगता है और वह धीरे-धीरे सच्चे बुद्धिवादियों पर हावी हो जाता है।

और वह भी अवश्य स्पष्ट होना चाहिए कि मिथ्या बुद्धिवादियों का, जिनका प्राथमिक उद्देश्य 'विचार-स्वातंत्र्य की प्रेरणा' नहीं, बल्कि सीधा उन्माद है और जो गर्म वातावरण के इर्द-गिर्द एकत्र होते हैं—क्योंकि बाहरी संसार उनके लिए बहुत सर्द है—आकर्षण दूषित है। वे अपनी अप्रतिष्ठा में वृद्धि करते हुए बलपूर्वक घुस पड़ते हैं और न्यायोचित वासियों को क्रमशः निकाल बाहर करते हैं।

वे ऐसा तब तक करते रहते हैं जब तक विनाश के काल में शिविर के अनुयायी उन्हें खत्म नहीं कर देते हैं। परिवर्तन का यह दुःखद रूप है, जब सामाजिक विरोध सामाजिक गंदगी में विलीन हो जाता है।

सच्चे बुद्धिवादियों को भी उन्माद हो जाता है। अविवेकी समाज में विवेक-पूर्ण योजना कभी सफल नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, यौन-प्रसंग ही लीजिये—एक ओर हम जानते हैं कि विवाह-संस्थाओं के कारण समाज में कितना दुख फैला है। इसीलिए 'अनिबंध मित्रता', 'परस्पर सम्मत विवाह' आदि प्रयोग जारी हैं। लेकिन दूसरी ओर इन सब का अन्त दुखद होता है। 'अनिबंध प्रेम' का मनचाहा अर्थ लगाया जाता है। हमारे ऊपर बाह्य और आन्तरिक परिस्थिति का बहुत दबाव है। फलस्वरूप इस विकृत प्रभाव के अंतर्गत प्राकृतिक प्रवृत्तियां सिकुड़ जाती हैं। लेखनकला में भी इसका प्रतिबिम्ब दिखायी दे जाता है। डी. एच. लारेंस और हेमिंग्वे-जैसे सुयोग्य लेखकों के साथ भी आप यही अनुभव कर सकते हैं। जब ऐसी गम्भीर परिस्थिति आती है, तो आप लेखक को स्वयं से यह कहते सुनते हैं—"गोली मारो इसे। यह

प्रकृति का एक कार्य है, और मैं इसे इतनी सरलतापूर्वक और स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत करने की सोच रहा हूँ, जैसे वे दोनों खाना खा रहे हैं।" और तब अपनी कमीज की बाहें चढ़ाकर लिखने के लिए बैठे उस लेखक को आप देखिये। उसके माथे से पसीने की धार बहने लगती है, आँखों के आगे अंधेरा छा जाता है, और उसकी कलम की निब सहज रीति से प्रकृति का चित्रण करने के प्रयास में टूटने लगती है।

वातावरण का दबाव जिस प्रकार मनुष्य का बर्ताव संकुचित कर देता है, उसी प्रकार कला का स्वरूप भी संकुचित कर देता है। चाहे तो कोई इस परिस्थिति को चुनौती दे सकता है, लेकिन इसके लिए उसे बड़ी कीमत चुकानी होगी और वह कीमत है—मानसिक विकृति। दूसरों को धनी बनाने के लिए जिस प्रकार हम आय-कर चुकाते हैं, उसी प्रकार अपराधी होने की भावना के बिना कभी कोई बुद्धिजीवी वर्ग नहीं रहा। शस्त्रास्त्रों को बनाने वाले की चेतना पूर्ण स्वच्छ हो सकती है; लेकिन शांतिवादी मनुष्य की आँखों में अपराधीपन की भावना न हो, ऐसा उदाहरण मुझे तो कभी नहीं मिला।

"बुद्धिजीवी लोग विक्षिप्त ही होते हैं"—यों बदनाम करने वाले लोग यह भी कह सकते हैं कि खान में काम करने वालों को क्षयरोग होता ही है। यदि यह ध्यान में रखा जाये कि ये इस उद्योग के अपरिहार्य और क्रमिक परिणाम हैं, तो इसके प्रति क्षोभ या घृणा नहीं होगी।

६—बुद्धिजीवी वर्ग और भविष्य

यूरोप का पुराना उदारमतवादी और समाजवादी बुद्धिजीवी वर्ग अब रहा नहीं। "संस्कृति शब्द सुनते ही मैं अपनी पिस्तौल छोड़ता हूँ" जर्मन कवि लारेटो के इस कथन को नाज़ीवाद किस प्रकार कार्यान्वित करने में सफल हुआ, हम अभी तक इसे समझने में असमर्थ हैं। शायद वहाँ नया बुद्धिजीवी वर्ग भूमिगत रहकर कार्य कर रहा होगा—बर्फ के नीचे दबे बीज में नया अंकुर फूटा होगा। पर समाचार-पत्र के लेख, आकाशवाणी पर होने वाले भाषण आदि सब सुनने पर भी ब्रिटिश चैनेल के उस पार के लोगों की मनःस्थिति वैसी ही ज्ञात होती है, जैसी हम मंगल के मनुष्यों के संबन्ध में जानते हैं। हमें इसका तनिक भी ज्ञान नहीं होता कि यूरोप के लोग अपने भूत, वर्तमान, भविष्य के बारे में क्या सोचते-बोलते या कहते-सुनते हैं। फ्रान्स से आनेवाला साहित्य

आशाजनक नहीं है। फिर भी मेरा यह विश्वास है कि फ्रान्स, इटली, बालकन्स, आस्ट्रिया, नार्वे इन देशों में कोई नया आन्दोलन पनप रहा है, जीवन-सम्बन्धी कोई ऐसा नया दृष्टिकोण बन रहा होगा, जिससे हम विक्टोरिया युग के काँपते हुए वृद्ध प्रतीत होंगे और हममें से जिसे संरक्षण प्राप्त हो जायगा, उसे वह सब श्रेय मिल जायगा, जिसके ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हम योग्य हैं।

किन्तु यह सब बाद की बातें हैं और वह भी आने वाले १०–२०–३० सालों के बाद की। हमें इस बात का कुछ ज्ञान तो है कि ऐतिहासिक दृष्टि से हम किस रास्ते पर चल रहे हैं, लेकिन इस रास्ते के मोड़ और चौराहों की हमें कोई जानकारी नहीं। यदि सुव्यवस्था-सम्पन्न राज्य आनेवाला होगा, तो उसमें निश्चय ही बुद्धिजीवियों को काफी संख्या में उच्च पद मिलेंगे। पिछले बीस वर्षों में रूस में यही बड़े पैमाने पर हुआ है और जर्मनी भी गत दस वर्षों से इसी मार्ग पर अग्रसर है। रूस में प्रकाशन-संस्था, नाट्यगृह, अनुसंधान-प्रयोगशालाएँ, विश्वविद्यालय और डाक्टरी संस्थाएँ—सब सरकारी हैं। वहाँ के लेखक, कलाकार, शिल्पी, वैज्ञानिक, सब वास्तविक अर्थ में सरकारी नौकर हैं। यद्यपि वहाँ के और ह्वाइट हाल के वातावरण में बिल्कुल समानता नहीं है। वहाँ की साहित्यिक गतिविधियाँ भी दलीय कांग्रेस और सरकारी प्रवक्ता के बताये मार्ग पर चलती हैं। काव्य, नाटक, स्थापत्य, चित्रपट, इतिहास, तत्त्वज्ञान, सब न्यूनाधिक रूप में सरकारी नियंत्रण में ही हैं। इसलिए रूस में दर्शन और कला की प्रगति सरकार के इच्छानुसार होती है। जर्मनी का सांस्कृतिक कार्य भी इसी तरह का है।

यद्यपि ऐंग्लो-सेक्सन देशों में यही स्थिति आना कठिन है, किन्तु असम्भव भी नहीं है। आखिर भिन्न-भिन्न रास्ते भी एक ही लक्ष्य तक ले जा सकते हैं। प्रस्तुत महायुद्ध में सम्पूर्ण सैन्य-संगठन नौकरशाही राज्य के पश्चिमी दृष्टिकोण से एक प्रकार पूर्व प्रदर्शन (Dress Rehearsal) है। गत दो वर्षों में इंग्लैंड के बुद्धिजीवी लोगों को अस्थायी सरकारी नौकरी के रूप में प्रचार-विभाग, आकाशवाणी, जन-सम्पर्क-विभाग आदि में नियुक्त किया गया। फिलहाल नौकरी और 'व्यक्तिगत सृजन' भिन्न हैं; लेकिन निजी कार्य की अवस्था दिन-ब-दिन क्षयरोगी-जैसी हो रही है। किन्तु संभव है, किसी परिस्थिति में इन दोनों का मिलन हो जाय। फिर बुद्धिजीवी वर्ग की पूरी शक्ति नौकरी के ही मार्ग पर बहने लगेगी। कुछ लोग नया मार्ग बनायेंगे, कुछ लोग उनका साथ

देंगे और उन सबको लगेगा कि हम अपने व्यक्तिगत प्रेरणानुसार चल रहे हैं, लेकिन सच पूछा जाय तो नयी सरकार की बनायी गयी समाज-रचना के अनुसार ही वे चल रहे होंगे।

ऐसी स्थिति में संकट और भी भयंकर हो जाता है, क्योंकि अनुकूल बनने की भावना धोखे का ही एक रूप है। जिन्हें प्रामाणिकता से अपनी बौद्धिक निष्ठा का पालन करना है, उनके भाग्य में सदा के लिए दुख ही लिखा है। दूसरी ओर सरकारी काम करने का समाधान और सुख का बड़ा मोह है। क्रांतिकारी आन्दोलन का नाश हो जाने से बुद्धिजीवी वर्ग बचाव पक्ष में है। इसके बाद उसके सम्मुख 'पूँजीवाद या क्रांति' का सवाल नहीं आयेगा। हाँ, एक प्रश्न अवश्य खड़ा होगा—"लोकशाही और मानवता के मूल्य रक्षित रह सकेंगे या सबका नाश होते देखना पड़ेगा?" इस दुरवस्था को टालने के लिये बुद्धिजीवी वर्ग को अपना विचार-स्वातंत्र्य-ध्वज, जो चिथड़े-चिथड़े हो चुका है, मजबूती से पकड़े रहना होगा।

आज यह ध्वज उतना प्रिय नहीं है, क्योंकि उसके कपड़े पर हुतात्माओं के रक्त-बिन्दु पड़े हैं और साथ ही तिरस्कार के धब्बे भी हैं। इसीलिए एक तरह से वह असामान्य है।

"पृथ्वी की गंदगी"—१९४२*

वर्षों बाद भी, समय-समय पर जिस प्रकार कोई अपने पुराने स्कूल के कुछ इधर-उधर के समाचार और बकवास सुनता है, उसी प्रकार मेरे पुराने बंदी-शिविर के कुछ इधर-उधर के समाचार और बकवास मेरे पास पहुँचते हैं। वह उस पुराने महादेश के विशिष्ट शिविरों में एक है और हम लोगों में से जो बचे हुए हैं, वे स्कूल के दिनों में पहनकर जानेवाली पुरानी टाई के समान ही, अपने शरीर पर दाग अथवा पेट में नासूर लिये हैं। और कुछ नहीं, तो कम-से-कम चिंता के स्थायी उन्माद के शिकार तो हैं ही। समाचार जो मिलते हैं, वे भी इस किस्म के नहीं होते कि "अमुक व्यक्ति, जो वहाँ पड़ा सड़ रहा था, अब ग्लासगो में दाँतों का डाक्टर है"—बल्कि उनका रूप कुछ इस तरह का होता है—"अमुक व्यक्ति, जिसके घुटनों में गोली लगी थी, ३४० नं. की झोंपड़ी के सामने वाले शौचालय में, फाँसी लगाकर मर गया।"

इधर हाल की छोटी-मोटी खबरें मेरे पास एक अंग्रेज के द्वारा पहुँची। कुछ हफ्ते पहले ही वह इस देश में आया है। फ्रांस की पराजय के समय वह मेरे उस पुराने शिविर में लाया गया था—मेरे छूटने के ५ महीने बाद—और साल-भर तक वहाँ रहा। अंतर्राष्ट्रीय सैन्यदलों के जो मेरे मित्र अभी तक जीवित थे, वह उनके समाचार लाया था। उसने कोठी-बैरक के निवासियों, सिपाहियों, खटमलों, चूहों और मिमी के उस व्यक्ति की भी चर्चा की, जिसने मेरी कलाई-घड़ी चुरा ली थी। लेफ्टिनेंट काम्प का उल्लेख करना भी वह नहीं भूला, जिसने क्लेइन को घोड़े के चाबुक की मूठ से मारा था। एक संक्रामक रोग के समय वहाँ के शौचालयों में जो बदबू फैली थी, झोंपड़ियों की भीगी घास से आने-वाली दुर्गंध, कई वर्षों से वहाँ सड़नेवाले मनुष्यों की घिनौनी गंध, वहाँ की असहनीय ठंड, जो मार पड़ती थी, उसकी और तड़पानेवाली भूख की याद भी उसने दिला दी। उसे देखकर पागल हो जाने वाले व्यक्तियों की आँखों में दिखायी पड़ने वाले भय और हथकड़ियाँ पहनाते समय सैनिकों की आँखों में उभरनेवाले भय की छाया मेरे सामने साकार हो उठी।

---

* प्रथम बार 'इवनिंग स्टैंडर्ड' (लंदन), जून, १९४२ में प्रकाशित।

मैंने पहले ही कहा है कि हमारा शिविर अन्य शिविरों से भिन्न था। इसका नाम है 'ले वर्नेट' (Le Vernet)। वही एक ऐसा शिविर था, जहाँ का अनुशासन बहुत कड़ा था। दूसरे शिविरों के बंदी सजा भुगतने के लिए वहाँ भेज दिये जाते थे। पायरेनेस के उत्तर में यह किसी 'शैतान' के टापू के समान ही था। स्पेन ने जब इस युद्ध का आरम्भ किया था, तभी यह शिविर बना था, जिससे पराजित प्रजातंत्रवादी सैनिकों को फ्रांस के 'आतिथ्य सत्कार' का अनुभव कराया जा सके। ले वर्नेट में पहले रहने के लिए ठंड से सिकुड़ी धरती के नीचे खोदी गयी खाइयाँ ही थीं, जिनमें आहत सैनिकों को मरने के लिए और स्वस्थ सैनिकों को बीमार होने के लिए डाल दिया जाता था। शिविर का पहला निर्माण-कार्य उसे चारों ओर से काँटेदार तारों से घेरने के रूप में हुआ। बगल में ही कब्रिस्तान था, जहां कब्र की पहली कतार पर लगे सभी लकड़ी के क्रासों पर स्पेनिश नाम थे। ये नाम किसी शिलालेख के समान नहीं हैं; बल्कि किसी जोसे या डियेगो या जेसस ने अपनी जेबी छुरी से लकड़ियों पर खोद रखा है— "आडियस, पेट्रो, फासिस्ट सरकार तुम्हें जिन्दा जला देना चाहती थी; किंतु फ्रांसीसियों ने यहाँ तुम्हें ठंड में सिकुड़ कर शांतिपूर्वक मरने की अनुमति दी।"

बाद में, लकड़ी की कुछ झोंपड़ियाँ बांधी गयीं। प्रत्येक झोंपड़ी में दो सौ सैनिक रहने वाले थे और उनमें प्रत्येक को रहने के लिए २१ इंच जगह मिलने वाली थी। लेकिन जब झोंपड़ियाँ तैयार हुईं तो उनमें से सब को हटा दिया गया, क्योंकि उन झोंपड़ियों के निरीक्षण के लिए आये हुए एक कमीशन ने फैसला दिया कि वह जगह मनुष्यों के रहने के योग्य नहीं है। कुछ महीने तक वह शिविर बिल्कुल खाली रहा—सिर्फ चूहे और खटमल ही वहाँ रहते थे। फिर युद्ध छिड़ गया और वह जगह पुनः बंदियों से भर गयी। समस्त यूरोप से आये लोगों की अद्भुत भीड़ हो गयी वहाँ। फ्रेंच समाचार-पत्रों ने बड़ी उदारतापूर्वक उसे 'पृथ्वी की गंदगी' के नाम से पुकारा।

उस शिविर में आये हुए लोग कौन थे? कुछ अंतर्राष्ट्रीय सैन्य दलों के अंतिम मोहिकन और कुछ सभी देशों से—जहाँ फासिस्टों का अधिकार था—निकाले गये राजनीति में सक्रिय भाग लेनेवाले फ्रेंच राष्ट्रवादियों ने, जो बोनेट-लावाल-नीति के हाथों की कठपुतली-मात्र थे और जो नीति सितम्बर १९३९ से ही मुहरबंद होकर बिकने को तैयार थी, निश्चय किया कि हिटलर के विरुद्ध लड़ने के लिए सबसे पहला जरूरी काम था, सभी शरारती हिटलर-विरोधियों

को हिरासत में डाल देना। यह व्यक्तिगत वामपंथ-विरोधी कार्य सर्वसाधारण को रुचिकर लगे, इस विचार से इस 'गंदगी' में वास्तविक अपराधी-जगत के बीस प्रतिशत लोग भर दिये गये। इनमें मादक द्रव्यों का व्यवहार करने वाले, आवारा लड़के, अपराधी-दलों के संचालक तथा अन्य अपराधी शामिल थे।

किंतु बचे हुए ८० प्रतिशत लोगों में, जो इस सीलन और गंदगी में फेंके गये थे, वे ही लोग थे, जिन्होंने सन् १९३० या उससे पहले ही हमारे इस युद्ध का श्रीगणेश किया था। उन्होंने मुसोलिनी के शासन में अत्यधिक यंत्रणाएँ सही थीं—डकाउ, बुकारेस्ट और लोवोव में उन्होंने काफी तकलीफें उठायी थीं—लोहे की चाबुकों की मार सही थी। वियना और प्रेग में उन्होंने गुप्त रूप से नाजी-विरोधी परचे छापे थे और इन सबसे ऊपर स्पेन ने जब युद्ध का श्रीगणेश किया था, तबसे उसमें लड़ते रहे थे। हाँ, मुझे ले वर्नेट की निशानी पर, अपने स्कूल के दिनों की टाई के समान ही, गर्व है।

सन् १९४० की जनवरी में मेरी वहाँ से मुक्ति हुई। उसके बाद वहाँ क्या-क्या हुआ, इसकी अस्पष्ट अफवाहें तब से मैं सुनता रहा हूँ; किन्तु पहली अधिकृत रिपोर्ट जो मुझे मिली वह इस अंग्रेज से ही, जो मेरे छूटने के ५ महीने बाद वहाँ लाया गया था। चूँकि अभी उसके रिश्तेदार फ्रांस में मौजूद हैं, मैं उसे 'मर्डोक' के कल्पित नाम से पुकारूँगा। जर्मनों का अधिकार होने के कुछ ही दिनों बाद वह गिरफ्तार कर लिया गया था और रीम्स के निकट, युद्धकालीन बंदियों के एक शिविर में भेज दिया गया था। वहाँ से वह भाग निकला और किसी प्रकार फ्रांस के उस अंचल में पहुँचा, जिस पर जर्मनों का अधिकार नहीं हुआ था। किन्तु सैनिकों ने बिना अनुमति-पत्र के विभाजन-रेखा पार करने के अपराध में उसे गिरफ्तार कर लिया और एक संदिग्ध के रूप में वह वर्नेट भेज दिया गया। वहाँ हथकड़ियों से जकड़ा हुआ वह जुलाई, १९४० के आरम्भ में पहुँचा।

वर्नेट में वर्ष-भर में जो-जो होता था, वह सब मर्डोक के वर्णन में शामिल था। उसने वहाँ के उस पूर्व-निश्चित कार्यक्रम के बारे में मुझे बताया। सिर्फ तीन महीनों में ही उसका वजन १५० पौंड से घटकर १२० पौंड तक पहुँच गया। ६ महीने बाद उसे टायफायड हो गया; लेकिन उन लोगों के विपरीत, जो उससे दस साल पहले से वहाँ थे और जिनकी शक्ति क्षीण हो गयी थी, वह बच गया। एक वर्ष के बाद वह ऐसी स्थिति में पहुँच गया था, जहाँ उसने दीर्घकालीन यातना से ऊब कर अल्पकालीन वेदना भुगतने के पक्ष में फैसला

किया। उसने भूख-हड़ताल शुरू कर दी और २० दिनों के बाद उसे सफलता भी मिली। इसके लिए उसकी उन विशिष्ट परिस्थितियों को धन्यवाद है, जिनके अंतर्गत उसके पास एक पासपोर्ट था और मार्सेलीज में एक ऐसा कानूनी सलाहकार भी, जो उसके सम्बंध में शोरगुल मचा सके। उस 'गंदगी' के साधारण सदस्य की यही विशेषता थी कि न तो उसके पास पासपोर्ट होता था, न उसका कोई कानूनी सलाहकार होता था और नही कोई ऐसा व्यक्ति, जो दो पेंस खर्च करके उसका हाल-चाल पूछ लिया करे।

मर्डोक शिविर में ठीक उस वक्त पहुँचा, जब युद्ध स्थगित करने के लिए की जानेवाली संधि की शर्तों और उसके घातक १९-वें अनुच्छेद के सम्बंध में अफवाहें आरम्भ हो गयी थीं। १९-वें अनुच्छेद के अनुसार जर्मनी में पैदा हुए सभी व्यक्तियों को जर्मन अधिकारियों को सौंप देने की व्यवस्था थी। दूसरे शब्दों में जर्मन अधिकारियों की मांग थी कि सभी नाजी-विरोधी शरणार्थी गेस्टापो के हवाले कर दिये जायें।

फिर भी जब संधि की शर्तें प्रकाशित हुईं, तब शिविर के बंदियों में तनिक भी भय का संचार नहीं हुआ। सब बंदियों ने एकत्र होकर कमांडर से प्रार्थना की कि उनमें से कुछ को जर्मनों का अधिकार होने के पूर्व ही 'भाग निकला हुआ' बता दिया जाये। कमांडर ने इनकार कर दिया। एक अफसर की हैसियत से उसे जो काम करना पड़ता था, सम्भवतः उससे उसे घृणा थी; किन्तु दूसरी ओर प्रति माह वेतन के रूप में मिलने वाले १० पौंड के हाथ से निकल जाने का भय भी तो था। बाद में, बंदियों के एक प्रतिनिधिमंडल ने यह अनुरोध किया कि गेस्टापो के आने के पहले शिविर के कार्यालय में रखी उनके सम्बंध की फाइलें नष्ट कर दी जायें। कमांडर ने ऐसा करने का वचन दिया; किन्तु जब पहला जर्मन कमीशन पहुँचा, तो कैदियों की सूची पूरी थी।

प्रथम नाजी कमीशन जुलाई महीने में किसी वक्त शिविर में पहुँचा था और अब वहाँ के दुःखद दृश्य ने पापपूर्ण प्रहसन का रूप धारण कर लिया। कमीशन के आने के दो दिन पहले कमांडर के आदेशानुसार सफाई के लिए दौड़-धूप शुरू हो गयी। झोंपड़ी के घास के छप्पर बदल दिये गये, उनमें कीटाणु-नाशक दवाइयाँ छिड़क दी गयीं, शौचालय साफ करवा दिये गये। कमीशन जब वहाँ पहुँचा, तो परेड के मैदान में निरीक्षण के लिए सब बंदी कतार से खड़े थे। एक दर्जन के लगभग वही लोग अनुपस्थित थे, जिन्होंने फाँसी लगा ली थी अथवा समय पर अपनी नसें काट डाली थीं। अपने-अपने राष्ट्रों के

अनुसार अलग-अलग दलों में वे वहाँ घण्टों खड़े रहे। उन्होंने स्नान कर रखे थे, उनके बाल सँवारे हुए थे, उनके कानों में मैल नहीं जमी थी, नाखून कटे थे और वे पूर्ण सैनिक व्यवस्था में खड़े थे—जैसे मेमने कसाई की प्रतीक्षा कर रहे हों। कमीशन में १६ चुस्त जर्मन अफसर थे और उन्होंने अलग-अलग किस्म की वर्दियाँ पहन रखी थीं। उनमें गेस्टापो भी थे। जिस प्रकार मवेशियों का खरीद-फरोख्त करनेवाला मवेशियों का निरीक्षण करता है, उसी प्रकार निरपेक्ष भाव से अपनी यातनाओं के शिकार उन व्यक्तियों की परेड का उन्होंने निरीक्षण किया। उनके साथ चेहरे पर मुस्कान लिये फ्रेंच सैनिक और अफसर भी थे।

यह बड़े आश्चर्य की बात थी कि जर्मनों को अपने हिस्से का पौंड-भर माँस लेने की जल्दी नहीं थी। अगले कुछ महीनों में सब मिलाकर अधिक-से अधिक ३० बंदियों को—जो राजनैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे—तीन अथवा पाँच के छोटे-छोटे दलों में ले जाया गया। उन लोगों में हैन्स डलेम और जर्मन कम्यूनिस्ट दल की केंद्रीय समिति के अन्य सदस्य थे। हैंस शल्ज भी था, जिसने नाजी क्रूरताओं पर लिखी प्रसिद्ध पुस्तकों के सम्पादन में मुख्य भाग लिया था। वह मेरे सबसे प्रिय मित्रों में था और विलि मेन्ज़ेन्बर्ग का सेक्रेटरी था। कम्यूनिस्ट अंतर्राष्ट्रीय के पश्चिमी विभाग का वह प्रचार-प्रधान था और कमिंटर्न ने जितने प्रतिभाशालियों को जन्म दिया, उनमें गोबेल्स की समता करने वाला वह सम्भवतः एकमात्र व्यक्ति था। (विनाश के काल में, ग्रेनोबल के निकट एक जंगल में, मेन्ज़ेन्बर्ग फाँसी से लटकता पाया गया। वह मार डाला गया था अथवा उसने आत्महत्या की थी, यह प्रमाणित नहीं हो सका।)

मुख्य-मुख्य बंदियों के अलावा, बाकी शरणार्थियों को वापस ले जाने के लिए नाजी उत्सुक नहीं प्रतीत होते थे। सम्भवतः उन्होंने सोचा हो कि जब सारा यूरोप उनका था, तो ये क्षुद्र जीव उन्हें और अधिक नुकसान नहीं पहुँच सकते थे। उन्हें वस्तुतः मजदूरों की जरूरत थी। प्रसिद्ध टाड-कमीशन (यह नाम सीग फ्रायड पंक्ति के निर्माता के नाम पर दिया गया था, जो हाल ही में मार डाला गया था) ने अपने श्रम-शिविरों, मोर्चों, कारखानों तथा खानों में काम करने के लिए मजदूरों को रखने के विचार से ले वर्नेट में एक आफिस खोल दिया। मजदूरों की अपनी इस जरूरत को पूरी करने के लिए वे इतने परेशान थे कि उन्होंने सब को भर्ती करना शुरू कर दिया—चाहे उनके राजनैतिक विचार कुछ भी हों। हाँ, एक बात का ध्यान वे रखते थे—"भर्ती किये जाने वाले का आर्य होना जरूरी था। साथ ही उसे पूर्ण स्वस्थ होना चाहिए

था, कठिन श्रम करने का इच्छुक भी!" वे उनको काफी तनख्वाह देने का वचन देते थे—१२० फ्रांक प्रति दिन—१३ शिलिंग के लगभग।

हजार से भी अधिक निराश व्यक्तियों ने टाड-कमीशन में अपना नाम लिखा लिया। उनमें से अधिकांश या तो अपराधी-वर्ग के थे या गैर-राजनीतिक वर्ग के। अंतर्राष्ट्रीय सैन्य दलों के सैनिकों ने अपना नाम लिखाने से इनकार कर दिया। मुझे यह सारी बात बतानेवाले अंग्रेज ने एक व्यक्ति को कमीशन के इस प्रश्न का कि क्या वह जर्मनी वापस जाना पसंद करेगा—जवाब देते हुए सुना था —"बड़ी खुशी से—किन्तु थेलमन के प्रेसिडेंट बना दिये जाने के बाद!" (थेलमन जर्मन कम्यूनिस्ट पार्टी का नेता था, जो सन् १९३२ से ही बंदी था।) ताज्जुब है, ऐसे उत्तर पर भी उस व्यक्ति को कोई दंड नहीं दिया गया।

दूसरे एक हजार अथवा उससे कुछ अधिक व्यक्तियों को फ्रेंच अधिकारियों ने बलपूर्वक जहाज पर अफ्रीका भेज दिया, जिससे ट्रांस-सहारा रेलवे के आधुनिक गुलामों के दल में शामिल होकर वे भी काम कर सकें। जर्मनी को सौंपे जाने के समान लोगों की हदपारी (देश से बाहर निकालने का काम) भी बड़ी भयानक थी। ऐसे व्यक्तियों के चुनाव में न तो कोई नियम बरता गया था, न कोई सावधानी! कोई नहीं जानता था कि अगली बार उसे चुना जायेगा या छोड़ दिया जायेगा। ले वर्नेट में जो पत्र पहुँचते थे, वे सेंसर होने (अधिकारियों द्वारा पास कर दिये जाने) के बावजूद लोगों को इस बात का आभास दे देते थे कि मोरक्को-निवासी गुलामों के दल की कैसी दुर्दशा है और उस खूनी (अस्वास्थ्यकर) जलवायु में लोग किस प्रकार पर्याप्त पोषण के अभाव, अत्यधिक थकान और संक्रामक रोगों से मक्खियों की तरह मर रहे हैं। मर्डोक की जब रिहाई हुई, तो वह एक सैनिक के साथ, जो निष्कासित व्यक्तियों को लेकर सेटे बंदरगाह तक गया था, मार्सिले भेज दिया गया। उसने मर्डोक को बताया था—"सब के हाथों में हमने हथकड़ियां लगा रखी थीं; फिर भी वे शांति से नहीं बैठे रहते थे। एक ने चलती गाड़ी की खिड़की से बाहर कूदने का प्रयास किया, लेकिन मैंने उसे समय पर पकड़ लिया। जहाज पर उन्हें पहुँचाने तक छः व्यक्ति भाग निकले; लेकिन एक बार जहाँ वे जहाज पर पहुँचा दिये गये कि हमने मशीनगन के जोर पर उन्हें बंद कर दिया और उसके बाद उन्होंने कोई बदमाशी नहीं की।"

गेस्टापो के हवाले किया जाना अथवा निष्कासित कर के सहारा में भेजा जाना प्रतिदिन के लिए आतंकदायी बन गया। ले-वर्नेट के आदमियों के सिर पर यह

आतंक दिन-रात, सप्ताहों और महीनों तक लटकता रहा। अपने भविष्य के लिए उन्हें कोई आशा नहीं थी और वर्षों से यातनापूर्ण और लोगों से परे जो जीवन वे व्यतीत कर रहे थे, उससे उनका अतीत उनके लिए और भी अधिक अवास्तविक बन गया था। और फिर भी एक दर्जन से अधिक व्यक्ति पागल नहीं हुए थे और बीस से अधिक लोगों ने आत्महत्या नहीं की थी। बाकी लोगों ने सिर्फ अपनी नैतिकता बनाये ही नहीं रखी, बल्कि अपने रक्षकों के प्रति रक्तहीन विद्रोह किया और उन्हें सफलता भी मिली।

यह विद्रोह अन्तर्राष्ट्रीय सैन्य दलों के सात सौ सैनिकों द्वारा-जो पूरे समुदाय की रीढ़ थे—आयोजित किया गया था। मेरे ले वर्नेट छोड़ने के बाद ये सैनिक दूसरे शिविर से वहाँ भेज दिये गये थे। मर्डोक ने मुझे बताया—"उनके अभाव में, हम सब मर गये होते।"

सन् १९४० के अंत में, असंतोष फैलने लगा। उस वक्त तक शिविर में खाद्यान्न का अभाव भुखमरी का रूप ले चुका था। रोटी का राशन घटा कर सिर्फ ९ औंस कर दिया गया था और बाकी खाने में प्रति दिन सुबह में आधा पिंट (प्रायः डेढ़ पाव) काली काफी मिलती थी और लगभग एक पिंट शोरबा। जो भी खाद्यान्न शिविर में पहुँचता था, उसका बड़ा हिस्सा, वहाँ के अधिकारी द्वारा चुरा लिया जाता था और उसका कुछ हिस्सा, वहाँ काले बाजार में बेचा जाता था। कुछ हिस्सा शिविर के कैंटीन द्वारा काफी बढ़े हुए दामों पर शिविर के धनी व्यक्तियों के हाथ बेचा जाता था। कैंटीन मिमि डेज्यूने नामक एक महिला चलाती थी। वह लेफ्टिनेंट कौम्प के साथ—जो सर्वाधिक बदमाश और क्रूर था—रात गुजारती थी और अपना मुनाफा उसके साथ बाँट लेती थी। चुराये गये आलुओं और गाजरों की जगह, बंदियों के लिए, शोरबा बर्फ-से सर्द (खराब) शलगमों से तैयार किया जाता। दिसम्बर, १९४० में एक दिन बंदियों ने मिलकर उन शलगमों को गाड़ दिया और एक साथ नारे लगाने लगे—"हम भूखे हैं। और "हमारे अधिकारों का आदर करो!" घंटों यह चलता रहा। अंत में, कमांडर कुछ सैनिकों के साथ आगे-आगे चलकर बंदियों के तार के घेरे के निकट पहुँचा। सबने अपनी राइफलें तान रखी थीं। कमांडर ने कहा—"मेरे तीन गिनने तक तुम सब तितर-बितर हो जाओ।" उसने तीन तक गिना; पर कोई हिला भी नहीं। कमांडर हिचकिचाया। अगर उसने गोली चलाने का हुक्म दे दिया होता, तो वह अपने इच्छानुसार अधिक-से-अधिक बंदियों को मौत के मुँह में भेज सकता था; किंतु उसके फौजी दस्ते के आधे सिपाही भी मारे जाते

और जिसका अर्थ था, उसे सम्भवतः अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ता। जब वह हिचकिचा रहा था, बंदियों में से एक ने नम्र आवाज में कहा—"तुम एक बार फिर गिनना क्यों नहीं आरम्भ करते?" कमांडर और उसका सैनिक दस्ता वापस चला गया।

बंदियों की यह पहली विजय थी। शलगम फेंक दिये गये और बंदियों को इसका अधिकार दिया गया कि खाद्यान्न-अधिकारी के भांडार में खाद्यान्नों की जाँच करने के लिए वे अपने प्रतिनिधि नियुक्त करें।

कुछ महीनों बाद, दो बैरकों के प्रतिनिधियों ने अपने राशनों में कमी पायी और उसे लेने से इनकार कर दिया। परिणाम-स्वरूप काफी लम्बा और जबर्दस्त संघर्ष चला। उन दो बैरकों के अलावा शिविर के आधे बंदियों ने भूख-हड़ताल की। इस सारे समय बंदियों का अनुशासन उल्लेखनीय था। उन्होंने किसी प्रकार का उपद्रव नहीं किया—किसी उत्तेजना के वशीभूत नहीं हुए। रक्षकों ने जब उन पर आक्रमण किया, उन्होंने विरोध नहीं किया। स्वयं को भूखे रखकर और किसी जंगली नगाड़े की आवाज की तरह बार-बार अपने नारे दुहरा कर कि "हम भूखे हैं" और "हमारे अधिकारों का आदर करो"—वे अपना संघर्ष जारी रखे हुए थे। इसका अंत इस प्रकार हुआ कि कमांडर ने निकटस्थ गाँवों से लगभग आधी पल्टन के बराबर सैनिक एकत्र किये और इन सैनिकों ने बिना किसी चेतावनी के शिविर पर हमला कर दिया। किसी प्रकार का विरोध न करनेवाले बंदियों को राइफल के कुंदों से मारा गया और वे सैनिक एक सौ छः आदमियों को घसीटते हुए ले गये। इन आदमियों को वे चुनकर नहीं ले गये थे—जिसे चाहा, पकड़ ले गये। इन एक सौ छः व्यक्तियों को स्थानीय कारागार में ले जाया गया। वहाँ रात भर उन्हें पीटा गया और फिर जेल में डाल दिया गया। इस प्रकार अपनी खोयी प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना कर, कमांडर ने बंदियों के प्रतिनिधियों से समझौते की बात आरम्भ की। इस वार्ता का अंत यह हुआ कि उनकी सभी माँगें स्वीकार कर ली गयीं। इच्छा-शक्ति की यह विजय बड़ी अद्भुत थी; क्योंकि ले वर्नेट का कमांडर, गार्डे मोबाइल के फौजी दस्ते का वही प्रधान था, जिसने प्रदर्शनों के समय ६ फरवरी, १९३४ को, पैलेस-डे-ला-कान्कोर्ड में एकत्र भीड़ को जिंदा जलाने के लिए, उसमें आग लगा देने का हुक्म अपने व्यक्तियों को दिया था।

मर्डोक जब रिहा किया गया, तब वर्नेट में लगभग दो हजार बंदी थे। कुछ बेल्जियन, स्विस और डच अपने-अपने देश भेज दिये गये थे, एक हजार से

अधिक व्यक्ति जर्मनी के लिए गुलामी करने टाड-कमीशन के साथ चले गये थे, लगभग आठ सौ व्यक्ति निष्कासित करके अफ्रीका भेज दिये गये थे; किन्तु हर बार रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए नये बंदी ले आये जाते थे। नये आने वालों में अधिकांश विदेशी स्वयंसेवक थे, जिन्होंने फ्रांस की लड़ाई लड़ी थी। कुछ उनमें आहत हो गये थे, कुछ को उत्कृष्ट बहादुरी का सम्मान मिला था। किन्तु वर्नेट में जो शौचालयों का कष्ट था, उसके सम्मुख उनका शौर्य भी धरा रह गया। उनमें दो चीनी भी थे और अबीसीनिया के कबीले का एक व्यक्ति था, जो १९३५ में एक इटालियन बंदी-शिविर से भाग निकला था और तब से मार्सिले में उस वक्त तक रहता आया था, जब तक पुलिस ने उसे "फासिस्ट-विरोधी कार्रवाइयों का संदिग्ध" कह कर बंदी नहीं बना लिया। वर्नेट के अस्पताल में वह क्षय रोग से मर गया।

जो सही पंचमांगी थे, उनमें से सिर्फ तीन या चार व्यक्तियों को ही मेरे उस पुराने बंदी-शिविर में कम दिनों तक रहने देकर असम्मानित किया गया। बेल्जियन साम्राज्यवादियों का नेता लियो डेग्रेले कुछ दिनों के लिए अंतर्राष्ट्रीय सैन्य दलों के सैनिकों के साथ बैरक नं. १७ में रखा गया था। उसे भय था कि क्रूर साम्यवादी उसे मार डालेंगे। उन्होंने उसका स्पर्श तक नहीं किया। वे उसके साथ वैसा बर्ताव करते थे, जैसे वह पारदर्शक हो। संधिपत्र पर हस्ताक्षर होने के पूर्व ही उसे मुक्त कर दिया गया था। शिविर के कमांडर ने स्वयं आकर उसे यह शुभ समाचार दिया—"मांश्योर डेग्रेले, आपकी मुक्ति का आदेश आ गया है।"

किंतु मेरे पुराने मित्रों को ले जाने के लिए कोई मोटर नहीं आयी। अगर उन्होंने वह शिविर छोड़ा भी, तो स्ट्रेचर पर लद कर छोड़ा। मेस्त्रो उनमें से एकमात्र व्यक्ति है, जो निष्कासित कर के मोरक्को भेजे जाने के बाद, एक चमत्कार की तरह, वहाँ से मुक्त हो गया। वह अब मेक्सिको में है और बेनेदेतो क्रोस के ऊपर लिखना पुनः जारी कर रहा है। यह पुस्तक उसने वर्नेट में लिखना आरम्भ किया था। किंतु वृद्ध पोडाक अपने नैराश्य और दमा को सँजोये अभी वहीं है। रूमानिया का, जूते की डिजाइन बनाने के लिए विख्यात क्लेइन और यांकेल भी वहीं था, जब मर्डोक वहाँ पहुँचा। यांकेल १९ वर्ष का एक लड़का है, जिसकी नाक सदा बहती रहती थी और जो गर्दन में लाल स्कार्फ बाँधे रहता था। वह रूसी यहूदियों के दो संगठनों में रहा था और क्रैकाउ में परचे बाँटने के लिए उसे दो बार जेल जाना पड़ा था। मर्डोक का अनुमान है कि नवम्बर में जब बारह व्यक्तियों के एक दल ने भागने की कोशिश की थी

और उनमें जिन तीन व्यक्तियों को गोली मार दी गयी थी, उनमें यांकेल भी एक था। किंतु वह निश्चित रूप से नहीं कह सकता। "इतना सुंदर यहूदी बालक और कितना साहस था उसके भीतर!"—मर्डोक ने उसका उल्लेख करते हुए कहा। किंतु ले वर्नेट में और भी बहुत-से सुंदर यहूदी बालक थे और उनमें भी प्रचुर साहस था।

मर्डोक के जाने के बाद शिविर के सम्बन्ध में जो मुझे अंतिम समाचार मिले, वे एक अंतर्राष्ट्रीय लोकहितैषी संगठन की गुप्त रिपोर्ट में प्रकाशित हुए थे—

"सन १९४१ के सितम्बर-अक्तूबर में ले वर्नेट में एक संक्रामक रोग फैला। प्रति दिन औसतन दो और तीन व्यक्ति मरते थे। इसकी सर्वाधिक जिम्मेदार प्राथमिक सावधानी—शौचालयों की देखभाल की—उपेक्षा थी। वहाँ रहने वालों को "भूख-भूख" चिल्लाकर मरने के लिए छोड़ दिया गया। सिर्फ अंतिम अवस्था में ही उन्हें शिविर के अस्पताल में भर्ती किया जाता और वहाँ बहुत बड़ी संख्या में उनकी मृत्यु होती।"

यह सन् १९४२ का जून है और मुझे ताज्जुब है कि उनमें से अब तक कितने बचे होंगे। 'सी'-विभाग के कंटीले तारों के घेरे से वे कब्रिस्तान में दिन-प्रति-दिन और कतार-के-बाद-कतार में बढ़ते हुए लकड़ी के क्रासों को देख सकते हैं। धर्मयुद्ध करनेवालों की सामूहिक कब्रों के बाद से सम्भवतः यही विश्व के सभी जातियों की सर्वाधिक खोपड़ियों का संग्रह है। और वे भी धर्मयोद्धा ही थे, एक विनष्ट होते हुए महादेश के वे अभिमान थे—वीर-श्रेष्ठ थे—मनुष्य की प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने के लिए होने वाले युद्ध के वे मार्गदर्शक थे। किंतु भविष्य के इतिहास-लेखक उनकी कहानी—अंतर्राष्ट्रीय सैन्य दलों की वीरता और मेरे पुराने बंदी-शिविर की कहानी—प्रकाश में लायेंगे और उन पर लगे लेबिल को बदल कर नया लेबिल लगा देंगे और उन्हें उसी नाम से पुकारेंगे, जो वे वास्तव में थे—"पृथ्वी का लवण—एक उपयोगी और महत्वपूर्ण पदार्थ।"

अविश्वसनीय क्रूरताएँ*

मैं एक स्वप्न देखा करता हूँ। नियमित समय पर बार-बार मैं यही स्वप्न देखता हूँ—घोर अंधकार है और किसी वन या घनी झाड़ी में मेरी हत्या की जा रही है। कुल दस गज की दूरी पर एक रास्ता है, जिस पर आना-जाना लगा ही रहता है। मैं मदद के लिए चिल्लाता हूँ; किंतु मेरी आवाज कोई नहीं सुनता, भीड़ हँसती और बातें करती चली जाती है।

मैं जानता हूँ कि और भी बहुत-से व्यक्ति इस प्रकार के स्वप्न देखते हैं। हाँ, उनके व्यक्तित्व के अनुसार उसमें कुछ परिवर्तन रहते हैं। इसके सम्बन्ध में मैंने विश्लेषकों से काफी झगड़ा किया है। मेरा विश्वास है कि मृत्यु और लौकिक हिंसा का सामना करते समय तथा अपने अनुभव की अनोखी भयानकता कहने में असमर्थ होने पर यह व्यक्ति के परम एकाकीपन का व्यक्तीकरण है। मेरा यह भी विश्वास है कि जर्मन क्रूरताओं के सम्बंध में किये गये हमारे प्रचार की विफलता की यही जड़ है। क्योंकि आखिर सड़क पर हँसते हुए गुजरनेवाले लोग आप ही हैं और हममें से कुछ ही ऐसे हैं, जिन्होंने या तो वन में होने वाली घटनाओं को अपनी आँखों से देखा है अथवा खुद उनका शिकार होते-होते बचे हैं। उन्हें हमारी स्मृतियाँ बार-बार सताती हैं और वे रेडियो पर चीखते रहते हैं; समाचारपत्रों, सार्वजनिक सभाओं, थियेटरों और सिनेमाओं में आपके विषय में चिल्लाते रहते हैं। कभी-कदाच आपके कानों तक मिनट-भर के लिए अपनी आवाज पहुँचाने में हम सफल हो जाते हैं। मैं जानता हूँ, जितनी बार ऐसा होता है, उतनी बार आपके चेहरों पर एक मूक आश्चर्य का भाव व्यक्त हो उठता है, आपकी आँखों में एक धुँधली-सी चमक समा जाती है और मैं स्वयं से कहता हूँ—"अब तुमने उन्हें पा लिया है; अब उन्हें पकड़े रहो, पकड़े रहो, जिससे वे जागते रहें।" किंतु यह स्थिति एक मिनिट तक रहती है। पिल्लों ही तरह, जिनके शरीर के रोयें जब भीगे रहते हैं, आप अपने शरीर को हिलाते हैं, फिर शीघ्र ही वह प्रभाव समाप्त हो जाता है और आप आगे बढ़ जाते हैं—स्वप्न के घेरे से रक्षित, जो सब आवाजों को दबा देता है।

---

* प्रथम बार "द' न्यू टाइम्स मैगेजीन" जनवरी १९४४ में प्रकाशित।

हम, चीखने वाले, लगभग दस वर्षों से चीखते आ रहे हैं। हमने चीखना उसी रात प्रारम्भ किया, जब जर्मन पार्लियामेंट में आग लगायी गयी। हमने कहा था—अगर इन लपटों को आप तत्काल शांत नहीं करते हैं, तो ये सारे संसार में फैल जायेंगी। आपने समझा, हम लोग पागल हैं। अभी हमें, यूरोप के उन सभी यहूदियों के विषय में आपको बताने की सनक है, जो गर्म भाप से, विद्युत्-प्रवाह से और जिंदा गाड़ कर मारे जा रहे हैं। अब तक तीस लाख मर चुके हैं। इतिहास की सामूहिक हत्याओं में यह सबसे बड़ी है और प्रति दिन, प्रति घंटे यह व्यापार चल रहा है—आपकी घड़ी की टिक्-टिक् के समान ही नियमित रूप से! यह लिखते वक्त मेरे सामने मेज पर इसके फोटो रखे हैं और मेरी इस भावना तथा कड़वापन का यही कारण है। उन फोटों को पोलैंड से चोरी-चोरी बाहर लाने में कई लोग मर गये। उनका विचार था, ये फोटो वहाँ से बाहर, प्रकाश में आने योग्य हैं। परचों, पुस्तकों, समाचारपत्रों, पत्रिकाओं और सभी उपायों द्वारा वास्तविक तथ्य प्रकाशित हो चुके हैं। किंतु एक दिन मैं यहां के पत्रकारों में से एक प्रमुख अमरीकी पत्रकार से मिला। उसने मुझे बताया कि अभी हाल ही में जब अमरीकी लोगों के विचार जानने का प्रयास किया गया, तो औसतन दस व्यक्तियों में से नौ व्यक्तियों ने, यह पूछने पर कि क्या वे नाजियों की इन क्रूरताओं पर विश्वास करते हैं, जवाब दिया कि यह सब झूठे प्रचार हैं और वे इस के एक शब्द पर विश्वास नहीं करते। इस देश में, तीन वर्षों से मैं सैन्य दलों के सामने व्याख्यान देता हूँ और उनका रुख अभी भी वही है। वे बंदी-शिविरों के सम्बंध में विश्वास नहीं करते, वे यूनान के क्षुधा-पीड़ित बच्चों के बारे में, फ्रांस के शरीर-बन्धकों को गोली मारे जाने के बारे में या पोलैंड के सामूहिक कब्रों के बारे में विश्वास नहीं करते। उन्होंने लिडिस, ट्रेब्लिंका अथवा बेलजेक के बारे में कभी नहीं सुना। हम घंटे भर के लिए उन्हें विश्वास दिला देते हैं, किन्तु फिर वे शरीर झटक देते हैं, उनकी मानसिक आत्म-सुरक्षा काम करना आरम्भ कर देती है और एक प्रतिबिम्ब के समान ही, जो किसी आघात से कुछ काल के लिए धुँधला हो गया था, उनका अविश्वास एक सप्ताह में ही लौट आता है।

मेरे लिए और मेरे जैसे अन्य व्यक्तियों के लिए स्पष्ट ही, यह एक उन्माद बनता जा रहा है। स्पष्ट ही, हम किसी दूषित प्रेतबाधा से यातना पा रहे हैं—जब कि दूसरे लोग स्वस्थ और स्वाभाविक अवस्था में हैं। किंतु पागलों का

विशिष्ट लक्षण यह है कि यथार्थता से उनका सम्बंध टूट जाता है और वे कल्पना के संसार में रहते हैं। सो, शायद यहाँ इसके विपरीत है, शायद यहाँ हम, चिल्लानेवालों पर, स्वस्थ और ठोस रूप में यथार्थ की प्रतिक्रिया हुई है—जब कि आप वह उन्मादी हैं, जो एक आवरित कल्पना-लोक में डगमगा रहा है। कारण यह है कि वास्तविकता का सामना करने के लिए आप में आंतरिक बुद्धि का अभाव है। अगर बात ऐसी नहीं होती, तो यह युद्ध टल गया होता और जो आपकी दिवा स्वप्निल आखों के सामने मारे गये, वे अभी भी जीवित रहते।

मैंने 'शायद' इसलिए कहा है कि उपर्युक्त बातें सिर्फ अर्द्ध सत्य हो सकती हैं। सभी काम में चीखने वाले हुए हैं—मसीहे, उपदेशक, शिक्षक और सनकी, जो अपने समकालीनों की मूढ़ता को कोसते हैं, और परिस्थिति का ढाँचा भी बहुत-कुछ यही रहा है। सदैव घनी झाड़ियों से चीखनेवाले रहे हैं, और लोग सड़क पर गुजरते रहे हैं। उनके कान होते हैं; पर वे सुनते नहीं, उनकी आँखें होती हैं; पर वे देखतीं नहीं। अतः निश्चय ही इसकी जड़ों को मात्र मूढ़ता से भी नीचे, और अधिक गहराई में होना चाहिए।

शायद यह चीखनेवालों का अपराध है! कुछ अवसरों पर ऐसा भी होता है, इसमें संदेह नहीं; किंतु मैं विश्वास नहीं करता कि इसका मूल कारण यही है। एमोस, होज़ी, जेरेमियाह अच्छे प्रचारक थे; फिर भी वे अपने लोगों को प्रभावित और सावधान करने में असफल रहे। कैसेंड्रा (ट्रोजन की एक भविष्य बताने वाली औरत) की आवाज के बारे में कहा जाता है कि वह दीवारों में भी प्रवेश कर जाती थी, फिर भी ट्रोजन का युद्ध हुआ ही। और मेरा विश्वास है कि इस समय भी उचित अनुपात में एम. ओ. आइ. और बी. बी. सी. अपने काम में काफी निपुण हैं। लगभग तीन वर्षों तक सिर्फ पराजय की खबरें देखकर ही उन्हें अपने देशवासियों का धैर्य बनाये रखना था और उन्होंने इस कार्य में सफलता भी पायी। किन्तु साथ-ही-साथ, जिस काल में वे पैदा हुए थे, उसकी श्रेष्ठता और भयानकता तथा यह सब क्या हो रहा था, इस सम्बंध में लोगों को किसी उपाय से प्रभावित करके पूर्ण जाग्रत करने में उनकी असफलता बड़ी शोचनीय रही। पुराने ढर्रे पर उनका कार्यक्रम चलता रहा। सिर्फ एक ही अंतर था कि उनके इस कार्यक्रम में मरने और मारे जाने की खबरें भी शामिल हो गयी थीं। यथार्थ में कल्पना नहीं करने की शक्ति एक एंग्लो-सेक्सन जातीय दंतकथा का रूप ले चुकी है। साधारणतया संकट के समय अपने महत्त्व के लिए इसकी प्रशंसा की जाती है। किन्तु दंतकथा यह नहीं बताती कि संकट-

कालों के बीच क्या होता है और उसकी यही खूबी संकटों के पुनरागमन को रोकने में असफलता की जिम्मेदार है।

सजगता की परिमितता ऐंग्लो-सेक्सनों का कोई विशेष अधिकार नहीं है, यद्यपि सम्भवतः यही एकमात्र ऐसी जाति है, जो इसे अपनी पूँजी मानती है, जब कि दूसरे इसे त्रुटि या अभाव के रूप में देखते हैं। यह स्वभाव का प्रश्न हो, ऐसी बात भी नहीं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है—हमारे मानसिक ढाँचे से अभिन्न; और मेरा विश्वास है कि सामाजिक मनोविज्ञान अथवा राजनैतिक सिद्धांत में इस पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है।

हम बहुधा कहते हैं—"मैं इस पर विश्वास करता हूँ" अथवा "मैं यह नहीं जानता हूँ" अथवा "मैं इस पर विश्वास नहीं करता हूँ", "मैं यह जानता हूँ"। यथार्थ में यह अंतर 'जानने' और 'विश्वास करने' की तीव्रता की मात्राओं का अंतर है। रोमन गुलामों के विद्रोह का नेतृत्व करनेवाला स्पार्टाकस नामक एक व्यक्ति था, यह मैं जानता हूँ; किंतु भूतकालीन उसके अस्तित्व का मेरा विश्वास वर्तमान की तुलना में—जैसे लेनिन के अस्तित्व-सम्बंधी मेरे विश्वास की तुलना में—बहुत दुर्बल है। मैं चक्राकार नीहारिकाओं में विश्वास करता हूँ; एक दूरवीक्षण यंत्र से उन्हें देख सकता हूँ और उनकी दूरी बता सकता हूँ; पर मेरी मेज पर रखी दावात की तुलना में, मेरे लिए उनकी यथार्थता की मात्रा कम है। स्थान और काल की दूरी सजगता की तीव्रता घटा देती है। परिमाण भी यही करता है। सत्रह की संख्या ऐसी है, जिसे मैं निकट से किसी मित्र के समान ही जानता हूँ; ५०० अरब की संख्या ऐसी है, जिसकी सिर्फ आवाज से ही मैं परिचित हूँ। कोई कुत्ता मोटर से जब दब जाता हैं, तो हमारी भावनाओं का सारा संतुलन बिखर जाता हैं, पोलैंड में ३० लाख यहूदियों के मारे जाने की खबर सुन सिर्फ जरा-सी बेचैनी-भर होती हैं। आँकड़ों का महत्त्व नहीं है; महत्त्व है विवरण का। सम्पूर्ण प्रक्रिया ग्रहण करने में हम असमर्थ हैं; यथार्थता के छोटे-छोटे भाग पर ही अपना ध्यान केंद्रित कर सकते हैं।

यहाँ तक तो जानने और विश्वास करने की तीव्रता, वर्गों तथा मात्राओं की बात हुई। किंतु जब हम परिमित के प्रदेश से गुजर जाते हैं और जब हमारे सामने 'काल की नित्यता', 'आकाश की अपरिमितता' जैसे शब्द आते हैं—अर्थात् जब हम सम्पूर्ण के मंडल के निकट पहुँचते हैं, तब हमारी प्रतिक्रिया मात्राओं की बात न रहकर, स्वभाव के अंतर से सम्बंधित हो जाती है। सम्पूर्ण का सामना होने पर, बुद्धि जवाब दे जाती है और हमारा

'जानना' और 'विश्वास करना' सिर्फ होंठों पर आकर रह जाते हैं। उदाहरणार्थ, मृत्यु सम्पूर्ण की श्रेणी से सम्बंधित है और इसमें हमारा विश्वास सिर्फ होंठों की चीज है। "मैं जानता हूँ" कि आँकड़ों के हिसाब से औसत आयु ६५ वर्ष की होने से, बुद्धि के अनुसार, मुझे अगले २७ वर्षों से अधिक जीने की उम्मीद नहीं करनी चाहिए। किंतु अगर मैं निश्चित रूप से यह जानता रहूँ कि ३० नवम्बर, १९७० को ५ बजे सुबह मेरी मृत्यु हो जायेगी, तो यह जानकारी मेरे लिए घातक होगी। मैं बचे हुए दिन और घंटे बार-बार गिनूँगा, एक मिनट भी व्यर्थ जायेगा, तो इनके लिए मुझे स्वयं से शिकायत होगी, दूसरे शब्दों में, मैं एक उन्माद का शिकार हो जाऊँगा। औसत से अधिक जीने की आशाओं से इसे कुछ लेना-देना नहीं है। अगर तिथि उसके दस साल बाद की भी निर्धारित की जाये, तो भी उन्माद की प्रक्रिया वही रहेगी।

इस प्रकार हम खंडित चेतना की अवस्था में रहते हैं। जीवन की दो सतहें हैं—दुःखद सतह और तुच्छ सतह। दोनों सतहों में दो तरह के अनुभवजन्य ज्ञान की प्राप्ति होती है—इन दोनों में कोई मेल नहीं है। उनके वातावरण और उनकी भाषा में उसी प्रकार अंतर है, जिस प्रकार गिरजाघर की लैटिन भाषा और व्यावसायिक जगत में बोली जाने वाली गँवारू भाषा में।

सजगता की ये परिमितताएँ, प्रचार द्वारा ज्ञान की परिमितताओं के कारणों पर भी प्रकाश डालती हैं। लोग सिनेमाओं में जाते हैं। नाजियों द्वारा दी जानेवाली यातनाओं, लोगों के समूह-के-समूह को गोली मार देने, गुप्त षड्यंत्र और आत्मघात की फिल्में वे देखते हैं। वे आहें भरते हैं, अपने सिर हिलाते हैं और कुछ तो फूट-फूट कर रोने भी लगते हैं। किंतु अस्तित्व के वास्तविक सतह पर भी ऐसी घटनाएँ घटती हैं, वे ऐसा नहीं मानते। यह कल्पना है, कला है, ऊँची चीजें हैं, गिरजाघर में बोली जाने वाली लैटिन के समान ही है। यथार्थता से उसका मेल नहीं बैठता। हम जैकिल और हाइड की तरह के समाज में रहते हैं, जो परिमाण में उससे भी बढ़ा-चढ़ा है।

किंतु स्थिति हमेशा ही ऐसी नहीं रही। इतिहास में ऐसे काल भी आये हैं—ऐसे आंदोलन भी हुए हैं—एथेंस में, कलाकौशल तथा विद्या की जागृति के आरम्भ में, रूसी क्रांति के पहले के वर्षों में—समाज का प्रतिनिधित्व करने-वाली कुछ परतों ने तुलनात्मक दृष्टि से उच्च मानसिक सतह का संयोग पा लिया था; ऐसे समय भी आये हैं, जब लोग अपनी आँखें मलते और जागते हुए प्रतीत हुए, जब उनकी सांसारिक सजगता विस्तृत होती प्रतीत हुई, जब

वे कहीं अधिक विस्तृत और पूर्ण अर्थ में "समकालिक" थे और जब तुच्छ और लौकिक सतहें एकरूपता की स्थिति में पहुँचती प्रतीत हुईं।

और भिन्नता तथा पृथकता के काल भी आये हैं परन्तु पहले कभी भी—रोम और बाइजेंटियम के चमत्कारपूर्ण विनाश के समय में भी—खंडित विचारधारा इतनी प्रत्यक्ष नहीं हुई और न सामूहिक रूप से यह एक ही रोग सब को लगा। मानव-मनोविज्ञान कभी भी कृत्रिमता की इस ऊँचाई पर नहीं पहुँचा था। व्यवहार जैसे-जैसे विस्तृत होता जाता है, हमारी सजगता प्रत्यक्ष अनुपात में सिकुड़ती प्रतीत होती है; हमारे सामने सम्पूर्ण विश्व पहले इस प्रकार कभी खुला नहीं पड़ा था, जैसे अब है और हममें से प्रत्येक अपने व्यक्तिगत पिंजड़े में, बंदी की तरह टहलता रहता है। घड़ी की टिक-टिक चलती रहती है—समय गुजरता रहता है। चीखनेवाले भी चीख-चीख कर अपना मुँह लाल करने के सिवा और क्या कर सकते हैं?

मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानता हूँ जो इस देश में घूमा करता था और प्रति सप्ताह औसतन दस सभाओं में बोलता था। वह लंदन का एक प्रसिद्ध प्रकाशक है। प्रत्येक सभा के पहले वह अपने को एक कमरे के भीतर बंद कर लिया करता था, अपनी आँखें बंद कर, पूरे बीस मिनटों तक वह विस्तार में यह कल्पना करने की कोशिश करता था कि पोलैंड में जितने लोग मारे गये, उनमें एक वह भी था। एक दिन उसने यह अनुभव करने की चेष्टा की कि क्लोराइड गैस से दम घुटने पर कैसा लगता है। दूसरे दिन अपने दो सौ साथियों के साथ स्वयं अपनी कब्र खोदने तथा तीसरे दिन मशीनगन के सामने खड़े होने की उसने कल्पना की। अवश्य ही, अपने लक्ष्य में यह कार्रवाई अस्थिर और चपल है। लेकिन इसके बाद वह मंच पर चला जाता और बोलता। पूरे साल-भर तक वह ऐसा करता रहा; फिर स्नायविक दुर्बलता का वह शिकार हो गया। अपने दर्शकों पर उसका बड़ा प्रभाव था और सम्भवतः उसने कुछ भला भी किया। सम्भवतः दोनों सतहों की मीलों की दूरी को उसने लगभग एक इंच कर दिया।

मेरे विचार से, इस उदाहरण का अनुकरण करना चाहिए। वर्तमान काल में सुबह का अखबार पढ़ने के बाद प्रति दिन आँखें बंद कर के दो मिनटों तक इस प्रकार का व्यायाम, शारीरिक व्यायाम और प्राणायाम से अधिक आवश्यक है। गिरजाघर जाने के बजाय इससे काम चल सकता है। क्योंकि जहाँ तक लोग सड़कों पर गुजरते रहेंगे और पीड़ित व्यक्ति झाड़ियों में रहेंगे तथा उनके बीच स्वप्न की दीवार रहेगी, तब तक यह सभ्यता कृत्रिम ही बनी रहेगी।

मोर्चा लगे बख्तरबंदवाले योद्धा*

१

"द' न्यूयार्क टाइम्स मैगेज़ीन" पत्र के सम्पादक ने मुझे 'गणतंत्रीय प्रणाली' के लिए अंत तक लड़ते रहने का विश्वास मनुष्य कहाँ से पाता है, इस सम्बंध में अपने स्वयं के अनुभव पर आधारित एक लेख लिखने के लिए कहा है। मैं इस प्रश्न को यहाँ इस लिए उद्धृत कर रहा हूँ कि मेरे विचार से, निषेधात्मक रूप में, इस प्रश्न के उत्तर का कुछ अंश भी इसी में है। बैडाजोज़ के ज़माने से, जिन-जिन लोगों को मैंने मरते देखा है या लड़ाइयों के मैदानों में, अस्पतालों में, जेलखानों में और बंदी-शिविरों में मौत से मिलने के लिए जाते देखा है, उनमें से अधिकांश व्यक्तियों ने एक अवास्तविक 'गणतंत्रीय प्रणाली' के लिए कोरे उत्साह के कारण अपने जीवन को नहीं खोया। मुझे ताज्जुब है कि इस युद्ध में जिन्होंने सही माने में युद्ध किया है, उनमें से बहुत कम व्यक्ति आपको ब्रिटिश ट्रेड यूनियन तथा जर्मन मजदूर मोर्चा का अंतर बता सकते हैं—ज्यादा जटिल वैधानिक प्रश्नों की बात तो जाने दीजिये।

इस युद्ध की महान् घटनाओं में से एक ही लीजिये—एक छोटे यूनानी सैन्य दल द्वारा मुसोलिनी की उन्मत्त पलटन को पराजित करने की घटना। इस यूनानी सैन्य दल के बारे में इसके पहले किसी ने कभी सुना ही नहीं। यह एक चमत्कार ही था—और फिर भी यूनानियों ने स्वर्गीय मेटाक्स की—जो इतना, क्रूर, संकीर्ण विचारों वाला और बेवकूफ था कि प्लेटो-लिखित पुस्तक 'रिपब्लिक' पर भी उसने रोक लगा दी थी—फासिस्ट तानाशाही के निर्देशन में युद्ध किया। पुनः अभी हाल के चमत्कार को ही लीजिये—स्टालिनग्राड का बचाव। सोवियत राज्य के पुरुषों और महिलाओं के लिए हमारे मन में नम्रता, कृतज्ञता और प्रशंसा की भावना है। जो उनके और हमारे बीच विभाजन की रेखा खींचने का प्रयास करते हैं, वे हिटलर का खेल खेल रहे हैं। किंतु जो यह दिखावा करते हैं कि 'अंकल जो' के तरीके गणतंत्रीय

* प्रथम बार "द' न्यूयार्क टाइम्स मैगेजीन", जनवरी १९४३ में प्रकाशित।

तरीके हैं, वे या तो बहुत ज्यादा चालाक बनने की कोशिश करते हैं या वे अबोध मूर्ख हैं।

२

गुमराह करने से मिलनेवाले तुच्छ आनंद की प्राप्ति के लिए मैं यह सब नहीं कह रहा हूँ। मेरे कहने का अर्थ सिर्फ इतना ही है कि प्रारम्भ में जैसा दीखता था, उससे कहीं ज्यादा उलझा हुआ रूप यह युद्ध पकड़ता जा रहा है। हमें सही लोगों पर अपना ध्यान केंद्रित करने की चेष्ट करनी चाहिए —जादुई सैनिकों और प्रचार-पोस्टरों के योद्धाओं पर नहीं। सही लोगों को हम दो मुख्य श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—एक तो वे, जिन्होंने नाजी-फासिस्ट तरीकों को स्वयं अनुभव किया है और दूसरे वे, जिन्होंने अनुभव नहीं किया है।

प्रथम श्रेणी में यूरोपीय महाद्वीप के लोग हैं। वे जानते हैं कि उन्हें किस संकट का सामना करना है। वे इसके सम्बंध में उतने ही निकट से जानते हैं, जितना दुःखी व्यक्ति अपने दर्द के सम्बंध में जानता है। किंतु क्या वे इसका प्रतिकार भी जानते हैं? दर्द का अनुभव करने से ही क्या आपको डाक्टर का परिज्ञान भी प्राप्त हो जाता है? अंधेरे महाद्वीप से अभी हाल में जो लोग भाग कर आये हैं, उनसे जितना ज्यादा आप बात करिये, उतना ही आपका संदेह बढ़ता जाता है।

चेकोस्लोवाकिया-निवासियों, पोलैंड-वासियों, फ्रांसीसियों, बेल्जियनों, डचों आदि के लिए, यह युद्ध शाब्दिक अर्थ में जीवित रहने की लड़ाई है। वे अव्यावहारिक शब्द 'फासिज्म' से घृणा नहीं करते, बल्कि उन जर्मनों से घृणा करते हैं, जिन्होंने उनके घर नष्ट कर दिये और उनके मित्रों को मार डाला। वे अव्यावहारिक शब्द 'गणतंत्र' के लिए नहीं लड़ते हैं, बल्कि राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के ठोस ध्येय के लिए लड़ते हैं। अगर आप उनसे यूरोप के संयुक्त राज्यों के बारे में बातें करें, तो वे आपकी ओर कनखियों से देखते हैं। हिटलर द्वारा हम पर लाये गये अभिशापों में एक मुख्य अभिशाप यह है कि गलत ढंग से यूरोप को एकरूप करने की कोशिश करके उसने राष्ट्र और देशभक्ति के नाम पर लड़ने-भिड़ने की भावना को ऐसा उभारा कि यूरोपीय विकास की घड़ी कम-से-कम पचास साल पीछे चली गयी। आप चाहें इसे पसंद करें अथवा

नहीं, किन्तु प्राणोत्सर्ग के लिए बाध्य होनेवाले इस महाद्वीप का आज इच्छित स्वप्न है, उच्चस्तरीय संधियाँ, और इसका सबसे बड़ा नारा है "राष्ट्रीय साम्राज्य"।

जहाँ तक उन लोगों का प्रश्न है, जिन्हें फासिज्म का व्यक्तिगत अनुभव नहीं हुआ है—जैसे एंग्लो-सेक्सन देशों की सर्वसाधारण जनता—गणतंत्र शब्द का सही अर्थ उनके लिए बहुत कम महत्त्व रखता है। अपनी मूलभूत वैधानिक स्वतंत्रताओं के प्रति—जो उन्हें प्राप्त है—वे उतने ही बेसुध हैं, जितना उस हवा की रचना के प्रति, जिसमें वे साँस लेते हैं।

और अगर आप इस पर विचार करें तो यह उदारमतवादी युग की शायद सर्वाधिक गौरवपूर्ण सफलता है। निश्चय ही, किसी सभ्य व्यक्ति के बहुत अच्छे सिले सूट के समान ही, सुव्यवस्थित गणतंत्रीय राज्य का आदर्श भी है —किसी को यह दिखायी नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि ब्रिटेन की सर्वसाधारण जनता की दृष्टि में गेस्टापो तथा बंदी-शिविरों की लगभग वही यथार्थता है, जो लाचनेस के राक्षस की। कल्पना के इस ठोस अभाव के कारण क्रूरता-सम्बंधी प्रचार बिलकुल निर्बल है। मैंने स्वयं इस ओर प्रयास किया है। जब कभी मैंने सैन्य-दलों को फासिस्ट बन्दी-शिविरों के बारे में कुछ कहा है, तब मेरे मन में स्पष्ट रूप से यह भावना रही है कि जब तक दर्शकों पर मेरा प्रभाव है, वे मेरी बात पर विश्वास करते हैं; किन्तु मेरे वहाँ से जाते ही वे उसे पिछली रात में देखे किसी दुःस्वप्न के समान ही मान बैठेंगे और प्रसन्नता-पूर्वक गाने लगेंगे— "उस बड़े भयानक भेड़िये से कौन डरता है?" इस प्रकार इस देश में ऐसे लोगों का बाहुल्य है, जिन्हें अभी तक तनिक कल्पना भी नहीं है कि फासिज्म का क्या अर्थ होता है। दूसरी ओर वे इससे भलीभाँति परिचित हैं कि जर्मन आक्रमण और जर्मन हवाई सेना का क्या अर्थ होता है। १९१४ के युद्ध की बात उन्हें भूली नहीं है और यहाँ उनके विचार उसी के साथ-साथ चलते हैं। अतः जो 'जर्मनों' और 'नाजियों' में भेद बताने का प्रयास करते हैं, वे वस्तुतः एक हारी हुई लड़ाई लड़ रहे हैं। शीघ्र ही, उन्हें 'न्यू स्टेट्समैन' और 'नेशन' के स्तम्भों में सैनिक सम्मान प्रदान किया जानेवाला है और जैसे-जैसे निकट की विजय स्पष्ट होती जा रही है, वैसे-वैसे युद्ध की रूपरेखा स्वयं स्पष्ट होती जा रही है—जैसा कि टोरियों ने हमेशा कहा—यह राष्ट्रीय जीवन का युद्ध है—ऐसा युद्ध जिसमें सुरक्षा का आधार १९-वीं सदी के कुछ अनुदारीय आदर्श हैं। इस युद्ध की रूपरेखा वैसी

नहीं है, जैसा मैंने तथा मेरे वामपंथी मित्रों ने कहा था कि यूरोप में स्पेनिश ढाँचे पर यह एक क्रांतिकारी गृह-युद्ध है।

ऐसा इसलिए नहीं है कि टोरी वामपंथियों से अधिक चालक हैं अथवा मि. चर्चिल के पास मि. एटली से अधिक दिमाग है, वरन् ऐसा इसलिए है कि सभी वर्गों के सर्वसाधारण लोगों में अधिकांश अभी भी २०-वीं सदी के बजाय १९-वीं सदी के अनुरूप अधिक सोचते हैं। युद्धों के बारे में उनकी धारणा अंतर्राष्ट्रीय सैन्य दल की अपेक्षा "चार्ज आव द' लाइट ब्रिगेड" से अधिक मेल खाती है। पिछले मतदान से ज्ञात हो गया कि मि. चर्चिल के प्रसिद्ध भाषण—"जो-कुछ हमारे पास है, हम उसे अपने अधिकार में ही रखेंगे"—के बाद ९१ प्रतिशत ब्रिटिश जनता ने मि. चर्चिल की नीति का ही समर्थन किया। हमें इस मामले में स्पष्ट होना चाहिए और जहाँ हम अपने शस्त्रास्त्रों की विजय पर आनंद मना रहे हैं, वहीं हमें अपने लक्ष्यों की पराजय को भी पहचानना चाहिए।

२

अब तक मैंने गैर-राजनीतिक बहुसंख्यकों के बारे में कहा है। लेकिन हमारे सम्बंध में—सचेत अल्पसंख्यकों के सम्बंध में—जिन्होंने एकरूपता और भाईचारे पर आधारित समाजवादी यूरोप का स्वप्न देखा था और उसके लिए प्रयास भी किया था—क्या कहा जा सकता है? यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि हम अब कुछ बेवकूफों की तरह नजर आने लगे हैं और व्यक्तिगत रूप से मैं अपने मित्रों का कराहना और बिलखना सुन-सुन कर परेशान होता जा रहा हूँ। इसके बजाय हमें तथ्यों का सामना करना चाहिए और देखना चाहिए कि हमारी स्थिति क्या है।

सभी महान् अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन असफल रहे हैं। दूसरा अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन अपने उद्देश्य में असफल रहा, जब सन् १९१४ में यह युद्ध रोक नहीं सका। तीसरे अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन की असफलता उस वक्त प्रमाणित हो गयी, जब सन् १९३३ में यह हिटलर के शक्ति-अधिरोहण को नहीं रोक सका और रूस के विदेशी कार्यालय की एक शाखा बनकर रह गया। इस प्रकार नाजी-आतंक के कारण हुआ अनुदारीय और प्रगतिशील शक्तियों का सुरक्षात्मक मेल, शुरू से ही अनुदारीय नेतृत्व में रहा। धर्मयोद्धाओं ने नहीं, बल्कि हमें सांत्वना देनेवाले

ही हमें युद्ध में ले आये। क्योंकि धर्मयोद्धा, चाहे वे हजार सही होते, लोगों का विश्वास प्राप्त करने के लिए पराजित ही किये जाते—जहाँ कि सांत्वना देनेवालों के पीछे, अतीत की उनकी सभी बड़ी भूलों के साथ, निश्चलता की ठोस शक्तियाँ थीं।

परिणामस्वरूप, शुरू से ही इस युद्ध का, सिर्फ कपटवादिता ही नहीं, आदर्शवादिता के रूप में भी, सुरक्षा के आधार पर मूल्यांकन किया गया। हम कठोर, आक्रमक 'नयी व्यवस्था' के विरुद्ध १९-वीं सदी की परिभाषा के अनुसार अनुदारीय मूल्यों की 'सुरक्षा' के लिए लड़ रहे थे और लड़ रहे हैं। और अभी हाल में जब कि मित्र राष्ट्रों ने फौजी क्षेत्र में आक्रमक रूप अपनाया भी है, तो उसकी आदर्शवादिता अभी भी अनुदार और सुरक्षात्मक है। यहाँ तक कि यह बात पहले की तुलना में अधिक उच्चारित की जाती है। अमरीकी चुनाव और अन्य घटनाएँ यह अधिक स्पष्ट कर देती हैं कि अनुदारीय भाग का ही पलड़ा अधिकाधिक भारी होता जा रहा है—विजय जितनी करीब होती जा रही है, लगभग उसी परिमाण में यह भी हो रहा है और लोग इस सम्बंध में गहराई से सोचते प्रतीत नहीं होते। क्रिप्स के पीछे हटने के बजाय आठवीं सैन्य पंक्ति के आगे बढ़ने में लोग अधिक रुचि ले रहे हैं।

इस प्रकार, अगर कुछ अप्रत्याशित नहीं घटता है, तो आने वाली विजय एक अनुदारीय विजय होगी और अंततः परिणाम होगा अनुदारीय शांति। यह यूरोप के अल्पसंख्यकों की समस्या का स्थायी समाधान नहीं देगी। पूँजीवादी प्रणाली के अंतर्वर्ती रोग का यह कोई निदान नहीं प्रदान करेगी। मानव जाति के उत्थान में यह कोई निर्णयात्मक कदम नहीं स्थापित करेगी। हाँ, महाद्वीप के लोगों के लिए यह बहुत बड़ी किन्तु अस्थायी विश्रान्ति अवश्य लायेगी। उन लाखों लोगों के लिए मुक्ति लायेगी, जिनका जीवन अदृष्ट से ग्रसित प्रतीत होता है और कम-से-कम स्वतंत्रता, सुशीलता और सुरक्षा लायेगी। संक्षेप में, हिटलर के पहले की प्राचीन व्यवस्था का यह नवीन, सम्भवतः कुछ हद तक, उन्नत रूप होगा—२०-वीं सदी के पूर्वार्ध का १९-वीं सदी का अनुलेख, जिसे इतिहास ने इतनी घृणित पद्धति में लिखा है। और मैं आशा करता हूँ तथा मेरा विश्वास है कि काल के इस भ्रमपूर्ण पेचन्द में अगर अच्छी दस्तकारी दिखायी गयी, तो यह यूरोप को कम-से-कम आगामी घातक डुबकी से स्वयं को बचाने के लिए एक अवसर और सम्भवतः कुछ दशाब्दियों का समय तो जीवित रहने के लिए दे ही सकता है!

इसका अर्थ है, हम अब समझने लगे हैं कि यह युद्ध अंतिम प्रलय नहीं है, प्रकाश और अंधकार की शक्तियों के बीच यह अंतिम संग्राम नहीं है, बल्कि सम्भवतः राजनैतिक अथवा सामाजिक विप्लवों की परिपाटी का आरम्भ-मात्र है, जो हमारे पहले के सोचे हुए की तुलना में इतिहास के कहीं अधिक काल तक फैला है—तब तक के लिए, जब तक नया विश्व जन्म नहीं ले लेता। उस वक्त तक हमारा काम होगा, साँस लेने की जितनी जगह हमारे पास आ रही है, उसका सर्वोत्तम ढंग से उपयोग करना—और प्रसंगवश, इस १९-वीं सदी के अनुलेख के लिए; हमारे स्वयं के जीवित रहने के लिए; उस प्रत्येक प्रातः की प्रशंसा करना, जिस प्रातः जागने पर, हमारी खिड़की के नीचे गेस्टापो-संतरी न दिखायी दे। फ्रेंच के विनाश के बाद भी जो जीवित रहे, उनमें से किसने दो साल पहले इसकी कल्पना की थी? कम-से-कम मैंने तो नहीं की थी।

४

मैं जानता हूँ कि जिसे आप "वामपंथी बुद्धिजीवी वर्ग" कहते हैं, उसके सदस्य के लिए यह बहुत विनीत मत है और मेरे मित्र मुझे कोसेंगे और मुझ पर पत्थर भी फेंकेंगे। अधिक-से-अधिक ऐसा हो, तभी अच्छा है; क्योंकि उन्हें भी यह कम अथवा अधिक चैतन्य के साथ अवश्य अनुभव करना चाहिए कि हम लोगों ने स्वयं को एक राजनैतिक शून्य में पहुँचा दिया है—हम लोगों की स्थिति एक ऐसे सैन्य दल की तरह हो गयी है, जो अपनी रसद के साधनों से दूर है।

इस प्रगति-संग्राम की हमारी कल्पना कुछ और ही थी—वह यह कि समाज के भिन्न-भिन्न वर्ग स्वच्छ व सुव्यवस्थित मोर्चे पर लड़ रहे हैं—और हम सामाजिक आंदोलनों के एक जटिल-तरल युद्ध में फँस गये हैं, अस्थिर इकाइयाँ अपने सामाजिक संगठनों से अलग हो रही हैं, मजदूर-वर्ग के बहुत-से विभाग फासिस्टों का साथ दे रहे हैं, युवा टोरी-पीढ़ी ट्रेड यूनियनों के वामपंथियों, नौकरशाही तथा व्यवस्थापकों पर प्रभाव डाल कर स्वयं को महत्वपूर्ण सुरक्षात्मक स्थानों पर जमा रही है। और हम वीरान भूमि में खड़े हैं—जंग लगे बख्तर पहने चकित योद्धाओं के समान! मार्क्स एंजेल्स की उक्तियों की एक छोटी-सी पुस्तक ही हमारा एकमात्र पथप्रदर्शक है—पिछली सदी का सबसे सच्चा और गम्भीर

सामाजिक मार्गदर्शक; किंतु आज के अस्तव्यस्त रणक्षेत्र के लिए बहुत कम उपयोगी।

किंतु इस चित्र का एक अधिक आशाजनक पहलू भी है। पिछले पंद्रह वर्षों से मोर्चा लगा बख्तरबंद पहने वे योद्धा, जिनकी ढालों पर स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा लिखा है, सदा हारनेवाले पक्ष की ओर लड़ते आये हैं। शंघाई, एडिस अबाबा, मैड्रिड, वियेना, प्रेग—पराभवों की यह लम्बी शृंखला जारी रही—जब तक कि निरंतर हार के वातावरण में रहने की हमारी आदत न बन गयी—एक प्रकार की स्थायी दैवी व्यवस्था। अधिक मात्रा में ग्रहण करने पर पराजय एक भयंकर औषध है—यह एक व्यसन का रूप ले लेती है।

अब पहली बार ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हम जीतनेवाले पक्ष की ओर रहेंगे। यद्यपि यह विजय उससे बहुत भिन्न होगी, जिसका हमने स्वप्न देखा था, फिर भी असाधारण परिवर्तन ला सकती है—हारने की आदत से हमारी मुक्ति। और एक बार अपने बख्तरबंद को आधुनिक बनाकर जीतने की आदत पड़ गयी, तो कौन जानता है, हम कहाँ जाकर रुकेंगे?

निराशावादियों का बन्धुभाव*

प्रस्तुत महायुद्ध में हम अर्द्धसत्य के नाम पर पूर्ण असत्य से लड़ रहे हैं। विद्यमान परिस्थिति का वर्णन जिन विभिन्न स्वरूपों में किया जाता है, उसमें यह वर्णन काफी सौम्य है। यदि इसे हम स्वीकार कर लें, तो वर्तमान काल की उलझन बहुत कुछ कम हो जायेगी, साथ ही भविष्य की निराशा भी काफी कम हो जायेगी।

सम्पूर्ण असत्य क्या है? नाजियों की नवीन समाज-रचना; क्योंकि उस समाज-रचना से मानव-जाति की विशिष्टता नष्ट होती है, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' को न्याय की घोषना मानने से 'नागरिक नियम' जंगल का कानून बन जाता है। 'सारा महत्व वंश में निहित है' इस मंत्र से मानव-समाज केवल प्राणियों में सीमित हो जाता है। मनुष्य को पशु मानने वाले इस तत्वज्ञान से किसी प्रकार का समझौता असम्भव है। इसे बिना किसी शर्त के हार मान लेनी चाहिए।

दूसरी ओर, हम अर्द्धसत्य के वातावरण में रहते हैं। हम वंशाभिमान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करते हैं, फिर भी ऐंग्लो-सेक्सन देशों में वर्ण-वैषम्य नष्ट नहीं हुआ। हम लोकशाही के लिए संघर्ष करते हैं और तब भी हमारा सबसे शक्तिशाली मित्र तानाशाह होता है, जिसके राज्य में चार स्वतंत्रताओं में से कम-से-कम दो का पता ही नहीं रहता। परन्तु वर्तमान वातावरण का प्रभाव ऐसा सर्वव्यापी है कि उक्त बातें सत्य होने पर भी उनके कहने से एक उत्तेजना फैल जाती है।

कदाचित् कोई कहेगा—"इतनी गहराई में क्यों जाते हो? यह रणांगण है—प्रार्थना-मन्दिर नहीं, जहाँ लोगों से उनके पाप-कृत्य स्वीकार कराये जायें।" इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि विजय का क्षण ज्यों-ज्यों समीप आ रहा है, अतलान्तिक महासागर के दोनों ओर के लोग त्यों-त्यों अस्वस्थ हो रहे हैं। अस्वस्थता की यह वृत्ति सर्वत्र फैली हुई है।

डंकर्क के बाद जब अमेरिका तटस्थ था और रूस पूर्व में हिटलर के नया

* "द' न्यूयार्क टाइम्स मैगेजीन" में नवम्बर, १९४३ में प्रथम बार प्रकाशित।

मोर्चा बनाने की राह देख रहा था, तब उस देश में रहने वाले लोगों की धारणा थी कि कोई चमत्कार होने पर ही हम इस अनर्थ से बचेंगे। जैसे कोई रोगी बड़ा आपरेशन होने के पहले भगवान को याद करता है, उसी प्रकार लोग प्रार्थना कर रहे थे—"भगवन्! इस संकट से बच गये, तो नये सिरे से जीवन बितायेंगे और वह जीवन कितना मनोहर होगा!"

सचमुच चमत्कार हुआ। शल्यक्रिया सफल हुई—रोगी अस्पताल से बाहर आया, लेकिन बाहर आने पर उसने क्या देखा? उसका मकान पहले की तरह गंदी गलियों में है, उसका 'लेटरबाक्स' देनदारी के पर्चों (बिलों) से भरा पड़ा है, उसकी पत्नी पहले-जैसे कर्कश स्वर में ही अपनी आँखें गोल-गोल घुमा कर चीख रही है और उसकी बदसूरत संतान की नाक से दिन भर पानी बह रहा है। इस स्थिति में यदि दूसरे दिन से ही वह कुढ़ने और कसमें खाने लगे, तो क्या वह अपने भाग्य के प्रति कृतघ्न होगा?

उत्तर अफ्रीका में की गयी भयंकर शल्यक्रिया के सफल हो जाने पर, मित्र राष्ट्रों के परिवारों में, बिलों का इकट्ठा होना, वह कर्कश स्वर और वे घूमने वाली आँखें दीखने लगीं। समस्त संसार में कल राज्य करने के लिए निकले हुए राष्ट्रों का 'सद्भावना और सहयोग' के लिए अनुरोध करना निरर्थक और दिखावटी साबित हुआ। किसी भी सरकार को अपनी आर्थिक और सामाजिक शक्ति में, जिस पर वह आधारित होती है—क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का कम अवसर मिलता है। विगत पचास वर्षों से यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि कोई समर्थ अंतर्राष्ट्रीय संगठन ही संसार की इस उलझन को दूर करने का प्रशस्त मार्ग खोज सकता है।

वर्तमान शताब्दी के आरंभ में, विशेषकर दो महायुद्धों के समय, ऐसी आशा थी कि इस तरह का संघटन निर्मित होगा और वह राष्ट्रों के बीच होनेवाली स्पर्धा को रोकेगा। इंटरनेशनल लीग आव नेशन्स एवं दूसरे और तीसरे समाजवादी-आन्दोलन-जैसी संस्थाओं पर प्रगतिशील लोग, तथा चर्च अथवा आपसी भ्रातृभाव पर पुराणपंथी लोग आस लगाये बैठे थे।

हमारे समय की यह विशेषता है कि विश्व-संस्था-जैसी कोटि के सारे ढाँचे विनष्ट हो गये हैं। इसी का यह प्रत्यक्ष परिणाम है कि हम अर्द्धसत्य को पूर्ण सत्य समझने लगे हैं। जब तक हम ज्ञान की कड़वी गोली चबाने, निगलने और पचाने से दूर भागेंगे, तब तक हम कहाँ खड़े हैं, किस ओर बह रहे हैं, यह नहीं जान पायेंगे।

मुझ-जैसे गृहविहीन वामपंथी आज निर्वासित बन गये हैं। स्तालिन के अनुयायी इन्हें 'ट्राट्स्कीवादी' कहते हैं, ट्राट्स्कीवादी 'साम्राज्यवादी' कहकर पुकारते हैं और साम्राज्यवादी, 'खूनी साम्यवादी' का नाम देते हैं। आज हम गृहविहीन वामपंथियों के तत्त्वज्ञान का दिवाला निकल गया है और हमारी दृष्टि निराशावादी बन गयी है। कम्यूनिस्टों की कामिन्टर्न संस्था का शव जब विकृत स्थिति में सड़ने लगा, तो उसे सरकारी तौर पर दफनाया गया। मि. लिविस का राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के साथ शतरंज का उलझा हुआ खेल अमरीकी मजदूर-आंदोलन का एक साधारण स्मारक-मात्र था। रूस में पहले की भाँति परम्परा के चक्र घूमने लगे—वहाँ 'पितृभूमि' की जय-जयकार होने लगी। सनातन चर्च और कैडेट स्कूल के अच्छे दिन आये। इंग्लैण्ड के मजदूर-दल ने अपने चेहरे से समाजवाद का जर्जरित आवरण भी हटा दिया और नाजियों के अत्याचारों के लिए समस्त जर्मन जनता को—यहाँ तक कि उन एक करोड़ तीस लाख मज़दूरों को भी, जिन्होंने पिछले चुनाव में नाजियों के विरुद्ध मत दिया था—सामूहिक रूप में उत्तरदायी माना।

इंग्लैण्ड में समाजवाद आने की यदि कभी संभावना थी भी, तो वह डंकर्क से तोब्रुक के पतन के बीच के काल में थी। वहाँ की सरकार की युद्ध-नीति के विरुद्ध जनता का असंतोष उस वक्त पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। दस-बारह उपचुनावों में सरकारी दल की पराजय भी हुई थी। सरकार को देश की सभी व्यक्तिगत सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करने की सत्ता मिली हुई थी। उस समय केवल प्रशासकीय दबाव से 'राजकीय समाजवाद' की स्थापना हो गयी होती और उसके लिए राज्यक्रांति या गृह-युद्ध की नौबत नहीं आती।

फ्रांस में बड़े-बड़े व्यापारियों के सामने यह समस्या थी कि 'हिटलर अथवा लोकप्रिय मोर्चा' में किसे स्वीकार किया जाये। उन्होंने हिटलर के पक्ष में फैसला किया। लेकिन इंग्लैण्ड में स्थिति विपरीत थी। वहाँ का शासक-वर्ग नाजियों की अधीनता स्वीकार करने के बजाय साम्यवादी इंग्लैण्ड में रहने को तैयार था। कुछ ही लोग इसके अपवाद थे और दिन-ब-दिन वे भी कम हो रहे थे। इंग्लैण्ड और फ्रांस के शासकों की मनोवृत्तियों में पाये जानेवाले इस अन्तर का ऐतिहासिक महत्त्व है। यह इंग्लैण्ड की कठिन परीक्षा थी कि उसमें जीवित रहने की क्षमता है अथवा नहीं। परन्तु वहाँ के मजदूर-वर्ग में इस अवसर से लाभ उठाने की उतनी राजनीतिक परिपक्वता न थी। डंकर्क से सिंगापुर तक के संकट के बावजूद पूँजीवाद सुरक्षित रहा, बुद्धिमान टोरियों को

इसका बड़ा आश्चर्य था और अब तक वह कम नहीं हुआ है।

समाजवाद ने ऐसे कितने ही अवसर खोये। यह उस कड़ी का एक भाग है। इससे पूर्व 'वीमर प्रजातंत्र' अस्तित्व में आया, अमरीकी व्यापार में मंदी आयी, फ्रांस और स्पेन में लोकप्रिय मोर्चे की विजय हुई। दो महायुद्धों के मध्यवर्ती काल में मानव-जाति में नयी प्रणाली के लिए कैसी उत्कंठा जगी थी! लेकिन उसे पूर्ण करने में उतनी ही बड़ी असफलता मिली। इस अपयश से फासिज्म ने लाभ उठाया। बार-बार समाजवादी आंदोलन ने वह काम किया, जिसे फ्रांसीसी 'भ्रष्ट' की संज्ञा देते हैं। इतिहास एक चंचल सुन्दरी है। उसका प्रियतम यदि उसे वश में करने का अवसर खो देता है, तो उसे कभी न पूरी की जानेवाली क्षति का सामना करना पड़ता है। कुछ दिनों बाद प्रणयाराधन का दिखावा-मात्र रह जाता है और अन्त में यदि वह इतिहास-बाला अचानक उसके गले से लग जाय, तो वह बूढ़ा प्रियतम बुरी तरह घबरा जाता है। ब्रिटेन के मार्क्सवादी प्रधानमन्त्री मि. एटली की ही कल्पना कीजिये।

ऐसा लगता है, सजीव सृष्टि की तरह राजनीतिक आन्दोलन के भी कुछ नियम होने चाहिए। ये आन्दोलन बढ़ते हैं और बढ़ते-बढ़ते परिपक्व अवस्था पर पहुँचते ही यदि इन्होंने सत्ता प्राप्त न की, तो सूख जाते हैं। इस सदी में विश्व-आन्दोलनों की यही दशा हुई। 'लीग आव नेशन्स' क्षय से मर गया। अधिकृत धार्मिक संस्थाएँ राजनीतिक लकवा की शिकार हुईं। द्वितीय समाजवादी आन्दोलन की धमनियाँ कठोर पड़ गयीं और तृतीय समाजवादी आन्दोलन सड़ गया।

इस युग में मजदूरों की शेष शक्ति का प्रतीक है, 'ट्रेड यूनियन'। उन संघों का बड़ा महत्त्व है। उनका प्रत्यक्ष कार्य भी बड़ा शक्तिपूर्ण है। उनके मूल्य को कम आँकना मेरा उद्देश्य नहीं, परन्तु वे संस्थाएँ आर्थिक सुरक्षा का काम कर सकती हैं—रचनात्मक राजनीतिक शक्ति का नहीं।

हमारे समय में "अखिल विश्ववाद" की असफलता कोई क्षणिक घटना नहीं है। पिछली शताब्दी में उदारमतवादी और समाजवादी आन्दोलन की जो कार्य पद्धति थी, उसकी दुर्बलता इससे सिद्ध होती है। "किसी भी आन्दोलन में चढ़ाव-उतार रहेंगे ही"—इस प्रकार इस असफलता का समर्थन करने का अर्थ है, आत्मवंचना। हम किसी पहाड़ी रेल में यात्रा नहीं कर रहे हैं, हम उस सँकरी गली से गुजर रहे हैं, जिसका दूसरा सिरा बन्द है। वास्तविक नवीन समाज-रचना से बीस वर्ष पूर्व हम जितने दूर थे, आज उससे अधिक दूर हैं।

आवागमन के साधन जिस वेग से दौड़ते हैं, उसी वेग से हमारी भावना और विचार दौड़ने चाहिए। लेकिन इससे भी हम बहुत दूर हैं।

हमारी समस्त युद्धोत्तर-योजनाएँ एक सत्ता-केन्द्र से दूसरी ओर जाने के लिए बनाये गये अस्थायी पुल के समान होती हैं। आने वाले दस-बीस बरस किसी तरह गुजर जायें, इस उद्देश्य से किये गये ये प्रयत्न अर्द्ध-प्रामाणिक हैं तथा अर्द्ध-आस्था के प्रतीक हैं। दीर्घकालीन योजना बनाने के बजाय हम अस्थायी, क्षणिक अर्द्ध-सत्य के मध्य-काल और गोधूलिकालीन संक्रमणावस्था की ऐसी-वैसी योजना बनाने में व्यस्त हैं। और, इसमें जो एक बड़ा खतरा है, वह यह कि कच्चे पुल एकदम ढह जायेंगे और हमारे अग्रगणी नेता पुनः विनाश की ओर अंधे की तरह चलने लगेंगे।

मैं मानता हूँ कि यह समूचा चित्र निराशावादी है। लेकिन मेरा विश्वास है कि यह वास्तविकता पर आधारित है। इसके आधार पर मैं भविष्य के लिए जो लिख रहा हूँ, वह मेरा अपना व्यक्तिगत मत है, शायद किसी को यह एक सनक ही लगे। लेकिन मैं जानता हूँ, बहुत-से दूसरे लोगों के भीतर भी यही भावनाएँ अस्पष्ट रूप में काम कर रही हैं। मैं उन्हीं से यह कह रहा हूँ।

किसी संस्कृति की परम्परागत विचार-शृंखला जब टूटती है, तो थोड़े समय के लिए अंधाधुंध मच जाता है। ऐसे अराजकता के काल अल्पायु ही होते हैं। आज का मध्य-काल भी जल्द ही समाप्त होगा और पूरे संसार में नयी प्रवृत्ति और नयी शक्ति का उदय होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। ईसाई धर्म के आरम्भिक काल में या विद्या के पुनरुज्जीवन-काल में ऐसी ही वृत्ति और शक्ति जाग्रत हुई थी। अब भी वे प्रकट होंगी और हमारे इस ऐतिहासिक युग का अन्त करेंगी, जो युग गलीलियो, न्यूटन और कोलम्बस से शुरू हुआ है। यह मानव-जाति की प्रौढ़ावस्था का काल, वैज्ञानिक सिद्धांत और अंकबद्ध नाप-तौल का काल, मूल्यों के उपयोग और उत्साह पर बुद्धि के प्रभुत्व का काल है।

इस युग ने जैसे महान् यश प्राप्त किया है, उसी प्रकार उनके अंतकाल की वेदना भी भयंकर है, लेकिन वह दीर्घकाल तक नहीं टिकेगी। ज्यों-ज्यों उस वेदना की आकृतियाँ बढ़ती जाती हैं और उनका क्षेत्र विस्तृत होता है, त्यों-त्यों अन्तकाल समीप आता दिखायी देता है। इसके लिए एक या दो महायुद्ध हो सकते हैं, दस-बारह नहीं। अब यह प्रश्न कुछ दशाब्दियों का है, शताब्दियों का नहीं।

इस काल के पश्चात् जो नया युग आयेगा, वह कैसा होगा? एक बात

सदियों में हमने नैतिक नियंत्रण की ओर अधिक उपेक्षा दिखायी, जिसने घोर तानाशाही के एंजिन को पागलों की तरह दौड़ा दिया। सीधी भाषा में इसका अर्थ है कि राजनैतिक अधिकारी (कमिसार) अथवा प्रतिक्रियावादी में से किसी एक को मुझे चुनना हो, तो मैं बेहिचक प्रतिक्रियावादी का चुनाव करूँगा। वह मुझे उपद्रवी मानेगा और कल्पना-शक्ति के अभाव में धक्के मारेगा। लेकिन कल्पनाशील कमिसार यह मालूम होने पर कि मैं विरोधी मत रखता हूँ, नम्रतापूर्वक मुझे गोली मार देगा। अन्य ऐतिहासिक स्थितियों में आगे चलकर प्रतिक्रियावादी, प्रगति का पुनः प्रमुख शत्रु हो जा सकता है, परन्तु आने वाले दस-बीस वर्षों में उसकी सनातन निष्ठा दिखावटी होने पर भी वह संघर्ष टालने में उपयोगी होगा।

१९१७ में कल्पनालोक हाथ में आया प्रतीत हुआ था। आज उसकी सम्भावना अन्तरिम काल तक के लिए स्थगित है—तब तक हमें हरियाली का निर्माण करना चाहिए।

राजा मर गया....

१

"राजा मर गया, राजपद अमर रहे—" फ्रांसीसी सभासद चिल्लाया करते थे, जब चेचक ने राजा को बुरी तरह रुग्ण कर रखा था। आगामी कुछ वर्षों में इसमें इस परिवर्तन की सम्भावना है—"हिटलर मर गया, फासिज्म का नाश हो"—यह हमें भलीभाँति अपने दिमाग में बैठा लेना चाहिए, नहीं तो हमें खेद-सहित विस्मित होना पड़ेगा और हमारी अवस्था उस आदमी-जैसी होगी, जो सिंह के मुँह में अपना सिर रख कर सोया है। फासिज्म का पराभव केवल रण-क्षेत्र में नहीं हो सकता, यह पराभव जनता की विचार-भूमि और भावना-भूमि पर होना चाहिए, क्योंकि फासिज्म एक पुरातन मनोवृत्ति का ही नया नाम है। जहाँ-जहाँ 'काला आदमी' और 'सुअर'-जैसी गालियाँ दी जाती हैं, जहाँ-जहाँ नागरिकों के सुखी जीवन को और राजनीतिक ध्येय को तुच्छ माना जाता है, जहाँ-जहाँ 'वेतन-वृद्धि' कहते ही 'साम्यवाद का लाल संकट' कह कर कानूनी तौर पर की जाने वाली हड़ताल में भी हड़ताल करने वालों पर गोलियाँ चलायी जाती हैं, वहीं फासिज्म है, आप की आँखों के सामने ही। उसे रंगीन फिल्म (टेक्निकलर) में देखने के लिए सिनेमागृह की ओर जाने की जरूरत नहीं।

स्वतंत्रता मात्रा के आधार पर कम-अधिक होती है। एकान्त कमरे में बन्द किया गया कैदी उस कैदी की अपेक्षा कम स्वतंत्र होता है, जिसे व्यायाम करने की छूट दी गयी हो। नजरबन्द-शिविर जेलखाने की तुलना में स्वर्ग है—नन्दनवन है। नाजी जर्मनी की तुलना में फासिस्ट इटली स्वतंत्र देश था, परन्तु फ्रांस की तुलना में परतंत्र। परन्तु फ्रांस में कितनी स्वतंत्रता थी? वहाँ के लोकतंत्र ने स्त्रियों को मताधिकार से भी वंचित कर रखा था। वहाँ की स्त्रियों को पति की उदार अनुमति के बिना बैंक में खाता खोलने का भी अधिकार नहीं था। अमरीकी लोगों को यह परिस्थिति बिलकुल जंगली लगती है और संसार में हम सर्वाधिक स्वतंत्र देश में रहते हैं, उनकी यह भावना दृढ़ होती जाती है।

सदियों में हमने नैतिक नियंत्रण की ओर अधिक उपेक्षा दिखायी, जिसने घोर तानाशाही के एंजिन को पागलों की तरह दौड़ा दिया। सीधी भाषा में इसका अर्थ है कि राजनैतिक अधिकारी (कमिसार) अथवा प्रतिक्रियावादी में से किसी एक को मुझे चुनना हो, तो मैं बेहिचक प्रतिक्रियावादी का चुनाव करूँगा। वह मुझे उपद्रवी मानेगा और कल्पना-शक्ति के अभाव में धक्के मारेगा। लेकिन कल्पनाशील कमिसार यह मालूम होने पर कि मैं विरोधी मत रखता हूँ, नम्रतापूर्वक मुझे गोली मार देगा। अन्य ऐतिहासिक स्थितियों में आगे चलकर प्रतिक्रियावादी, प्रगति का पुनः प्रमुख शत्रु हो जा सकता है, परन्तु आने वाले दस-बीस वर्षों में उसकी सनातन निष्ठा दिखावटी होने पर भी वह संघर्ष टालने में उपयोगी होगा।

१९१७ में कल्पनालोक हाथ में आया प्रतीत हुआ था। आज उसकी सम्भावना अन्तरिम काल तक के लिए स्थगित है—तब तक हमें हरियाली का निर्माण करना चाहिए।

राजा मर गया....

१

"राजा मर गया, राजपद अमर रहे—" फ्रांसीसी सभासद चिल्लाया करते थे, जब चेचक ने राजा को बुरी तरह रुग्ण कर रखा था। आगामी कुछ वर्षों में इसमें इस परिवर्तन की सम्भावना है—"हिटलर मर गया, फासिज्म का नाश हो"—यह हमें भलीभाँति अपने दिमाग में बैठा लेना चाहिए, नहीं तो हमें खेद-सहित विस्मित होना पड़ेगा और हमारी अवस्था उस आदमी-जैसी होगी, जो सिंह के मुँह में अपना सिर रख कर सोया है। फासिज्म का पराभव केवल रण-क्षेत्र में नहीं हो सकता, यह पराभव जनता की विचार-भूमि और भावना-भूमि पर होना चाहिए, क्योंकि फासिज्म एक पुरातन मनोवृत्ति का ही नया नाम है। जहाँ-जहाँ 'काला आदमी' और 'सुअर'-जैसी गालियाँ दी जाती हैं, जहाँ-जहाँ नागरिकों के सुखी जीवन को और राजनीतिक ध्येय को तुच्छ माना जाता है, जहाँ-जहाँ 'वेतन-वृद्धि' कहते ही 'साम्यवाद का लाल संकट' कह कर कानूनी तौर पर की जाने वाली हड़ताल में भी हड़ताल करने वालों पर गोलियाँ चलायी जाती हैं, वहीं फासिज्म है, आप की आँखों के सामने ही। उसे रंगीन फिल्म (टेक्निकलर) में देखने के लिए सिनेमागृह की ओर जाने की जरूरत नहीं।

स्वतंत्रता मात्रा के आधार पर कम-अधिक होती है। एकान्त कमरे में बन्द किया गया कैदी उस कैदी की अपेक्षा कम स्वतंत्र होता है, जिसे व्यायाम करने की छूट दी गयी हो। नजरबन्द-शिविर जेलखाने की तुलना में स्वर्ग है—नन्दनवन है। नाजी जर्मनी की तुलना में फासिस्ट इटली स्वतंत्र देश था, परन्तु फ्रांस की तुलना में परतंत्र। परन्तु फ्रांस में कितनी स्वतंत्रता थी? वहाँ के लोकतंत्र ने स्त्रियों को मताधिकार से भी वंचित कर रखा था। वहाँ की स्त्रियों को पति की उदार अनुमति के बिना बैंक में खाता खोलने का भी अधिकार नहीं था। अमरीकी लोगों को यह परिस्थिति बिलकुल जंगली लगती है और संसार में हम सर्वाधिक स्वतंत्र देश में रहते हैं, उनकी यह भावना दृढ़ होती जाती है।

"मैं एक तुच्छ पाखंडी हूँ, आप मेरे मुँह पर थूकिए।" एसी तख्ती गले में बाँध कर विएना के रास्ते में एक आदमी का जुलूस निकाला गया था। फिर वह अमरीका की भाग्य-भूमि पर आ पहुँचा, पर यहाँ उसे क्या अनुभव हुआ? उसे एक होटल से निकाल बाहर किया गया। उस होटल में केवल अमरीकियों का ही प्रवेश था। उसे इस विषमता की कोई कल्पना भी नहीं थी। लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार में अमरीका की स्वतंत्रता भी सीमित है, देख, निराश होकर, उस आदमी ने आत्म-हत्या कर ली।

यदि मैं कहूँ कि लोकतंत्र और फासिज्म में बहुत थोड़ा अन्तर है, तो आप इसका विरोध करेंगे, और समाचारपत्र-स्वातंत्र्य, जनता द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि, आदि वैधानिक सुरक्षाओं का उल्लेख करेंगे। निश्चय ही, यह सत्य है। "सब चीज सही है"—यह सिद्ध करने के लिए जो सदा इस तर्क का सहारा लेते हैं, उनकी अपेक्षा, जिसने तानाशाही राज्यव्यवस्था में दिन काटे हैं, वह लोकतांत्रिक संस्थाओं की महत्ता अधिक जानता है। लेकिन कानून के शब्द और उनके अमल के उत्साह का अन्तर वह पहचान सकता है। किसी व्यक्ति को ऐसी निरर्थक वार्त्ता करने में शर्म आयेगी। हिटलर की भी एक संसद थी, जो कि सिद्धान्ततः कभी भी उसे पदच्युत कर सकती थी। हंगरी में हार्थी के शासन-काल में मजदूर-दल वैधानिक करार दिया गया था और काफी दिनों तक उसे अपना दैनिक पत्र निकालने की अनुमति थी। विश्व के सर्वाधिक लोकतंत्रीय विधान—१९३६ के सोवियत विधान—में भी विरोधी-पक्ष पर प्रतिबन्ध है। स्पष्ट ही, वहाँ एक ही पक्ष का अस्तित्व है।

दूसरे शब्दों में, कोई वैधानिक सुरक्षाओं पर निर्भर नहीं रह सकता और आत्मसन्तोष के लिए उनका सहारा नहीं ले सकता। हमारी जीवन-पद्धति से फासिस्टों का रहन-सहन बिलकुल भिन्न है। फासिज्म को सदा हम एक ठोस रूप में सोचते हैं, परन्तु एक गैस के साथ उसकी तुलना करना अधिक उपयुक्त है। गैस किसी भी आकार के पात्र में रखी जा सकती है और एक बार आप को उसकी थोड़ी-सी दुर्गन्ध में भी रहने की आदत हो गयी, तो आपका सारा जीवन विषमय बन जाने पर भी आपको खटकेगा नहीं। भय इस बात का नहीं है कि किसी दिन सवेरे उठने पर समस्त संसार फासिस्ट बना दिखायी देगा। ऐसा होता, तो उसे टालना आसान था। खतरे की बात तो यह है कि पिछली रात जब हम सोने गये, तभी संसार हमारी बेखबरी में फासिस्ट बनता जा रहा था।

२

मैं चाहता हूँ कि आप इन्हें पेशेवर भविष्य-वक्ता की बढ़ाई-चढ़ाई बातें न मान लें। दोनों महायुद्धों के समय यूरोप में जो ऐसे भविष्य-वक्ता हुए, उन्होंने अग्रिम सूचना दी थी—इसलिए नहीं कि वे निराशावादी अथवा आनन्द फैलाने वाले थे अथवा "मैंने कहा था न?" कहकर आनन्दानुभूति प्राप्त करने वाले थे। अब उनमें से बहुत कम जीवित होंगे। उन्होंने आप को सावधान रहने का संकेत दिया, इसका अर्थ यह नहीं कि वे स्वप्न में विचरने वाले थे, परन्तु उन्हें यथार्थता का ज्ञान था, और वे स्वयं कष्टों के भुक्तभोगी थे। समाजवादियों ने आपको हिटलर के विरुद्ध सचेत किया था, क्योंकि वे डकाऊ और ओरेनियन वर्ग से परिचित थे। फ्रेंच लोगों ने अपनी सुरक्षा की माँग की थी, क्योंकि वे जानते थे कि आक्रमण का क्या अर्थ होता है। तीन बड़ों (या चार या पाँच) में सत्ता के लोभ में राजनीतिक गठबंधन होने लगे, तभी छोटे-छोटे देशों ने इस राजनीतिक दाँव-पेंच के विरुद्ध चेतावनी दी, क्योंकि वे जानते थे कि इसकी कीमत उन्हीं को चुकानी पड़ेगी। जातिवाद के विरुद्ध यहूदियों ने आपको सचेत किया था, क्योंकि उन्हें यह मालूम था, आज जो नाम उन्हें दिया जा रहा है, उसकी समाप्ति पत्थर से मार मार कर उनके प्राण लेने और वध करने में होगी—चाहे वह कलकत्ता में हो, वार्सा में हो या डेट्राइट में हो। और आज, जिन लोगों ने यह देखा है कि फासिज्म किस प्रकार बढ़ता है और जो उसके प्रारम्भिक लक्षणों से परिचित हैं, वे चेचक को मुहाँसा समझने की आपकी भूल की ओर संकेत कर रहे हैं। केवल कष्टों का भोगना ही बुद्धि को जन्म नहीं देता। इसलिए जब हम अपने और आपके अनुभवों के बीच का अन्तर बताते हैं, तब ऐसा मत मान बैठिये कि हम अहंकारी हैं, या बुजुर्ग होने का दावा कर रहे हैं। प्रत्येक शहीद साधु नहीं होता और बहुधा वह मूर्ख की तरह व्यवहार करता है। यहूदियों के बाद पोलैण्ड-निवासियों ने बुरी यातनाएँ सहीं। शत्रु ने निर्दयतापूर्वक उनका वध किया और मित्रों ने उनके साथ विश्वासघात किया। लेकिन आज वे ही अपनी स्थिति किस प्रकार शोचनीय बना रहे हैं, इस पर गौर कीजिये। लगता है, अब सीखने की योग्यता ही उनमें नहीं है। लेकिन यह कहना अधिक उचित होगा कि इतिहास एक अयोग्य अध्यापक है। वह पहले तो शिष्य को सजा देता है और फिर सजा का कारण खोजने की जिम्मेदारी भी उसी शिष्य

पर डाल देता है। केवल पोलैण्ड-निवासी ही बुरे विद्यार्थी थे, ऐसी बात नहीं। ध्वस्त हुए यूरोप के अधिकांश भागों में देशाभिमान और बदला लेने की भावना बढ़ रही थी। पराजित और विमुक्त दोनों देशों में प्रकट या अप्रकट रूप में गुरिल्ला और प्रतिकारी संगठनों में परस्पर लड़ाई चल रही थी।

कुछ भी हो, जिन्होंने यातनाएँ सहीं और जो अछूते बच गये, उनमें अन्तर तो है ही। यूरोप में लाखों लोगों को अकाल, आतंक और अपमान की यातनाएँ भुगतनी पड़ीं। उनमें से कुछ ही लोगों को क्यों न हो, नयी जानकारी हुई। उन्होंने एक-दो नयी बातें सीखीं। इस दिवालिये महादेश की सम्पत्ति तथा दृढ़ आशा के रूप में केवल वे ही लोग बच गये थे। उन्हें किसी विशेष दल या गुट से सम्बन्धित नहीं समझना चाहिये। यद्यपि वाम-पक्षीय गुटों में उनकी संख्या दक्षिणपक्षी गुटों से अधिक है—तथापि अभी भी समान उद्देश्यवाले व्यक्तियों से वे अधिक नहीं हैं और उन पर कुछ समय के लिए पुराने दलों या पूर्व-पश्चिम के नये सम्बन्धों की छाप पड़ने की सम्भावना है। अभी भी उनके अल्पसंख्यक होने से कुछ नहीं बिगड़ता। इतिहास में जो भी प्रगति हुई है, वह हमेशा जागृत अल्पसंख्यकों ने ही की है। अपने ज्ञान की कलम से सुप्त समाज को जागृत कर उसे यह सिखाने में जब वे सफल हो जाते हैं कि उसका कल्याण किसमें है, तभी समाज की प्रगति होती है। ये अल्पसंख्य न होते, तो फ्रांस की क्रांति के समय न वेस्टाइल पर हमला होता, और न अमरीका कभी संगठित होता। इतिहास से पाठ सीखने वाले अथवा उनका सही अर्थ समझने वाले ही अच्छे शिष्य होते हैं।

ऐसा अल्पसंख्यक समाज निश्चय ही हर जगह होता है, अमरीका के समान ही नार्वे, फ्रांस में भी; किन्तु जिन लोगों ने यातनाएँ सही हैं और अनुभव प्राप्त किये हैं, उनसे यातनाएँ न सहनेवालों का अन्तर यहीं लक्षित होता है। यातनाएँ न भुगतने वालों में बुद्धिवादी वर्ग छोटा और पृथक् होता है। वे आगामी घटनाओं की चर्चा करते हैं—अपने ध्येय के आधार पर, अनुभव से नहीं। वे गला फाड़कर चीखेंगे, पर सर्वसाधारण की ओर से उन्हें उत्तर नहीं मिलेगा; क्योंकि उन-जैसे अनुभव सर्वसाधारण के नहीं होते। फलस्वरूप सर्वसाधारण की धारणा उनकी धारणा से मेल नहीं खाती। सर्वसाधारण ध्येय-वादी मनुष्य की कल्पनाशक्ति के अभाव में यह समझ नहीं पाता कि आखिर वे किस विषय में इतने उत्तेजित हो रहे हैं।

सर्वसाधारण का समर्थन न मिलने पर उन भविष्यवादी बुद्धिवादियों पर

इसका विपरीत परिणाम होता है। वे और अधिक दूर रहने लगते हैं। उनके स्वभाव में कड़वापन आ जाता है और परिणामतः वे साधारण मनुष्य के विचारों से दूर हो जाते हैं। अठारहवीं सदी में अगर फ्रांस के किसान यातनाओं और भुखमरी के शिकार नहीं हुए होते, तो डेन्टन और सेन्ट जस्ट को अपनी सारी जिन्दगी 'न्यू रिपब्लिक' अथवा 'पार्टिजन रिव्यू' के समान ही किसी पत्र के सम्पादन में बितानी पड़ती। स्पष्ट ही, यूरोप की परिस्थिति और वातावरण भिन्न हैं। वहाँ के लोग कम-से-कम, अनुभवहीनता और राक्षसी अज्ञान से मुक्त हो चुके हैं, जो औसत अमरीकी सैनिक या दूरस्थ अधिकारी की विशेषता है। फ्रांस या बेल्जियम के देहातों में अमरीकी टैंक जाने पर वहाँ लोग उसके आस-पास कैसे जमा होते हैं और चाकलेट के टुकड़े के लिए हाथ पसारते हैं अथवा टैंक पर फूल बरसाते हैं, ये चित्र आपने देखे हैं? इससे मालूम होता है कि वे लोग कितने सरल हैं—बच्चों के समान ही। वे हँसते हैं, तो उनकी आँखों में आपको सरलता की झलक नजर आयेगी। कोई युवती ड्राइवर का चुम्बन लेती है, तो उसमें सरलता लक्षित होती है; उन्होंने जीवन के अनुभव प्राप्त किये हैं।

इन किसानों में जो व्यक्ति जागरूक होते हैं, उन्हीं पर हमारी आशा लगी रहती है। ये अल्पसंख्यक बुद्धिजीवी वर्ग से आये हुए या समाज से दूर हटे हुए नहीं होते। ये तो प्रतिकारात्मक आन्दोलन से आये हुए भावनाशील और कार्यशील वीर हैं। उस हिसाब से इनकी संख्या बहुत बड़ी होती है। समाज से इनके सम्बन्ध सहानुभूतिपूर्ण होते हैं। कालान्तर में ही सही, इसकी पूरी सम्भावना रहती है कि समाज इनकी बात मान लेगा; क्योंकि समाज इनके द्वारा केवल धर्मोन्मादित ही नहीं है, बल्कि वह भावना से अभिभूत कर दिया गया है। इसीलिए चित्रों में इनके चेहरे प्रौढ़ दीखते हैं।

राजनीतिक दृष्टि से भले ही तत्काल उनकी व्याख्या न हो सके; फिर भी उनके कष्ट शेष रहेंगे, और उनके भीतर-ही-भीतर प्रवाहित होनेवाली धारा योग्य समय पर परिस्थिति की परत फोड़कर बाहर आयेगी। वे भूलें करेंगे, पर ये पहले-जैसी न होंगी। संभव है, ये भूलें उन्होंने न की हों, उन पर लादी गयी हों। अपनी सत्ता बढ़ाने के लिए बड़े-बड़े राष्ट्रों में जो चालें गूढ़ रूप में चली जाती हैं, उनसे ही राष्ट्रों में फूट पैदा होती है। पोलैण्ड-वासियों ने अगर इस धरा पर उपलब्ध सारी बुद्धिमत्ता प्राप्त कर ली होती, तो भी उनके सिर पर वही दुर्दशा आयी होती। इसी तरह यूनानियों या फ्रेंच लोगों के दलगत

झगड़ों को सुनकर आप यह मत कहिये कि ये लोग पहले-जैसे ही मूर्ख हैं या यातनाएँ सहने पर भी उनमें कोई अंतर नहीं आया। निश्चय ही, उनमें परिवर्तन हुआ है, जो उचित समय पर प्रकट होगा। लेकिन इस राजनीतिक खींचातानी में उन्हें रास्ता मिलना चाहिए। पहले भी उन्हें रास्ता नहीं मिला और यदि अब भी न मिलेगा, तो उनके पास कम-से-कम कुछ समय के लिए पागल बनने का बहाना तो है ही।

लेकिन आपके पास ऐसा कोई बहाना नहीं। आप बड़े राष्ट्रों की पड़ोस की पकड़ में नहीं और वे आप को खोने की कीमत पर आपके भविष्य का फैसला नहीं करते। आगामी कुछ सदियों तक व्हेनेजुएला की तरह के आक्रमण की सम्भावना भी नहीं है। इसी प्रकार आप के बीच राष्ट्रीय क्रान्तिकारी दल के नाम आन्दोलन आरम्भ करा कर उसे आर्थिक सहायता देने के लिए कनाडा की सरकार भी आगे नहीं आयेगी। आपका राष्ट्र संसार में सर्वाधिक सम्पन्न है, आपने एक ही पीढ़ी में दो बार यूरोप को पराजय से बचाया है। पहली बार के बाद आप स्वयं के और फ्रांसीसी कब्रिस्तानों में अपने आदमियों के बलिदान के नैतिक महत्त्व को छीन लेते हैं। 'इस बार भी क्या आप वैसा ही करने जा रहे हैं?' यूरोप के लोग अपने-आप से यह प्रश्न पूछ रहे हैं।

३

स्वातंत्र्य न्यूनाधिक परिमाण में होता है। इसी से जब वह धीरे-धीरे चुपचाप घटता जाता है, तो अनुभवी लोगों को इस स्वातंत्र्य-हानि का ज्ञान ही नहीं होता। यह बात पश्चिमी संस्कृति पर भी लागू होती है। इतिहास में रोम के विनाश-जैसे जो महा अनर्थ होते हैं, वे एक ही क्षण के प्रचण्ड उत्पात से नहीं होते। परन्तु बर्फ पर धीरे-धीरे फिसलने की तरह इसकी प्रक्रिया सदियों अथवा दशाब्दियों तक चलती है।

सचमुच मानव-स्वभाव का एक विलक्षण नियम है कि उसे महान् अनर्थ, क्षुद्र और साधारण-सी घटना प्रतीत होती है। क्षय कितना बड़ा रोग है, लेकिन उसके आरम्भिक लक्षण बड़ी खाँसी-जैसे भयानक नहीं होते। मानसिक विकृति से मनुष्य कितना क्षुब्ध होता है, लेकिन उनके प्रथम लक्षण स्नायु-दौर्बल्य की तुलना में बड़े मामूली होते हैं। युद्ध में जब विश्रान्ति का समय आता है, तो आकाश और खेत कितने स्वप्निल, प्रशान्त और सुरक्षित लगते हैं, कोई भी

सैनिक यह बता सकता है। रोगी जिन विचारों और स्वप्नों को महत्त्वहीन और साधारण समझता है, ये ही उसके मानसिक संघर्ष का कारण बन जाते हैं, इसे कोई भी मानसशास्त्री कह सकता है। इतना ही क्यों, हम अपनी डायरी को एक साल बाद पढ़ें, तो मालूम होगा कि जिन घटनाओं को हमने साधारण समझकर लिखा है, उनका ही हमारे जीवन पर अधिक प्रभाव पड़ा है। यह जान कर आपको विस्मय होगा कि कई आत्मवृत्तान्तों में ऐसा ही होता है।

यह बात बड़ी चमत्कारिक लगती है; परन्तु इसके कारण स्पष्ट हैं। हमारे जीवन पर दुःखदायक घटना के जो बादल मँडराते हैं, वे क्षुद्र जलबिन्दु के समान हैं, यों समझना मानव-मन की प्रवृत्ति है और इसी प्रवृत्ति के बल पर मनुष्य अपने मन का सन्तुलन बनाये रखता है। यह प्रवृत्ति न रहने पर बचपन में ही हम पागल हो जायेंगे। यह एक आवश्यक साधन है, परन्तु इसमें कुछ दोष भी हैं। इस युक्ति से आपत्काल में तो हमारी बुद्धि ठीक रहती है; परन्तु जब सब ठीक चलता है, तब हम सन्तुष्ट रहते हैं और निष्क्रिय बन जाते हैं। किसी चीज को कम बताने की अँग्रेजों की आदत इसीसे उत्पन्न हुई है। विक्टोरिया-काल में जब इंगलैण्ड सत्ता और सज्जनता का केन्द्र बना, तभी वहाँ इस प्रकार की आत्म-सन्तुष्टि के बीज बोये गये।

अनुभवप्राप्त व्यक्तियों को अनुभवहीन व्यक्तियों की तुलना में यह बहुत बड़ा लाभ है कि यातनायें छन्ने के छिद्रों को बढ़ा देती हैं। सभी नैतिक शिक्षाओं का यही सार है कि महान् संकट को तुच्छ समझने की वृत्ति स्वेच्छया त्याग दी जाये, किन्तु इन शिक्षाओं पर अमल करना बड़ा कठिन कार्य है। इसी लिए शान्ति-स्थापन की अपेक्षा युद्ध आरम्भ करना अधिक सरल है।

दंतकथा की रचना

"अविश्वसनीय घटनाएँ नये अंधविश्वासों के पालने हैं"।—एमिएल

१

न्यूटन ने 'प्रिंसीपिया' नामक एक ही ग्रंथ लिखा हो, ऐसी बात नहीं। उसने नरकों का वर्णन करनेवाली एक पुस्तक भी लिखी है। हम आज भी उन बातों पर विश्वास करते हैं, जिनकी संगति न तो हमारी देखी हुई सत्य घटनाओं से बैठती है, न समझ में आनेवाली किसी बात से। हमारे मस्तिष्क में ऐसी मान्यताओं का उष्ण-प्रवाह और विवेक का हिम-प्रवाह दोनों पास-पास बहते हैं; परन्तु उनका नियम ही ऐसा है कि एक का दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उष्ण-प्रवाह इससे सिकुड़ता नहीं और हिम-प्रवाह पिघलता नहीं। मानव-मन कम-से-कम दो विभागों में विभक्त होता है—'रोगयुक्त' तथा 'साधारण'। इन दोनों में यही अंतर है कि पहला अविवेकी तत्त्वों से पृथक्ता का गुण लिए हुए है और दूसरा सामूहिक रूप से अविवेकी तत्त्वों को स्वीकार करता है। समाज द्वारा मान्य खण्डित मस्तिष्क के विशिष्ट उदाहरणों में ये लोग आते हैं—वह खगोल-शास्त्री, जो अपने यंत्रों पर विश्वास रखता है और साथ ही ईसाई धर्म-ग्रंथ के वर्णनों पर भी, फ़ौजी पादरी, वह कम्यूनिस्ट, जो करोड़पति मजदूर की सम्भावना को मानता है, वह मनोविश्लेषक, जो विवाह कर लेता है और वह कर्मवादी, जो अपने विरोधियों को गालियाँ देता है। प्राचीन काल के मनुष्य को, यह पता होने पर भी कि उसका भगवान एक लकड़ी के टुकड़े पर नक्काशी की हुई एक मूर्त्ति-भर है, विश्वास था कि यही भगवान पानी बरसाता है। यह सत्य है कि दिन-प्रतिदिन हमारी श्रद्धा और मान्यताएँ सुसंस्कृत बनती जा रही हैं, तथापि हमारे मन का दुविधायुक्त मूल स्वरूप स्थायी बना हुआ है।

यह मानने का पर्याप्त कारण है कि इस द्विविध मनोवृत्ति का सम्बन्ध विशिष्ट नाड़ी-प्रक्रिया से है। हाल के शोधों से यह ज्ञात होता है कि हमारे मस्तिष्क में भावना और विवेक के स्थान अलग-अलग हैं। पशुओं पर किये गये प्रयोगों से तथा पिछले युद्ध में मस्तिष्क के घावों का अध्ययन करने से यह सिद्ध हुआ

है कि एक ही परिस्थिति में मन में परस्परविरोधी दो वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। विवेकशून्य मान्यताओं की जड़ें भावना में जमी रहती हैं और इसीसे ये मान्यताएँ सत्य लगती हैं और इसका परिवर्तन आशायुक्त अथवा भययुक्त चिन्तन में होता है। बन्दर, बालक तथा जंगली मनुष्यों के विचार इसी दिशा में चलते हैं और हमारे मन में भी २४ घंटों में २३ घंटे ऐसे ही विचार आते हैं। किसी भी परिस्थिति पर निर्विकार भाव से विचार करने की आदत नयी है। यह इतनी कमजोर है कि भावना की हल्की-सी फूँक में टूट जाती है और विवेकपूर्ण विचार के स्थान पर भावना स्थान पा लेती है।

शरीरविज्ञान और मनोविज्ञान की गत ५० वर्षों की प्रगति से यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि मनुष्य का मन साधारण परिस्थिति में विवेक के अनुसार न चल कर भावना के अनुसार चलता है। मनुष्य के मन की प्राथमिक अवस्था तर्कशास्त्र के बाहर की चीज है। परम्परागत, संचित एवं प्रचलित मान्यताओं को ही वह अपनाता है। आज भी मानव-मन प्रायः इसी अवस्था में है, फ्रायड-जैसे मनोवैज्ञानिक यही कहते हैं, आगडेन तथा रिचर्ड सभी यही कहते हैं। आधुनिक शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र भी इन्हीं परिणामों पर पहुँचा है। विज्ञान कम-से-कम ऐसी स्थिति पर पहुँच गया है कि साधारण रूप से मस्तिष्क के कार्य करते समय उसका अविवेक लक्ष्य कर सके। इन प्रगतियों का राजनीति पर कोई अधिक प्रभाव नहीं दिखाई देता। दूसरे, तीसरे और चौथे समाजवादी आन्दोलन (इण्टरनेशनल) असफल क्यों हुए? अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का प्रयास क्यों नहीं सफल हुआ? इसका अन्तिम कारण यही है कि उन्होंने मानव-मस्तिष्क के अविवेकी तत्त्व की उपेक्षा की। "मानव-मन बड़ा विवेकपूर्ण है, आवश्यकता है केवल तर्कसंगत विचारों, सायंकालीन वर्गों, परचों तथा पुस्तकों के द्वारा उसे विश्वास दिलाने की कि उसका हित किसमें है"—समाजवादी और वामपंथी प्रचारकों का यही विश्वास था। उन्होंने मानव के अन्तर्मन-मस्तिष्क के आधे भाग, उसकी स्वप्न-भूमि और भावनाओं की ओर ध्यान दिया ही नहीं, जो मानव शरीर का ९० प्रतिशत भाग है। अतः वामपंथी फासिज्म के तत्व का विश्लेषण करने में असफल रहे। वे उसका और उसके विरोधी कामों का विवरण भी न दे सके। इसी से आज गहरी खाई के किनारे खड़े होकर भी वामपंथी अपने मन को धोखा दे कर खोखली आशा के राज्य में विचरते हैं।

दूसरी ओर, फासिज्म, अविवेक और कल्पना का तीव्र विरोधी होने पर भी

वैज्ञानिक सत्य के निकट नहीं है। वह विवेक को बिल्कुल गौण मानता है; उसका समाजशास्त्र अरक्षित जाति सिद्धान्त पर आधारित है, उसका राजनीतिक अर्थशास्त्र अपूर्ण है और उसका समाज स्थिर है।

२

वामपंथी दल के इस मूल दोष की व्याख्या उसके नेताओं के व्यक्तिगत दोष के आधार पर नहीं की जा सकती। इसकी जड़ें अधिक गहराई तक गयी हैं।

१८–वीं सदी के अन्त तक क्रान्तिकारी आन्दोलनों का आधार या तो धर्म होता था अथवा कम-से-कम धर्म के साथ उनका सुदृढ़ गठबंधन होता था। इससे सुखी जीवन की बौद्धिक इच्छा तृप्त होती थी, और साथ ही ब्रह्मसाक्षात्कार की लालसा भी शान्त हो जाती थी। दूसरे शब्दों में, वे आन्दोलन भावनाओं से भरे होते थे, फ्रांस की क्रान्ति ने उनमें एक आमूल परिवर्तन किया।

यूरोप में जो धर्म-सुधार का आन्दोलन हुआ, उसने पादरियों और पोप के अनुयायियों की भ्रष्टता पर आक्रमण किया, भगवान पर नहीं। उस आन्दोलन का स्वरूप ऐहिक सुधार से सम्बन्धित था और इसीलिये उसने भगवान पर आक्षेप नहीं किया; परन्तु फ्रेंच क्रान्ति का आक्रमण केवल पादरियों और पोप के अनुयायिओं पर नहीं था, बल्कि भगवान पर भी था। फिर भी भगवान की जगह बुद्धि-देवी की स्थापना का प्रयत्न असफल गया। भाग्यवश अन्य तत्त्वों को मान्यता मिली। 'स्वतंत्रता, समता और बन्धुत्व' केवल कोरी घोषणाएँ न थीं। ये मानो साक्षात् देवियाँ थीं। वैसे ही वह तिरंगा निशान था। "मानवीय अधिकारों के लिये चर्च का उपयोग" करने की भावना जोरों से पनपने लगी। अमरीकी स्वातंत्र्य के घोषणा-पत्र में कहा गया है कि "सभी मनुष्य समान मानकर बनाये गये हैं, हम इस सिद्धान्त को स्वयंसिद्ध मानते हैं"। 'स्वयं-सिद्ध' का अर्थ बुद्धि की सीमा से परे स्वयंस्फूर्त है।

इस नये देवता का भावपूर्ण आह्वान अल्पकालीन ही ठहरा। एक शताब्दी में ही वह क्षीण हो गया, जब कि इसके विपरीत ईसाई धर्म की काल्पनिक कथाएँ लगभग दो हजार वर्षों तक टिकीं। इसके कारण स्पष्ट हैं। ईसाई धर्म की दन्तकथा और धर्म-विधि के पीछे अविरल प्राचीन युग से चली आ रही परम्परा खड़ी थी। उसकी जड़ें मनुष्य के अन्तर्मन की गहराई तक पहुँच चुकी थीं। लेकिन १७८९ में अमरीकी घोषणा-पत्र में जो सिद्धान्त घोषित किए गये

थे, वे जाग्रत बुद्धि की उपज थे। उन्होंने कुछ समय के लिए संसार में प्रचलित विचारों का खोखलापन ढक दिया, किन्तु सम्पूर्ण के लिये मनुष्य की जो उत्कंठा है, उसे वे पूरी नहीं कर सके। जड़ पदार्थों में वे मनुष्य के गुण-आरोपण में असमर्थ थे। मनुष्य की आध्यात्मिक क्षुधा तृप्त न हो सकी। संसार की अपूर्णता और असफलता तथा इससे मानव-मन को प्राप्त होने वाली भयग्रस्तता की भावना नष्ट करने के लिए ये तत्त्व अनुकूल वातावरण का निर्माण न कर सके। उनका स्वरूप पूर्णतया ऐहिक था। "भगवान सदैव बादलों में तथा गोधूलि-बेला में निवास करते हैं"—इस धारणा को फ्रेंच, वामपंथियों का रहस्य कहते हैं और इसका जन्म चेतना के युग में हुआ था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, १८४८ के बाद नये ध्येयवाद का श्रद्धाशील स्वरूप नष्ट हो गया। फ्रेंच क्रान्ति के जन्मदाता—प्राउटन, फ़ोरियर, सेंट सिमन—देवदूत न माने जाकर पागल करार दिये गये। अस्त होने वाले ईसाई धर्म का स्थान लेने वाला तथा लोगों की भावना में अदम्य आकर्षण उत्पन्न करनेवाला कोई आन्दोलन सामने नहीं आया।

आधुनिक समाजवाद के संस्थापक यह मानते थे कि इस प्रकार के अनुरोध की आवश्यकता ही नहीं। उनके मत में धर्म लोगों के लिए अफीम-जैसा है और उसके स्थान पर लोगों को 'विवेक का भोजन' देना चाहिये। सभी विज्ञानों की तेजी से प्रगति हो रही थी और डार्विन का सिद्धांत भी द्रुतगति से विकसित हो रहा था। इससे सर्वसाधारण को विश्वास होने लगा था कि बुद्धिवादियों के निर्णय अचूक होते हैं। लोगों को विश्वास हो गया कि इसी प्रकार पारदर्शक अणु-परमाणु से निर्मित एक स्वच्छ, सतेज और स्फटिकमय सृष्टि होगी, और उसमें सांझ का धुंधला प्रकाश और रात्रि का अन्धकार न रहेगा—उसमें दंतकथा की गुंजाइश न होगी।

इस वातावरण में मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म हुआ। उस समय विवेक और भावना में, सवार और घोड़े का सम्बन्ध माना जाता था। विवेक को सवार माना जाता था; और जिसे उस वक्त "अन्धकारपूर्ण प्रवृत्तियाँ" तथा "हमारे अन्तर का पशु" कहा जाता था, उसे घोड़ा। आज हम अधिक संकोची हो गये हैं और सोचते हैं कि इस तुलना के लिए धार्मिक क्षेत्र ही अधिक उपयुक्त है। लेकिन इस बीच वामपंथियों में सवार, अर्थात् बुद्धि से तर्क करने की परम्परा हो गयी थी, जब कि दूसरे, घोड़े को—भावना को—भगा रहे थे।

इसका परिणाम जो होना था वही हुआ। फ्रांस में बैस्टाइल पर किये गये आक्रमण के बाद डेढ़ सौ वर्षों तक एक के बाद एक कई आन्दोलन उठे, पर सब समाप्त हो गये। जकोविनिज्म, प्यूरेरिज्म, उपयोगितावाद, प्रथम और द्वितीय समाजवादी आन्दोलन (इन्टरनेशनल), विल्सोनिज्म, ट्रेड यूनियन, अराजकतावाद, फेविनिज्म, द' लीग आफ नेशन्स, वीमर गणतंत्र, तृतीय समाजवादी आन्दोलन (इन्टरनेशनल) ये सब आन्दोलन नव विचार की भूमि में उगे हुए एक ही वृक्ष के अंकुर थे। लेकिन दस-बीस वर्षों में ही वे सूख गये।

ये आन्दोलन निर्वंश रहे; परन्तु प्रत्यक्ष में इनका जो प्रचण्ड प्रभाव पड़ा, इतिहास में वह अपने ढंग का अकेला है। कुछ व्यक्ति यह कहकर कि इस आन्दोलन से कोई प्रत्यक्ष लाभ न हुआ, नाक-भौं सिकोड़ते हैं, और मुँह बनाते हैं। लेकिन वे मार्क्स-लिखित 'कैपिटल' का कुछ भाग पढ़ें, जिससे विगत शताब्दी के आरम्भ में इंगलैण्ड की मिलों में काम करने वाले मजदूर बच्चों की क्या दशा थी, स्पिटहेड में विद्रोह कैसे हुआ, आदि हृदय-द्रावक घटनाएँ उन्हें जानने को मिलेंगी। विगत १५० वर्ष में इन भ्रष्ट आन्दोलनों से सर्वसाधारण का जो प्रत्यक्ष सुधार हुआ, उतना सुधार ईसाई धर्म १५०० वर्षों में भी नहीं कर पाया।

लेकिन यह सब भौतिक सत्यता पर लागू है। लोगों के मन में इस सत्यता का रूप कुछ दूसरा ही था। मूल उद्देश्य की दृष्टि से सुधार का प्रत्येक आन्दोलन असफल हुआ है। इन आन्दोलनों को जो सीमित सफलता मिली, वही उन्होंने अपना साध्य नहीं माना था। प्रत्येक आन्दोलन के प्रवर्तक ने बड़े उत्साह से यह वचन दिया था कि वह स्वर्ण-युग आरम्भ करेगा। लेकिन मर्त्य-लोक में स्वर्ग लाने की उनकी कल्पना धूलधूसरित हो गयी। उन्हें जो भी थोड़ा-बहुत यश मिला, वह उनके आदर्श का केवल लघुरूप था। इसका स्वरूप ठीक वैसा ही था, जैसा कि किसी लखपति का दिवाला निकलने पर जब उसकी मृत्यु हो जाती है, तब उसके कारबारी कुछ सम्पत्ति बचा लेते हैं। यों वामपंथी दल का प्रत्येक कदम समाज-सुधार की दृष्टि से भौतिक क्षेत्र में स्थिर गति से प्रगति-पथ पर बढ़ रहा था, परन्तु सामाजिक मनोवृत्ति पर यदि इसका कोई सम्मिलित प्रभाव पड़ा, तो वह यह कि इससे भ्रम और निराशा की भावना बढ़ने लगी।

भौतिक जगत् में उच्च यथार्थता से लोगों का विश्वास हट गया, और उसका

स्थान लेने के लिए कुछ भी नहीं बचा था। प्रगति वह छिछली कल्पना है, जिसकी जड़ें भविष्य में हैं, अतीत में नहीं। वामपंथी पक्ष का भावना की दृष्टि-से धीरे-धीरे उन्मूलन हो गया। उसका जीवन-रस सूख गया। ब्रिटिश मजदूर-दल और जर्मन समाजवादी प्रजातंत्रीय-दल जब अधिकार में आये, तब ये निःसत्त्व बन गये थे। समाज के अन्तर्मन से उनका कोई सम्बन्ध न था। उनका नीतिशास्त्र कोरी विवेक-पूर्ण धारणाओं पर आधारित था। फ्रान्स की क्रान्ति का यदि कोई अवशेष रह भी गया था, तो वह था वाल्टेयर की तरह कड़ी भाषा में वाद-विवाद करना।

साम्यवादी लेखकों की एक कांग्रेस में, जिस नवीन और वीर विश्व का निर्माण हो रहा था, उसके बारे में घंटों जोरदार चर्चा हुई, फिर आंद्रे मालराक्स ने अधीर हो पूछा—"लेकिन इस विश्व में ट्रामगाड़ी के नीचे दब जाने वाले मनुष्य का क्या होगा?" सब उसकी ओर एक टक देखने लगे। वह भी मौन देखता रहा और इस प्रश्न पर फिर उसने ज़ोर नहीं दिया; परन्तु हम सब के अन्दर वह आवाज है, जो इस प्रश्न पर जोर देना चाहती है। पर आत्मा की अमरता पर से हमारा विश्वास अब हट गया है, जिस पर हमारा प्रेम या घृणा अधिक निकट की होती है। श्रद्धा पर लगी इस चोट से हमें जो घाव लगा है, वह अब तक भरा नहीं।

रणक्षेत्र में मारा जाना या वैज्ञानिक संशोधन करते हुए मृत्यु पाना, ये ऐसी हानियाँ हैं, जो कुछ अंशों में भर जाती हैं, लेकिन ट्राम के नीचे दब कर मरने वाले मनुष्य का क्या होगा! नदी में डूब कर मरने वाले बालक का क्या होगा? पहले के लोगों के पास इन प्रश्नों के उत्तर थे। ऊपरी तौर पर हमें जो दुर्घटना मालूम होती है, वह विश्व-रचना में एक नियमबद्ध रचना है, पहले के लोग ऐसा मानते थे। उनकी दृष्टि में भाग्य अंधा नहीं था। पहले ऐसा विश्वास था कि भूकम्प, ज्वालामुखी, जल-प्रलय रोगादि ईश्वरीय योजना के भाग हैं और ईश्वर ही हमारी देख-रेख करता है। नरमाँस-भक्षक, एस्किमो, हिन्दू, ईसाई सब के पास उक्त गूढ प्रश्न का उत्तर है। यह प्रश्न सबसे महत्त्व का प्रश्न है, इसे दबाने-छिपाने का कोई कितना ही प्रयास करे, किन्तु हमारे कार्यों का नियंत्रण करनेवाला यही है। साम्यवादी लेखकों की कांग्रेस में दीर्घकालीन स्तब्धता के बाद मालराक्स को एक ही उत्तर मिला—

"पूर्ण समाजवादी यातायात-प्रणाली में दुर्घटनाएँ नहीं होंगी।"

३

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर विश्व में संचित असफलता की भावना का उद्रेक हुआ। समस्त यूरोप में किसी सम्पूर्ण और असंदिग्ध शक्ति में विश्वास की वह लहर बही, जिसकी पहले उपेक्षा की गयी थी। दबी हुई भावनायें उभर पड़ीं। विचार-शक्ति ने बदला लिया। विभिन्न परिस्थिति में विभिन्न रूपों में यह विद्युतीय आँधी दौड़ गयी। जिन राष्ट्रों को युद्ध में यश मिला था, वहाँ इसकी गति अवश्य कुछ मन्द हो गयी; परन्तु कुछ राष्ट्रों में भोग-विलास की दिशा में उस आँधी ने अपना मार्ग पा लिया। पुनर्विश्वास की इस लहर के ऐतिहासिक दृष्टि से दो परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। एक है फासिज्म और दूसरा रूसी कपोल-कल्पना।

यहाँ मुझे यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि मैंने रूसी कपोल-कल्पना वहाँ के विकास को लक्ष्य कर के नहीं कहा है, परन्तु रूस के उस विकास का यूरोप के वामपंथियों पर जो मानसिक प्रभाव पड़ा, उसी से मेरा अभिप्राय है। मैं यह सिद्ध करने की चेष्टा करूँगा कि अन्य काल्पनिक मान्यताओं की तरह रूसी कपोल-कल्पना ने भी मानव मन की गूढ़ और गहरी आकांक्षायें तृप्त कीं। किन्तु इसकी ऐतिहासिक यथार्थता का, जो इसका उद्देश्य था, इससे कोई सम्बन्ध नहीं। नज़ारेथ के ईसा और उनके अनुयायियों के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से कितने ही संशोधन हुए; परन्तु ईसाई धर्मविषयक दंतकथा पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा—वह अक्षुण्ण ही रही।

४

फासिज्म और रूसी कपोल-कल्पनाएँ दोनों, केवल मानव बुद्धि पर ही व्यास नहीं, वरन् बुद्धि के साथ ही भावना को तृप्त करके, पूर्ण मानव-जीवन का विचार करने में ये कपोल-कल्पनाएँ समर्थ हैं। फासिस्ट कपोल-कल्पना बिलकुल स्पष्ट है, उस पर कोई आवरण नहीं। फासिस्ट नेता खुले रूप में जनता के गले में अफीम की गोलियाँ ठूंसते हैं। रक्त और मिट्टी के मूल रूप, ड्रैगन की हत्या करने वाले महामानव, वलहल्ला महल (दंतकथाओं में वर्णित) की वेदियों और यहूदियों की शैतानी शक्तियों का राष्ट्रीय सेवाओं में व्यवस्थित रूप से उपयोग किया जाता है। मनुष्य की सुप्त भावना के तार छेड़ने में ही हिटलर की आधी

प्रतिभा काम आती थी, और शेष आधी प्रतिभा अर्थशास्त्र, शिल्पशास्त्र, युद्ध-शास्त्र, प्रचारशास्त्र आदि में आधुनिक विचार उड़ेलने में खर्च होती थी। पुराने विश्वास को नये रूप में पुनः जीवित करना ही फासिज्म का रहस्य है। नाज़ियों का महल गगनचुम्बी था और मानों धरती के गर्म पानी के झरने से उस मकान में पानी के नल लाये गये थे।

इसके विपरीत, समाजवादी आन्दोलन के लिए आवश्यक जल की पूर्ति मकान की छत वाली टंकी से होनेवाली है और वह टंकी कभी तो बरसात के पानी से भरेगी, ऐसी आशा है। रूसी क्रान्ति ऐसी ही बरसात लायी—इतना ही नहीं, इसने उष्ण प्रदेश में जोरों की वर्षा शुरू कर दी। इससे तब तक सूखे पड़े पानी के नल एकदम उछलते-कलकल करते पानी से भर गये।

प्रथम कुछ वर्ष रूस की सत्य स्थिति और रूसी कपोल-कल्पना एकरूप से थे। उस पराक्रमी युग में अपने-आप ही दंतकथाएँ फैलीं। इस धुएँ के पीछे सचमुच ही आग धधक रही थी।

कितनी प्रचंड अग्नि थी वह! जनता ने सत्ता हस्तगत कर ली थी और पृथ्वी के छठे भाग पर अपना अधिकार बना रखा था। व्यक्तिगत अधिकार, लाभ की लालसा, यौन-अवरोध, सामाजिक रूढ़ियाँ, सबका एक साथ ही उन्मूलन कर दिया गया था। राजा और रंक, स्वामी और सेवक, अधिकारी और नागरिक-जैसा कोई भेदभाव नहीं रह गया था। पत्नी पर पति का, बच्चे पर माँ-बाप का, शिष्य पर शिक्षक का कोई अधिकार शेष नहीं रहा। उन अश्रुत आदेशों के पीछे ठीक उसी तरह की गर्जना थी, जैसी दस निर्देशों का जन्म देने वाली सिनाई की आवाज में निहित थी। जिन-जिन ने सुना, उन्हें लगा कि मन का पुराना कठोर आवरण टूट रहा है—नास्तिकवाद, निराशा, सामान्य बुद्धिहीनता का कठोर आवरण। अपने अंतर में उन्होने एक ऐसी भावनात्मक लहर अनुभव की, जिसके सम्बन्ध में वे स्वयं को समर्थ नहीं समझते थे। एक ऐसी भावना जगी, जो उनके मन की गहराई में बिल्कुल दब गयी थी, जिससे वे उसका अस्तित्व ही भूल गये थे।

वामपंथी नेता लगातार कई वर्षों से, दशाब्दियों से, सदियों से आने वाली क्रान्ति की बात कर रहे थे। लेकिन जब वह क्रान्ति आयी, तो वे उस देहाती पादरी-जैसे स्तम्भित हो गये, जो किसी रिक्त गिरजाघर में अपना साप्ताहिक प्रवचन सुनाने के बाद अपने सहायक से सुने कि बेतार के तार पर स्वर्ग के राज्य की घोषणा हो चुकी है।

वामपंथियों के शब्दों में ठीक वैसा ही हुआ, जैसी भविष्यवाणी की गयी थी। किसान-मजदूरों की सरकार, मजदूरों की तानाशाही, अपहरण करने वालों का अपहरण आदि ने सूखी स्याही को रक्त में बदल दिया। वामपंथियों की कपोल-कल्पना, जैसा हमने देखा, भूतकाल से नहीं, वरन् भविष्य की काल्पनिक अवस्था से उत्पन्न थी। वह भविष्य अब कल्पना-लोक से सत्यलोक में उतर आया था। रक्तहीन कल्पना-लोक एक सजीव देश में बदल गया था, जिसमें जीवित लोग रहते थे और जब यह परिवर्तन हुआ, तो उसका भौगोलिक क्षेत्र बड़ा होने के कारण कल्पनाशक्ति को भी बड़ा क्षेत्र मिल गया था। कल्पना मनमाने रंग भर सकती थी। प्रगति, न्याय और समाजवाद अब कोरे स्वप्न नहीं रहे थे। अब पहले के अनाथ और तितर-बितर आन्दोलन को एक झंडा और मातृभूमि प्राप्त हो गयी थी। साथ में अपने पिता की दाढ़ी वाली बाह्य आकृति भी, जिसकी आँखें मिचमिची थीं और जो किसी मंगोलियन की तरह प्रतीत होता था। स्वातंत्र्य-संग्राम में शूरवीरों का वह महान् संघर्ष था। इसलिए एक सदी से भूखे और राज्यलक्ष्मी से दूर रखे गये यूरोपीय वामपंथियों की सभी अतृप्त भावनाएँ संतुष्ट हो गयीं।

इस प्रकार रूसी कपोल-कल्पना का जन्म अथवा पुनर्जन्म हुआ, क्योंकि रूस एक आदर्श पुनर्जीवन के लिए—जो कि इतना पुराना है, जितनी स्वयं मानवता—एकमात्र नया अवसर था। अतीत के 'स्वर्णयुग', 'आशा की भूमि', 'स्वर्ण-राज्य' आदि प्रतीकों के समान ही, इसने क्षतिपूर्ति का आश्वासन दे, निराश जीवन और मृत्यु की खाई भरने की कोशिश की। हम लोगों में से जो व्यक्ति आंदोलन के समय थे, उन्हें मालूम है कि रूसी कपोल-कल्पना ने यह कार्य कैसे पूरा किया है—लेकिन रूसियों के लिए नहीं, बल्कि रूस के बाहर जो रूस के पुजारी हैं, उनके लिए।

इस आदर्श का एक मुख्य अंग है, आकांक्षा की पूर्ति होने से पहले भीषण उत्पात। इसीलिए कट्टर साम्यवादी शान्ति के मार्ग से समाजवाद की ओर अग्रसर होने की सुधारवादी कल्पना को नहीं मानते हैं। नवीनता के आगमन के लिए क्रान्ति आवश्यक है।

पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा बोल्शेविज्म की चिनगारी को सैनिक आक्रमण से बुझाने की बे-मन से की गयी कोशिश ने साम्यवाद के भक्तों का उत्साह बढ़ाया और रूस के चेहरे पर शहीदों का तेज़ चमकने लगा। फिर रूस यूरोप में सर्वश्रेष्ठ सैनिक राष्ट्र बन गया, और उसने पोलैंड तथा बाल्टिक रियासतों के आधे हिस्से पर कब्जा कर लिया।

"रूस पीछे हटे" यह नारा राजनीतिक रूप में आरम्भ हुआ और शीघ्र ही इसने धार्मिक रूप ले लिया। इसी प्रकार प्रतिक्रियावादी समाचार-पत्रों की निन्दा ने विस्तृत आलोचना और वादविवाद का रूप ले लिया। सरकारी तौर पर इसकी सफाई दी गयी कि रूस की आलोचना चाहे जितनी मैत्रीपूर्ण और सोद्देश्य रही हो, पर वह प्रतिक्रिया के रंग में रँगी थी। किन्तु यह लोगों के रुख की युक्तिपूर्ण व्याख्या-मात्र थी, क्योंकि एकान्त में भी, जहाँ 'डेली मेल' (एक समाचार पत्र) का रिपोर्टर नहीं रहता था, कोई आलोचना रूस के पुजारियों द्वारा निन्दनीय और अपराध समझी जाती थी। रूस की सुरक्षा की लहर यथार्थ से दूर हो गयी थी और उसने विदेशियों के संदेहपूर्ण हस्तक्षेपों के विरुद्ध एक धर्म की मानसिक सुरक्षा का रूप ले लिया था। प्रगति ने अपना खोया क्षेत्र पा लिया; सोवियत रूस लोगों के लिए 'नयी अफीम' बन गया।

५

रूसी क्रान्ति के तुरन्त बाद समूचे यूरोप में क्रान्ति की लहर-सी दौड़ गयी। परन्तु जर्मनी, इटली, हंगेरी, बाल्कन देशों में उसे पराभव का सामना करना पड़ा। इस शताब्दी के प्रथम चरण से ही यूरोप में शीघ्र क्रान्ति होने की आशा छोड़ देनी पड़ी। तब तक रूस क्रान्ति के भाले की नोंक बना हुआ था। अब क्रान्ति का यह आन्दोलन रूस का साया बन गया। चीन से स्पेन तक क्रान्तिकारियों की लगातार पराजय होती गयी। आत्महत्या करने वाले का भाग्य ही उनके पल्ले पड़ा।

सारे संसार के मजदूरों का हित देखने के बजाय रूस का हित सँभाला जाने लगा। 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' संस्था तो रूस के विदेशी कार्यालय की एक शाखा बन कर रह गयी। यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों में साम्यवादी दल की नीति में आकस्मिक परिवर्तन हुए और इसका यही कारण था कि रूस की नीति बदल रही थी।

इन परिस्थितियों को 'एक राष्ट्र के लिए समाजवाद' की घोषणा का रूप दिया गया। रूस, अर्थात् मजदूर-वर्ग का अपना घर। उसकी रक्षा के लिए यदि यूरोप के क्रांतिकारी आन्दोलन का बलिदान भी देना पड़े, तो क्या हर्ज है। रूस का किला मजबूत और सुरक्षित होते ही उसके योद्धा सारे संसार

को मुक्त कर देंगे, ऐसी भावनाएँ लोगों में पैदा की गयीं। यूरोप के क्रान्तिकारियों का आज का त्याग, यानी आगामी कल के लाभ का बीजारोपण है। भविष्यवेत्ताओं की भाषा में ऐसे आश्वासन लोगों को दिये जाने लगे। रूस ने यूरोप के मजदूरों के कार्य से अपने को अलग कर लिया, स्वयं रूस में 'मक्का' के यात्रियों के सिवाय अन्य लोगों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया। इन घटनाओं से रूस यथार्थता के क्षेत्र से दूर जाने लगा और दंतकथा के काल्पनिक सूत्रों को पनपने में सहायता मिलने लगी।

६

यूरोप के वामपंथी दल के साथ रूस ने जो बर्ताव किया, उसके दुःखद परिणाम इतिहास के पृष्ठों में लिखे हैं। समस्त यूरोप में साम्यवादी दलों ने अनिच्छा से फासिज्म की धाइयों की भूमिका की। नेताओं या अनुयायियों में से, जिनमें इस नीति का विरोध करने का ज्ञान और साहस था, उन्हें दल से निकाल बाहर किया गया, मार डाला गया अथवा पुलिस के सुपुर्द कर दिया गया। रूसी तानाशाही का स्वरूप कैसा था, यह तो कामिण्टर्न-संस्था के विधान से ही स्पष्ट है। एशिया की प्रायः अशिक्षित समझे जानेवाली जनता से रूस ने जिस प्रकार का व्यवहार किया, उसी प्रकार उसने यूरोप के मजदूर और बुद्धिजीवी वर्ग से भी बर्ताव किया। पश्चिमी लोगों की परिस्थिति और मनःस्थिति की ओर उसने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। ट्राट्स्की से बाँर्केना तक के अनेक आलोचकों ने इस बात को स्पष्ट किया है। लेकिन उनका विश्लेषण केवल राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित था। रूस से बाहर के लगभग सभी साम्यवादियों और उनके सहयोगियों ने इस परिस्थिति के सामने सिर क्यों झुका दिया, इसकी मनोवैज्ञानिक मीमांसा किसी ने नहीं की।

रूस में दल का शुद्धीकरण सतत जारी था। कल के लोकप्रिय नेता आज बहिष्कृत किये जाते थे। दल की नीति पर अनुयायियों के विचारों का प्रभाव नहीं पड़ता था। शत्रु के साथ उलट-पलट कर मैत्रीपूर्ण सन्धियाँ करने से हजारों मनुष्यों की हानि होती थी। शब्दों के मूल अर्थ को उस प्रकार तोड़ा-मरोड़ा जाता था कि ठीक विपरीत अर्थ निकल सके। कल तक जो सत्य था, आज सावेश इनकार किया गया। सारे वातावरण में निन्दा की लहर व्याप्त हो गयी। यह सब करोड़ों पश्चिमवासियों ने स्वेच्छा से अनुशासनबद्ध रहकर,

गेस्टापो-सैनिकों का भय न रहने पर भी, क्योंकर स्वीकार किया होगा!

इस प्रकार अधिकारों का बिना शर्त शोचनीय समर्पण सदा बुद्धि से परे की बात है। यही कहा जा सकता है कि यह एक मानसिक विकृति है। परन्तु नियमतः ईसाई या रूसी कपोल-कल्पना पर पूरी श्रद्धा से विश्वास रखनेवाला व्यक्ति किसी नास्तिक या ट्राट्स्की के अनुयायी से अधिक सुखी और सन्तुलित रहता है। मनुष्य के मन में जो प्राचीन विश्वास की जड़ें गड़ी हैं, संदेह से जब उनकी टक्कर हो जाती है, तो मानसिक विकार उत्पन्न होता है। इस संशय को दूर रखने के लिए सुरक्षा की एक दीवार खड़ी की जाती है। "नास्तिक और पाखण्डी लोगों से सम्बन्ध मत रखो। ट्राट्स्की का साहित्य मत पढ़ो"—ऐसे बन्धन लगाये जाते हैं। इससे असहिष्णुता की वृत्ति फैलती है और फिर भले आदमी भी ऐसे-ऐसे अत्याचार करते हैं कि आश्चर्य होता है।

भीतरी सुरक्षाएँ अचेतन हैं। अपनी पसन्द के जो श्रद्धास्थान होते हैं, मन उनके आसपास एक प्रकार के जादू का वातावरण बनाता है। वे सुरक्षाएँ इन्हीं से सम्बन्धित होती हैं। इन वातावरणों में जो तर्क प्रवेश करते हैं, उनका विवेकपूर्ण विचार नहीं किया जाता। एक विशिष्ट प्रकार के भ्रामक बुद्धिवाद से उन विचारों की मूर्खताएँ और विरोधी बातें सहज ही अपनायी जाती हैं। मनुष्य की मनोवृत्ति जितनी अधिक सुसंस्कृत होती है, उसका भ्रामक बुद्धिवाद उतना ही अधिक सूक्ष्म होता है। "यह सिद्धान्त तार्किक दृष्टि से सही होगा, परन्तु व्यवहार की दृष्टि से गलत है"—ऐसे ही मोटे सिद्धान्त सामने रखकर साम्यवाद के विश्वासी विचार करते हैं।

रूसी कपोल-कल्पना और सत्यस्थिति में ज्यों-ज्यों अंतर बढ़ता गया, त्यों-त्यों तर्कपूर्ण विचारों की विसंगति बढ़ती गयी। यहाँ तक कि रिबेनट्राप को क्रान्तिकारी की उपाधि देने पर भी वह रूसी विचारधारा से सुसंगत लगने लगा। लखपति को मजदूर और मेज़ को बत्तक का तालाब कहने-जैसी बात थी यह। 'डेली वर्कर' के गत दस वर्षों के अग्रलेख पढ़ने पर किसी की भी बुद्धि चकरा जायेगी।

७

इस परिस्थिति में, रूसी कपोल-कल्पना में फँसे हुए आदमी से व्यक्तिगत रूप में या प्रकट रूप में किसी प्रकार की भी चर्चा करना प्रायः निरर्थक होगा।

चर्चा का प्रारम्भ ही वास्तविक स्थिति को छोड़ कर होता है, और जो तर्क पेश किये जाते हैं, उन पर उनकी योग्यता के आधार पर नहीं, वरन् रूसी विचार-धारा से उनका मेल होने पर ही चर्चा की जा सकती है। और यदि वे मेल नहीं खाते, तो उस रूप में उन्हें पेश किया जाये, जिससे रूसी विचारधारा से उनका मेल बैठ जाये। किसी छोटे बालक के हाथ में कोई चीज़ पड़ जाने पर वह जैसे उसे एक ही दृष्टि से देखता है—"मैं इसे खा सकूँगा या नहीं", उपर्युक्त दृष्टिकोण भी ठीक वैसा ही है। मान लीजिए "ट्राट्स्की ने लाल सेना का निर्माण किया" यह बात आपने कही, तो इसमें ऐतिहासिक सत्य होने पर भी इसे त्याज्य माना जायेगा और उसके लिए आपको 'उचित' दंड भी सहना होगा। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यह प्रभावशाली तत्त्व बाहरी वाद-विवाद में स्पष्ट हो। सुरक्षा की यांत्रिकता बहुधा तेल दिये यंत्रों के समान सहज रूप में काम करती है। अगर किसी संकट की आशंका हो, तो यह स्वयं प्रश्नों और तर्कों का सहारा लेती है। इस प्रकार बहुधा ऐसा होता है कि विरोधी गर्म हो उठता है; परन्तु रूस का समर्थक किसी धर्मोपदेशक या पागल के समान अपना दिमाग स्थिर रखता है और मुस्कराता रहता है; ऐसा दिखाता है कि वह दूसरों से श्रेष्ठ है।

विरोधी की राह में और भी कई कठिनाइयाँ हैं। प्रतिक्रियावादी उसके मन का समर्थन करते हैं; उनके मुख पर की विजय की मुस्कान मानो कहती है—"मैंने तुम्हें शुरू से कहा था।" इस समर्थन और अवांछित मित्रों से वह घबड़ा जाता है। अपने सभी गलत तर्कों के साथ प्रतिक्रियावादी सदा सही प्रमाणित किये गये; और अपने मन में वह उस समर्थन के साथ है, जो सही कारणों को लेकर भी गलत करार दिया गया है। पर उसी वक्त अशुद्ध समर्थन से वह उत्तेजित हो उठता है, क्योंकि अपने अतीत की भूलों पर किसी और को दृढ़तापूर्वक चिपके देखकर मनुष्य जितना अधीर हो उठता है, उतना किसी और चीज़ से नहीं। कुछ मामलों में यह उत्तेजना घृणा का रूप ले लेती है—ट्राट्स्की के उस प्रेमी के समान जो विश्वासघात का शिकार हुआ है, जो सबसे अपनी प्रेमिका के विश्वासघातिनी होने की बात कहता है और फिर भी इसके प्रत्येक नवीन प्रमाण पर क्रुद्ध हो उठता है। व्यभिचारपूर्ण अशांति का और भ्रम के अभाव का एक समान ही असंतुलित प्रभाव होता है।

अन्त में दूसरे छोर की ओर झूल जाने की आशंका है। लावाल और डोरियट के उदाहरण इसी के प्रति सचेत करते हैं। दोनों एक समय फ्रेंच

साम्यवादी दल के सदस्य थे। आदर्शवादियों के लम्बे जुलूस के पीछे की चिकनी ढलान पर नीचे फिसल जाने के डर ने, उन्हें गद्दार बना दिया। किसी ढलान के बीच में लटके रहना बड़ा कठिन कार्य है और इसमें किसी का साथ भी नहीं मिलता।

८

रूसी कपोल कल्पना के चारों तरफ जो जादुई जाल है, उसका प्रभाव केवल साम्यवादी दल के सदस्यों पर ही होता हो, सो बात नहीं; परन्तु समाजवादी, उदारमतवादी, प्रगतिशील, बुद्धिवादी, सुसंस्कृत पादरी इन सब पर भी थोड़ा-बहुत होता ही है। दो महायुद्धों के बीच के बीस बरसों में वामपंथी दल को सतत पराभव सहना पड़ा, विश्वासघात का शिकार होना पड़ा। एक के बाद एक राष्ट्र बेकारी, मुद्रास्फीति तथा फासिज्म के तूफान में बहने लगे। तब रूस ही एक ऐसा राष्ट्र था, जो उनके लिए जी भर सकता था। निराशा के समुद्र में वही एक आशा-द्वीप था। शान्त और भ्रान्त लोगों की आशा रूस पर ही टिकी थी। रूस से सहानुभूति रखने वालों का रुख ऊपरी तौर पर आलोचनापूर्ण था; लेकिन भीतर से वे सब रूसी कपोल-कल्पना से प्रभावित थे। वे मुँह से रूस के प्रति चाहे जो कुछ कह देते, परन्तु उसके प्रति उनकी श्रद्धा या आशा में रंचमात्र भी कमी नहीं आयी थी। उनके मन में यह एक अटल और अचल विश्वास था—"कुछ भी हो, एकमात्र रूस में ही सचाई है, वही अन्तिम है, भविष्य का निर्देशक है।" "सट्टाबाजार के भयभीत दलाल" और बुद्धिमान व्यापारी, दोनों यह मानते हैं कि "व्यापारिक मन्दी में भी कुछ भलाई है"—मृत्यु-शय्या पर पड़े हुये किसी नास्तिक की अन्तिम धर्म-विधि के समान।

अस्पष्ट तथा रूखा होने के बावजूद भी यह विश्वास रूढ़िवादियों के सिद्धान्त के समान अज्ञात अवस्था में तथा ईर्ष्यात्मक ढंग से रक्षित है। स्टालिन की नीति का 'न्यू स्टेट्समैन' और 'नेशन' ने जो अर्थ प्रस्तुत किया है, वह किसी सरकारी क्षमा-प्रार्थी की जैसे सारी सरलता प्रकट करता है, यद्यपि उसमें अधिक सुन्दर तार्किक वक्रता भी है—अव्यावहारिक कैथोलिक के समक्ष उदार विचार वाले ईश्वरवादी की प्रत्यक्ष श्रेष्ठता से सहानुभूति दिखाने वाला प्रसन्न होता है, किन्तु उसके विश्वास की जड़ें उतनी ही विवेकहीन हैं, जितनी दूसरों की।

समर्थक की सुरक्षाओं को, उसकी चेतना में इन अविवेकी तत्त्वों को लाकर, तोड़ने का प्रयास बिल्कुल व्यर्थ है। सभी दृढ़, पर दबे विश्वासों के साथ इस कार्य के विरुद्ध अचेतन दबाव, जो अपने आधार तत्त्वों के लिए ही आशंका उत्पन्न करता है—असाधारण है। 'वर्ग संघर्ष से परिवर्तन' के रूप में 'बुर्जुआ मनोविज्ञान' की साम्यवादी अस्वीकृति में यह दबाव स्वयं विवेकपूर्ण हो जाता है। रूस में मनोविश्लेषण पर सरकारी प्रतिबंध है। कम्यूनिस्ट मनोविज्ञान 'वर्गचेतनता' की कल्पित धारणा पर आधारित है! इसका कार्य माना जाता है—उत्पादन की प्रक्रिया में व्यक्ति की स्थिति को प्रतिबिम्बित करना, जिसे किसी मनोविश्लेषक ने कभी किसी जीवित प्राणी पर नहीं आजमाया। इस प्रकार एक स्वतःसिद्ध विश्वास का बचाव, उसके विश्लेषण के साधनों की उसी प्रकार स्वतःसिद्ध अस्वीकृति से किया जाता है—एक ऐसी प्रक्रिया, जो मानस-रोग-शास्त्री और गिरिजाघर के इतिहास-लेखक—दोनों के लिये परिचित है।

गिरजाघर के सम्बन्ध में विरक्ति की यह प्रक्रिया दो तत्त्वों पर निर्भर है। सत्य और कपोल-कल्पना के बीच हमेशा बढ़ने वाली दूरी से उत्पन्न क्रमिक रगड़ और यथार्थता के साथ और उत्तम एकरूपता में समान भावनाप्रधान शक्ति के नवीन धर्म का प्रादुर्भाव।

रूसी कपोल-कल्पना और यथार्थता

१

पिछले निबंध में रूसी कपोल-कल्पना की मनोवैज्ञानिक मीमांसा की गयी है। प्रस्तुत निबंध में वहाँ की सत्यस्थिति का विवेचन करना है। इस निबंध का हेतु इस बात की खोज करना है कि वहाँ की समाजवादी रचना वास्तव में समाजवादी है भी या नहीं। ऐसी खोज को विघ्न के बादलों से गुजरना है। ध्रुव-यात्रा, नक्षत्रों की ओर उड़ान और मास्को में भूमिगत कार्यों के प्रचार के ऐसे नगाड़े बजते हैं कि सुननेवाला और कुछ सुन ही नहीं पाता। लेकिन उसका समाजवाद से क्या सम्बन्ध? फिर भी उसका समाजवाद से सम्बन्ध बताया जाता है। इन दिनों प्रचार के जो नगाड़े बजे, उनका सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है।

१—रूसी जनता ने, विशेषकर स्तालिनग्राड के योद्धाओं ने, जर्मनी को पराजित किया। क्योंकि रूसी जानते थे कि वे किसलिए लड़ रहे हैं; रूस की विजय स्टालिन की सर्वोत्कृष्ट राज्य-व्यवस्था का प्रमाण ही थी, जो अपने आलोचकों को झूठा सिद्ध करती है।

यदि गंभीरतापूर्वक विचार करने से इस प्रकार का तर्क अत्यधिक बनावटी लगता है, तो भीतरी सुरक्षायें काम में लायी जाती हैं, जैसे:—

२—सत्य घटना को अस्वीकार करना या उसे छुपा देना, जो कालांतर में सत्य मान ली जाती है। उदाहरणार्थ १९३२-३३ का अकाल।

३—सत्य का गुप्त और प्रकट स्वरूप। रूस की जो घोषणा पश्चिमी लोगों को पागलपन लगती, उसके समर्थन में यह कहा जाता कि यह केवल रूसी लोगों के लिए है। और यह कारण दिया जाता कि रूसी जनता पिछड़ी हुई है, उदाहरणार्थ, जिनोविच ब्रिटिश गुप्तचर विभाग का दूत था।

४—तत्त्वज्ञान और व्यवहार का अन्तर। रूसी राज्य-व्यवस्था की प्रत्येक प्रतिगामी योजना का "सामयिक योजना" कह कर समर्थन किया जाता है। उदाहरणार्थ—हड़तालियों के लिए मृत्यु का दण्ड।

५—साध्य से साधन के गुण-दोष निश्चित होते हैं। पूँजीवादी राष्ट्रों द्वारा जिन साधनों का उपयोग करने पर तिरस्कार किया जाता है, उन्हीं का रूसी राज्य-

व्यवस्था में आदर किया जाता है—उदाहरण के लिए—स्टालिन-हिटलर समझौता।

६—सिद्धान्त का अचल होना। रूस की तानाशाही में की गयी भूलें और अपराध रूसी सरकार को कभी-कभी मान्य करना ही पड़ता है। तब इसे क्षणिक लक्षण कह कर बात को सँभाला जाता है कि उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण और लाभ के प्रयत्नों के उन्मूलन के अचल सिद्धान्त के कारण रूसी सरकार की लगातार प्रगति हो रही है; और चूँकि यह समाजवादी राष्ट्र है, इसी लिये यह संसार के वामपथियों की विशिष्ट अभिरुचि का विषय है।

रूस के प्रचारक उक्त छः तर्कों में से किसी-न-किसी तर्क द्वारा रूस के प्रत्येक कार्य का समर्थन करते हैं। अब हमें विस्तार से इनका परीक्षण करना है।

२

युद्ध-कालीन मनोविज्ञान की विशेषताओं के कारण पहला कथन मूल तर्क की दृष्टि से निर्बल होने पर भी भावना की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली पाया गया। राजनीतिक दृष्टि से अज्ञानी लोगों पर ही इसका प्रभाव पड़ा हो, सो बात नहीं। रूसी लाल सेना की प्रचण्ड विजय से यूरोप की जनता में अदम्य उत्साह उभर गया और रूस के आलोचकों के मुँह बन्द हो गये।

रूसी सैनिकों की योग्यता और उनके रण-कौशल को साधारण कोटि का मानना भूल है। रूस द्वारा जर्मन सेना की भारी पराजय एक ऐतिहासिक घटना है, कोई चमत्कार नहीं। रूस की जनसंख्या जर्मनी से दुगुनी है। रूस की औद्योगिक समृद्धि जर्मनी के टक्कर की है। रूस का विस्तृत भूभाग और विलक्षण ठण्डी हवा किसी भी आक्रमण को रोकने में रूस की सहायक है। यह उसकी विशेषता है और ऐसा कोई कारण नजर नहीं आता कि यदि ब्रिटिश साम्राज्य या अमरीका युद्ध में भाग न लेते, तो जर्मनी रूस को पराजित कर देता।

रूसी सैनिकों की सहनशीलता और भाग्यवादिता प्रसिद्ध है। १८१५ में उन्होंने नेपोलियन को हराया। १९१४ में रूस की औद्योगिक क्षमता जर्मनी की औद्योगिक क्षमता के पाँचवे हिस्से से भी कम थी, ब्रुसिलाव की विख्यात लड़ाई में रूस की पहली सेना के पास सिर्फ हाथ में बन्दूक और पाँव में जूते थे, दूसरी टुकड़ी ने जब हमला किया, तो उसके पास केवल जूते ही थे और तीसरी

टुकड़ी के पास न बन्दूक थे, न जूते। अपने मृत सैनिकों के जूतों और बन्दूकों का उपयोग उन्होंने किया। फिर भी वे चार साल तक लड़ते रहे; पहले जार के लिए, फिर करेन्सकी के लिए और अन्त में बाल्शेविकों के लिए। रूस में भी जर्मनी की तरह ही सेना और साधन की समाप्ति पर ही क्रान्ति का उदय हुआ।

रूसी सरकार का प्रचार यह प्रकट करता है कि १९४४ में रूसी सेना ने जो विजय प्राप्त की, वह स्तालिन के तत्त्वज्ञान और समाज-रचना की श्रेष्ठता के कारण की। यदि यह सत्य है, तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि १८१५ में रूस ने नेपोलियन पर जो विजय प्राप्त की थी, वह जार राज्यव्यवस्था की श्रेष्ठता के कारण थी और फ्रेंच की राज्य-क्रान्ति के तत्त्वज्ञान की अपेक्षा रूस की दास-वृत्ति श्रेष्ठ है। यही बात प्रत्येक देश पर लागू हो सकती है, जिसने इस युद्ध में भाग लिया है। अपने झंडे के लिए प्राणोत्सर्ग करनेवाले जापानी सैनिकों की राष्ट्र-निष्ठा की समता कोई सेना नहीं कर सकती। सालामाब की रक्षा वे तब तक करते रहे, जब तक उनमें से एक भी सैनिक जीवित रहा। अधिकतर योद्धा स्तालिनग्राड के वीरों की तरह किसान-मजदूर ही थे, लेकिन यह कौन मानेगा कि जापान के मिकोडा का शासन धरती पर सबसे उत्कृष्ट था? इससे कोई इनकार नहीं करता कि जर्मन सेना भी बड़ी वीरता से लड़ी, लेकिन यह कौन कहेगा कि नाजीवाद अच्छा है और गेस्टापो की क्रूरता की आलोचना करने वाले उसके निंदक हैं? चीनी जनता लगभग दस साल तक लगातार, एकाकी, अपने से बढ़े-चढ़े आक्रमणकारी जापान से लड़ रही थी, लेकिन क्या इसीसे पश्चिमी मजदूर-वर्ग को चीनी समाज-प्रणाली का अनुसरण करना चाहिए?

इस विचारधारा के तर्क-दोष स्पष्ट हैं; फिर भी रूस की कपोल-कल्पना की लोगों की भावना पर ऐसा जबरदस्त प्रभाव पड़ा है कि समझदार लोग भी आँख मूँद कर कहते हैं—"रूसी लड़ने की कला के जानकार हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि वे किसलिए लड़ रहे हैं।" लेकिन गुमराह जर्मन और जापानी सैनिक यह न मालूम होने पर भी वे किस लिए लड़ रहे हैं, डटकर लड़ते हैं। अगर जर्मन सैनिकों की नैतिक अवस्था से नाजीवाद का औचित्य सिद्ध नहीं होता, तब रूसी सैनिकों की नैतिक अवस्था से स्तालिनवाद का औचित्य भी सिद्ध नही होता। हाँ, यदि हम पहले से ही मान लें कि "स्तालिनवाद ही अच्छा और नाजीवाद बुरा है" तो बात दूसरी है। लेकिन इसका अर्थ होगा,

निर्णय के पूर्व ही कोई धारणा बना लेना। सभी ऐतिहासिक साक्ष्यों से पता चलता है कि नैतिक शक्ति कई कारणों पर अवलम्बित है, जिसमें युद्ध का ध्येय द्वितीय श्रेणी का कारण है। युद्ध चाहे सभ्य समाज का रहा हो, चाहे असभ्यों का अथवा क्रान्तिकारियों का, लोग समान उत्साह से लड़े हैं, और लड़ते-लड़ते मरे हैं। कभी-कभी तो युद्ध के कारणों का व्यक्तिगत हित से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता, उल्टा विरोध ही होता है। युद्ध का हेतु माध्यमिक सम्बन्धों की शृंखला पर निर्भर है। यह सम्बन्ध भावप्रवण परिस्थिति से उत्पन्न होते हैं। एक ऐसी गुंथी शृंखला, जिससे लोग बहुधा अपनी गुलामी कायम रखने के लिए ही लड़ेंगे। भावना के बल और युद्ध के ध्येयवाद में प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ना तार्किक दृष्टि से सदैव त्रुटिपूर्ण है।

अत्यन्त बलवती भावनाओं में से एक भावना है विदेशियों के प्रति महान् घृणा। प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन देशाभिमान के काल तक इसके रूप दीख पड़ते हैं। वार्सा के समाजवादी मजदूर १९२० में रूस की क्रान्तिकारी सेना के विरुद्ध उठ खड़े हुए और फिलिस्तीन के अरबों ने यहूदियों के प्रवेश के विरुद्ध शस्त्र उठाये। इससे उन्हें अत्यधिक आर्थिक लाभ भी हुआ।

वर्तमान महायुद्ध में जहाँ-जहाँ राष्ट्रवाद और सामाजिक ध्येयवाद का संघर्ष हुआ, वहाँ राष्ट्रवाद ही विजयी हुआ। यूनान के फासिस्ट, हमला करनेवाले इटालियन फासिस्टों से लड़े। लोकशाही राष्ट्र इंग्लैण्ड ने फासिस्ट स्पेन को काबू में किया। जापानी सामंतशाही ने रूसी बोल्शेविज्म में आदर्शात्मक एक-रूपता देखी। इसका यही अर्थ है कि राष्ट्र का राजनीतिक तत्त्वज्ञान शून्य रहने पर भी युद्ध-पिपासु राष्ट्रों का विभाजन आज की तरह ही हुआ होगा। उदात्त तत्त्वज्ञान के खोखले नगाड़े चाहे जितने बजा करें, पर सत्य यह है कि युद्ध राष्ट्रों के बीच है, जो केवल राष्ट्रीय हित के लिए अथवा शत्रु से सुरक्षा के लिए या नये राज्य जीतने के लिए चल रहा है और उसमें देशाभिमान तथा राष्ट्र के प्रति भावनात्मक उत्साह ओत-प्रोत है।

वामपंथी दल की दृष्टि से यह महायुद्ध बलशाली फासिस्ट सरकार के विरुद्ध था। इसलिए लड़ने योग्य था, परन्तु मित्र राष्ट्र और राजनीतिक दृष्टि से उदासीन बहुसंख्यक जनता ने इस युद्ध के तात्त्विक कारणों की परवाह नहीं की। उन्होंने परवाह की केवल अपने राष्ट्र को बचाने की और पिछली सदी के परम्परागत मूल्यों की सुरक्षा की।

"यह विवेचन पूँजीवादी राष्ट्रों पर लागू होता है, रूस पर नहीं"—कम्यूनिस्टों

का तर्क इसी मान्यता पर आधारित है। लेकिन इस भेद का आधार क्या है? रूसी सैनिक विश्व-कल्याण की घोषणा भले ही करते हों; किन्तु इस घोषणा के मूल में भावना-शक्ति न होकर अपने राष्ट्र से राक्षसी परचक्र दूर करने की इच्छा ही थी। बाद में रूस के सरकारी प्रचार में से यह ध्येयवाद निकल गया और क्रान्तिपूर्व के परम्परागत प्रतीक स्वीकृत किये गये। विश्व-एकता का गीत लुप्त हो गया और उसके स्थान पर राष्ट्रगीत गाये जाने लगे। सेना में क्रान्तिनिष्ठ शपथ की जगह नयी राष्ट्रीय शपथ दिलायी जाने लगी। सेना में सारी समानता रद्द कर दी गयी। क्रान्तिकाल का अनुशासन गायब हो गया और उसके स्थान पर तानाशाही शासन प्रारम्भ हुआ। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के नेताओं से युद्ध करने वाले पुराने जार सेनापतियों को 'राष्ट्रीय आदर्श' की उपाधि से पुनः विभूषित किया गया। पुराने गिर्जाघरों का भी पुनर्जन्म हुआ। ईश्वर के आशीर्वाद की खैरात-सी बँटने लगी। इन उतार-चढ़ावों के सम्बन्ध में हम बाद में विस्तार से विचार करेंगे।

इस प्रकार प्रथम तर्क का यह निर्णय हुआ कि किसी भी राष्ट्र की सैनिक शक्ति के आधार पर यह निश्चय नहीं होता कि उस राष्ट्र का शासन उत्तम है या निकृष्ट। यह शक्ति मुख्यतः परम्परागत भावना से निर्मित होती है और रूस ने भी इस परम्परा का पोषक ध्येय ही अपनाया। अन्य कट्टर राष्ट्रों से इसे अलग प्रमाणित करने वाले जो नारे थे, रूस ने उन्हें हटा दिया और इससे अगर इस तर्क को कुछ प्रमाणित करना है, तो यह इतना ही कि जो रूसी सैनिक सदा 'भगवान्, देश और सरकार' के नाम पर बड़ी योग्यता से लड़े, आज भी वे 'भगवान्, देश और सरकार' के नाम पर उसी योग्यता से लड़ रहे हैं।

यह विवेचन रूस के समाजवादी राष्ट्र होने की सम्भावना का बहिष्कार नहीं करता; किन्तु इसे अधिक मान्य तर्कों द्वारा सिद्ध करता है। रूस ने अकेले जिस प्रकार युद्ध का सामना किया, उसके आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि वह समाजवादी राष्ट्र है, तो उसने अपना स्वरूप, अपने सैनिकों से, नागरिकों से और बाह्य जगत से बड़ी सावधानी से छिपाकर रखा।

३

रूसी यथार्थता के तथ्यों को जानबूझ कर अथवा अनजाने भी अस्वीकार किया जा सकता है। अगर यह जानबूझ कर है, तो यह दूसरे शीर्षक के

अन्तर्गत आता है, किन्तु अधिकांशतः यह अनजाने रहता है, जो अज्ञानता पर आधारित है।

रूसी कपोल-कल्पना के समर्थक ही रूसी यथार्थता को न जाने, यह आश्चर्यजनक है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक दस व्यक्तियों में से नौ व्यक्ति यह सुनकर स्तम्भित रह जाते हैं कि रूस में 'मजदूरों को हड़ताल' करने का अधिकार रद्द कर दिया गया है। और जो कोई हड़ताल करेगा अथवा हड़ताल के लिए उकसायेगा, उसके लिए मृत्युदण्ड निश्चित किया गया है। वहाँ के मतदाताओं के सम्मुख सरकार द्वारा चुने हुये उम्मीदवारों की एक ही सूची रखी जाती है और उसके लिए केवल 'हाँ' या 'ना' करने का अधिकार मतदाता को है। रूसी वास्तविकता के बारे में इतने अज्ञान का यही कारण है कि वहाँ के सही समाचार मिलने ही दुष्कर हो गये हैं। और दूसरा कारण है, रूस पर टिकी आशा के भग्न होने का सुप्त भय। लोग रूस को जितना ही अधिक महत्त्व देते हैं, वास्तविक तथ्य जानकर वे उतना ही अप्रसन्न प्रतीत होते हैं। आँख मूँदकर विश्वास रखने के लिए सत्य की क्या आवश्यकता? हर कोई बाइबिल पढ़ता है; लेकिन उसमें उल्लेखनीय बातों की सत्यासत्यता कौन परखता है?

वामपंथी दल अनजाने ही धोखा खा जाने के लिए तत्पर हो गया, तभी रूस का प्रचार सफलता पा सका, जो इतिहास में अद्वितीय है। यह सफलता मुख्यतः दो ढंगों पर आधारित थी—(अ) तथ्य को दबा देने का अप्रत्यक्ष ढंग (ब) प्रचार का प्रत्यक्ष ढंग। हम इन दोनों पर पृथक-पृथक विचार करेंगे।

तथ्यों का छिपाव

रूस में विदेशी समाचारपत्रों पर प्रतिबन्ध था और आज भी है। जर्मनी में नाजीवाद जो कभी नहीं कर सका, वही—समाचारपत्रों पर नियंत्रण—रूस में आज भी जारी है। मास्को में और रूस के प्रत्येक शहर में सवेरे दो समाचार-पत्र निकलते हैं। एक सरकार का मुख्य पत्र, और दूसरा दल का मुख्य पत्र। समूचे देश में हर रोज सभी सरकारी पत्रों में एक ही सम्पादकीय लेख प्रकाशित होता है। मास्को के 'इस्वेस्तिया' पत्र का यह अग्रलेख तार या आकाश-वाणी से अन्य पत्रों को भेजा जाता है—वैसे ही मास्को के 'प्रवदा' पत्र का अग्रलेख समूचे देश के दलीय-पत्रों में प्रकाशित होता है। इसी प्रकार से, स्वदेश और विदेश के समाचार सरकार की 'तास एजेन्सी' द्वार प्रसारित

किये जाते हैं। स्थानीय समाचार भी आते हैं; पर वे भी सरकारी अधिकारी द्वारा प्राप्त।

रूस-जैसे विशाल राष्ट्र में समाचार-संस्था का ऐसा केन्द्रीयकरण और नियंत्रण हो जाने से वहाँ की आम जनता को विदेशी घटनाओं का ज्ञान तो होता ही नहीं—परन्तु अपने पड़ोस की घटना भी मालूम नहीं रहती। इस व्यवस्था का एक उदाहरण देखिए।

यूक्रेन की राजधानी है खारकोव। मैं वहाँ १९३२-३३ के जाड़े में रहा था। उस समय जाड़े का भयंकर कोप था। उस समय सामूहिक खेती का प्रथम प्रयोग आरम्भ हुआ था; इसलिये किसानों ने अपने मवेशी मार डाले थे और अपनी पैदावार या तो जला दी थी या छिपा दी थी। उस समय वे भूख या ज्वर से मरने लगे थे। अनुमान है कि केवल यूक्रेन प्रान्त में ही बीस लाख लोग काल-कवलित हुए थे। खेतों से होकर यात्रा करना कष्टकारक था। किसान, जिनके हाथ-पाँव सूज गये थे, भीख माँगने के लिए स्टेशन पर पंक्तिबद्ध खड़े थे। स्त्रियाँ अपने भद्दे बालकों को खिड़की तक ऊँचा उठाकर भीख माँग रही थीं, उन बालकों के काफी बड़े सिर थर-थर कांप रहे थे, उनके हाथ-पैर सूखकर लकड़ी बन गये थे और उनके पेट फूल गये थे।

रोटी का एक टुकड़ा देने पर उसके बदले में कढ़े हुए रूमाल, राष्ट्रीय पोशाक और बिस्तरे पर बिछाने की चादरें मिल सकती थीं। एक जोड़ा जूता अथवा मोज़ा देकर ही कोई भी विदेशी, दल से सम्बन्धित युवतियों के अलावा, किसी भी युवती के साथ रात गुजार सकता था। खारकोव में स्थित होटल के मेरे कमरे की खिड़की से मुझे दिन भर अंतिम संस्कार के लिए ले जाये जाने वाले मृतकों की पंक्ति दिखायी देती थी। शहर में बिजली बंद हो गयी थी, इसलिए कहीं उजाला न था। ट्राम दिन में केवल एक घंटा चलती थी और वह भी केवल मजदूरों को कारखाने तक ले जाने और वहाँ से ले आने के लिए। ईंधन या पेट्रोल का भी अभाव था और ठण्ड तो ऐसी थी कि वहाँ के लोगों के लिए भी असह्य थी। तापमान शून्य से ३० अंश नीचे था। जीवन अचल-स्थिर-सा प्रतीत होता था और सारे कारबार के बन्द होने की नौबत आ गयी थी।

इन परिस्थितियों ने पुराने बाल्शेविक सैनिकों को स्तालिन के विरुद्ध खड़े होने के लिए बाध्य किया। वे आधे मन से छुप-छुप कर षड्यंत्र रचने लगे। बाद में स्तालिन ने जो 'शुद्धीकरण' आरम्भ किया, तो ये लोग उसकी प्रमुख

पृष्ठभूमि बने। १९३२-३३ के इस अनर्थ को आज रूसी लोग भी न्यूनाधिक रूप में मानते हैं। लेकिन उस समय भीषण परिस्थिति पर तनिक भी प्रकाश डालने की छूट समाचारपत्रों को न थी। रोज सुबह जब मैं खारकोव का समाचार-पत्र 'कम्यूनिस्ट' पढ़ता, तो उसमें इन्हीं समाचारों का बाहुल्य मिलता कि सरकारी पंचवर्षीय योजना को अपेक्षा से अधिक सफलता कैसे मिली। उसी प्रकार कारखानों में उत्पादन-वृद्धि, मजदूरों को इनाम और नये तथा बड़े उद्योग-धंधों से सम्बन्धित समाचारों की भरमार होती थी। उनमें जो चित्र छपते थे, वे सदैव हाथ में प्रतीक-चिह्न लेकर मुक्त हास्य करने वाले युवकों के होते या उजबेकिस्तान के किसी हँसते हुये वृद्ध के, जो वर्णमाला को पढ़ने की कोशिश करता हुआ दिखाया जाता था। स्थानीय अकाल या रोग-प्रसार तथा खेती के संहार के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं छपता था। वहाँ के समाचार-पत्र में एक बार भी नहीं छपा कि खारकोव में बिजली बन्द है। इससे पाठक को लगता कि वह किसी कल्पनामय रम्य स्वप्नसृष्टि में विचर रहा है। उसे लगता कि जिनसे हमारे दैनिक जीवन का तिलमात्र सम्बन्ध नहीं, ऐसी किसी अनोखी दुनिया की बात ये पत्र प्रकाशित कर रहे हैं। जो स्थिति समाचारपत्र की थी, वही आकाशवाणी की।

इस सब का परिणाम यह हुआ कि मास्को के सर्वसाधारण लोगों को इस बात की कल्पना भी नहीं थी कि खारकोव में क्या हो रहा है और जहाँ जाने के लिए रेल से बारह दिन यात्रा करनी पड़े—ताशकेन्ट, आर्चएंजल, या व्लाडी-व्होस्टक स्थानों के बारे में भी वे ऐसे ही अनभिज्ञ थे। रेल की यात्रा खासकर सरकारी अधिकारियों के लिए सुरक्षित रहती, और वे इधर-उधर की बातें नहीं करते थे। उस विशाल देश पर स्तब्धता का काला आवरण पड़ा हुआ था। इने गिने समर्थकों के सिवा किसी के लिए भी परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान होना असम्भव था।

दुनिया से रूस का सम्बन्ध तोड़नेवाली स्तब्धता की एक और खाई थी। विदेशी सम्वाददाता और प्रतिनिधिमण्डलों को मास्को में ही एकत्र किया जाता और रूस की उस राजधानी में अनाज और ईंधन से लेकर औद्योगिक उत्पादन, दाँत के ब्रश, लिपस्टिक और शौक की सभी सामग्री भरपूर मिलती। देश के बाकी हिस्सों को इन चीजों की कल्पना भी नहीं रहती। मास्को का जीवन रूस के जीवन का प्रतीक कदापि नहीं माना जा सकता था, पर जब मास्को के सर्वसाधारण को ही अपने देश के अन्य प्रदेश में होने वाली हलचल

का ज्ञान नहीं, तो फिर विदेश से आये अतिथियों को इसकी कुछ जानकारी न हो, तो क्या आश्चर्य। सरकारी अधिकारी द्वारा आयोजित रूप में उनका रहना होता था। वह अधिकारी ही उनका मार्ग-दर्शक, समाचार-दाता, ड्राइवर और दोस्त, सब कुछ होता था। उनके सम्बन्ध केवल सरकारी अधिकारियों से ही होते थे। रूस का नागरिक यदि विदेशी अतिथि से कोई सम्बन्ध रखे, तो उस पर गुप्तचर होने का या देशद्रोही होने का आरोप लगाये जाने का भय रहता था।

पहले तो वास्तविक तथ्यों की जानकारी प्राप्त करना ही कठिन था, किन्तु यदि किसी कुशल विदेशी सम्वाददाता ने वह जानकारी हासिल कर भी ली, तो उसे रूस से बाहर भेजना बड़ा कठिन था। रूसी सेन्सर द्वारा अस्वीकृत कोई समाचार बाहर भेजने का अर्थ था एक खतरा मोल लेना। ऐसे व्यक्ति को देश-निकाले की सज़ा दी जाती थी, तब भला ऐसा दण्ड कौन सम्वाददाता या पत्र-संचालक प्रसंग-विशेष के बिना ग्रहण करेगा? सम्वाददाता सत्य से समझौता कर के अपना कार्य करते, वे असत्य समाचार नहीं भेजते थे। केवल सरकारी समाचारों में ही कुछ जोड़कर अपने विचार सांकेतिक रूप में लिपिबद्ध कर के वे उसे भेज देते थे, जिन पर किसी की नज़र नहीं पड़ती थी। उसे अभ्यस्त और जानकार पाठक समझ लेते थे। यह सारा प्रयत्न था रूस की वास्तविक स्थिति का चित्र उपस्थित करने के लिये, जो वास्तव में अर्द्धसत्य और क्रमबद्ध निष्कासन पर आधारित था। मैं तटस्थ और प्रगतिशील पत्रों की बात कर रहा हूँ। अगर प्रतिक्रियावादी प्रेस के कम्युनिस्ट आतंकित आन्दोलन का वामपंथियों पर कोई प्रभाव था, तो सोवियत संघ के प्रति उनकी वफादारी बढ़ाने के लिए ही। यही वह आधार था, जिस पर रूस के प्रत्यक्ष प्रचार की इमारत खड़ी हो सकी।

प्रत्यक्ष प्रचार

विदेश में प्रचार करने के लिए रूस परस्पर-पोषक दो युक्तियों का उपयोग करता है। पहली युक्ति है मानवी मूल्यों को एक तरफ रखकर आँकड़ों की इमारत खड़ी करना, और दूसरी युक्ति है किसी साधारण घटना को महत्त्व देकर सारे वातावरण में उसे व्याप्त कर देना।

आँकड़ों के इस चमत्कार से अमरीकियों के मन जीते जाते रहे हैं। उत्पादन, शिक्षा, भवन-निर्माण, आवागमन, वेतनवृद्धि आदि के सम्बन्ध में आँकड़ों का

ऐसा बाँध बाँधा जाता है कि उसके शोरगुल और कुहासे में किसी रूसी के दैनिक का सही रूप बिल्कुल छिप जाता है।

इससे कौन इनकार करेगा कि रूस में औद्योगिक क्रान्ति हुई। वैसी क्रान्ति १८ वीं और १९ वीं सदी में इंगलैण्ड, जर्मन और अमरीका तथा जापान में भी हुई। अन्तर इतना ही है कि रूस में पहले मजदूर-क्रान्ति हुई और बाद में औद्योगिक क्रान्ति हुई। इसलिए रूस ऐसा प्रचार कर सकता है कि 'रेल या कारखाने' 'समाजवादी राज्यव्यवस्था' के सुफल हैं। स्वयं लेनिन ने भी पहले यह कहा है कि 'समाजवाद का अर्थ है सोवियत रूस और विद्युतीकरण।' लेनिन के कहने का तात्पर्य यह था कि जिस देश में औद्योगिक उत्कर्ष हुआ है और देहात की पिछड़ी जनता की अपेक्षा शहर के कारखानों का मजदूर-वर्ग अधिक आगे है—ऐसे आधुनिक राष्ट्र में ही समाजवाद स्थापित होना सम्भव है। दूसरे शब्दों में औद्योगीकरण मानो समाजवाद की पहली शर्त है।

स्तालिनशाही प्रचार में इस सत्य का ऐसा विकृत रूप दिया गया है कि कारखाने खड़े करने को ही समाजवाद समझा जाने लगा। नीपर-बाँध, तुर्किस्तान-साइबेरिया-रेलवे, श्वेत समुद्र की नहर या भूमिगत मास्को आदि सुधार यानी "समाजवाद का सार! साध्य!!" कहे जाते हैं। और सारी दुनिया में किसी ने न देखी हो, ऐसी अद्भुत बातों का उनमें आभास कराया जाता है। लेकिन इंगलैण्ड-अमरीका में ऐसी कितनी ही बातें हुई हैं। रूस की बहुसंख्यक जनता का यही विश्वास है कि "सारे संसार में भूगर्भ रेल सिर्फ मास्को में ही है।"

इस प्रचार-समीकरण "समाजवाद, अर्थात् औद्योगीकरण" की माया ऐसी थी कि इसे सिर्फ रूसियों ने ही नहीं, बल्कि दूरस्थ और पुराने औद्योगिक देशों में उनके शुभेच्छुओं ने भी स्वीकार कर लिया। सोवियत कपोल-कल्पना के वशीभूत व्यक्तियों को नीपर-बाँध और भूमिगत कार्य, रूस की अत्यधिक ऊँचाई तक की उड़ान और ध्रुव-यात्राएँ, रूस का वायुयान चालन और बम-वर्षकों का संचालन अपनी प्रेयसी के सिर के बालों के गुच्छे के समान ही प्रिय था। समाजवादी महिला नीपर लुडमिला पालिशेंको के—जिसने समाजवादी निशाने-बाजी से १३७ जर्मनों को गोली मारी थी और समाजवादी यथार्थता के साथ इस प्रक्रिया का विवरण बुर्जुआ समाचारपत्रों को दिया था—भ्रमण में इस सम्प्रदाय की वृद्धि और महत्ता उन्माद की अवस्था में पहुँच गयी।

प्रचार की दूसरी युक्ति, अर्थात् साधारण बात को व्यापक स्वरूप देना अधिक

प्रत्यक्ष है। सुन्दर कारखाने, सुन्दर बालगृह, व्यवस्थित मजदूर-मण्डल और आरोग्य-केन्द्र विदेशी यात्रियों, पत्रकारों और फोटोग्राफरों को दिखाये जाते थे। शायद एक प्रतिशत जनता को इस सुधार से लाभ मिलता रहा होगा, जब कि शेष ९९ प्रतिशत लोगों को इसका ज्ञान तक नहीं रहता था। महायुद्ध से पूर्व किसी भी यात्री को प्रवास का अनुमतिपत्र मिलने पर संसार के किसी भी सुधारवादी देश के अन्तर्भाग तक बे-रोक-टोक भ्रमण करने की छूट थी—फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी में भी। परन्तु रूस में केवल सरकार-मान्य स्थानों को ही विदेशी मनुष्य देख सकता था।

"प्रवासियों को गुमराह करने के लिए ही यह दिखावट की जाती है"—कोई ऐसा आरोप लगाये, तो रूसी अधिकारी क्रुद्ध हो उठते हैं; पर इस आरोप का खण्डन करने का सीधा और सरल मार्ग यह था कि उनके देश में भ्रमण पर जो रोक है, उसे रद्द करके रूस को दुनिया से पुकार-पुकार कर कहना चाहिए था, "आओ और प्रत्यक्ष देखो"; परन्तु रूस को प्रत्येक मनुष्य गुप्तचर या विध्वंसक लगता था, और इसलिए ऐसा होना असम्भव था।

रूस के शुभेच्छुओं ने इसे उचित मान लिया; पर रूस की यह मूर्खता और भी स्पष्ट हो जाती है, जब हमें स्मरण आता है कि सन् १९३३-३६ में जब जर्मनी गुप्त रूप से अपना पुनः शस्त्रीकरण कर रहा था, तब उसके विदेशी गुप्तचरों से आशंकित होने का अधिक उपयुक्त कारण था, किन्तु जर्मनों को मालूम था और साथ ही रूसियों को भी कि सैन्य रहस्य और राजनीतिक जुल्म के कार्य विदेशी पर्यटकों की दृष्टि से छिपाकर रखने में साधारण पुलिस कार्य-वाही ही काफी समर्थ होती है—खासकर तानाशाही राष्ट्र में।

रूस जिस रहस्य को इतनी दक्षता से सँभाल रहा था, वह सैनिक रहस्य नहीं था, वरन् वहाँ के सर्वसाधारण के रहन-सहन को दुनिया की दृष्टि से छिपाकर रखना था। आँकड़ों की आतिशबाजी के पीछे रूस की विशाल भूमि पर फैला हुआ घोर अन्धकार था। प्रचार के बाजों की आवाज में जनता का मुँह बन्द किया जाता था। साइबेरिया या मध्य एशिया आदि स्थानों में रूस से हद पार कराये गये या जबरदस्ती मजदूरी के लिए लाये गये असंख्य लोग किस तरह दैनिक जीवन बिताते हैं—और तो और—मास्को के उपनगरों—काजान और सरातोव, अशरवाबाड और तोमस्क—के निवासी किस तरह का जीवन बिताते हैं, उसकी पश्चिमी पर्यवेक्षकों को कल्पना तक नहीं थी। आकाश की ओर दूरबीन लगाकर बैठे प्रेक्षक को चन्द्रमा का काला भाग कैसे नजर आये?

४

गुप्त और सामान्य सत्य

पूरी एक पीढ़ी तक रूस को बाकी दुनिया से अलग रखा गया। रूस और दुनिया के बीच मानो एक 'नयी चीनी दीवार' खड़ी की गयी। उस दीवार की परछाँई दोनों ओर पड़ती थी। पूँजीवादी विश्व की परिस्थिति का रूसी जनता को ज्ञान न था और रूस की परिस्थिति के विषय में पूँजीवादी विश्व की जनता पूर्ण अनभिज्ञ थी। रूसी जनता के लिए इतनी ही सन्तोष की बात थी कि उसे मालूम था कि पूँजीवादी देशों में जनता का जीवन उनसे भी कष्टमय है। "यदि हम नरक में हैं तो विदेश के लोग रौरव नरक में होंगे"—रूस के लोगों की यह धारणा थी। रूस से बाहर के देशों में मोटे-ताजे लक्ष्मी-पुत्र हर घंटे नये वस्त्र पहनते हैं, मध्यमवर्ग मुस्कराता है और अन्न के के लिए मुहताज मजदूर-वर्ग गुप्त षड्यंत्र रचता है, ये चित्र रूस ने अपने सिनेमा, आकाशवाणी, समाचारपत्र और साहित्य द्वारा प्रस्तुत किये। अपनी जनता को उसने ऐसा आभास दिलाया कि पुराने काल की परियों की रूसी कहानी में वर्णित सभी यातनाओं का भण्डार यह पूँजीवादी विश्व है।

१९३३ में मैंने मास्को में एक चित्र देखा। उसमें यह दिखाया गया था कि एक धार्मिक मठ में एक जर्मन वैज्ञानिक को वहाँ के पुजारी कोड़े लगाते हैं और नाजी के "तूफानी सैनिक" उनकी मदद कर रहे हैं। इस चित्र के साथ रूसी शिक्षाधिकारी की ऐसी प्रस्तावना जुड़ी थी कि यह चित्र खासकर रूसी जनता के लिये बनाया गया है। विदेशों में दिखलाने के लिये रूस ने उत्कृष्ट चित्र तैयार किये थे, यह चित्र उनसे अलग किस्म का था।

ऐसा ही एक और दृश्य मेरी आँखों के सामने स्पष्ट है। यूक्रेन का एक विख्यात लेखक मुझसे सलाह लेने आया। वह लन्दन की पार्श्वभूमि पर एक कहानी लिख रहा था। उसमें उसने यह बताया था कि एक रविवार के सवेरे एक मजदूर रास्ते से जा रहा है और एक पुलिस-कांस्टेबुल उसे धक्के मारकर दूर कर देता है। उसने मुझसे पूछा—"इस समय पुलिस-कांस्टेबुल कैसी भाषा का प्रयोग करेगा? मजदूर को कौन-सी गालियां देगा?"

मैंने उससे पूछा—"लेकिन प्रश्न है—कांस्टेबुल उस मजदूरों को ढकेलेगा ही क्यों?"

"क्यों ? मैंने आपसे कहा न, वह मजदूर है—कीमती कपड़े पहननेवाला धनी व्यक्ति नहीं," यूक्रेन के मेरे उस मित्र ने स्पष्टीकरण किया। उसकी यह प्रामाणिक मान्यता थी कि लन्दन-जैसे पूँजीवादी शहर में रविवार को सवेरे पुलिस मजदूर को रास्ते से हटा देती है और उस लेखक ने रूस के विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। उसकी साहित्यिक कीर्ति बढ़ रही थी। इंगलैण्ड के 'डेली मेल' के पाठक को रूस के 'बाल्शेविज्म' की जितनी कल्पना है, उतनी ही पूँजीवादी राष्ट्र के सम्बन्ध में रूसी जनता की जानकारी है।

रूस के आन्तरिक विरोध में भी यही स्याह-सफेद प्रणाली अपनायी गयी। तानाशाही शासक को यह भ्रम होता है कि वह कभी भूल नहीं करता। वह अपनी जनता को कभी यह नहीं मालूम होने दे सकता कि एक ही शिविर में विविध मतों का मौका भी उत्पन्न हो सकता है। इसीलिए मास्को की अदालत में जिन रूसी नेताओं को अभियोगियों के रूप में उपस्थित किया गया, उन्हें सरकार का प्रामाणिक विरोधी न बता कर काले काम करने वाले नराधम चित्रित किया गया। उन विरोधी नेताओं से यह स्वीकार करवाया गया कि "हमने विदेशों से पैसा लेकर उनके क्रान्तिकारी गुप्तचरों के रूप में शैतानी काम किये।"

उन्होंने यह बयान क्यों दिया ? इसके भी कई कारण है और वे कारण व्यक्ति-व्यक्ति के लिए भिन्न हैं। बुखारिन-जैसे नेता ने, जो अपने ऊपर अभियोग चलानेवालों के दर्शन में ही विश्वास करता था, स्वेच्छा से ऐसा कहा। उसका कहना था—"जब कि राजनैतिक क्षेत्र में मेरी पराजय हो गयी है, तब ऐसा बयान देकर ही मैं अपने दल की अन्तिम सेवा कर सकता हूँ।" लेकिन तानाशाही राज्यव्यवस्था का नियम ही ऐसा है कि "मिला तो सब कुछ, नहीं तो कुछ भी नहीं।" इस निष्ठा के वशीभूत बुखारिन-जैसे को अपने प्राणों की तिलांजलि देनी पड़ी।

दूसरे कुछ ऐसे थे, जो आजीवन लड़कर थक गये थे। उन्हें अपने जीवन की आशा नहीं थी, लेकिन सरकार द्वारा आश्रित परिवार का सत्यानाश न हो, (जैसे कामेनेव द्वारा स्वयं अपने ही पुत्र का दूसरे मुकदमे के दौरान में उल्लेख) इसलिये उन्होंने स्वीकारात्मक बयान दिये।

इसके अतिरिक्त इससे भी निचले स्तर के सरकार-विरोधी थे। वे शारीरिक और मानसिक यातनाओं से बुरी तरह परास्त हो गये थे। उन्हें यह लालच दिया गया था कि इस प्रकार के बयान देने पर उन्हें जीवन-दान दिया जायेगा।

यद्यपि उनकी बुद्धि ने इसे मान्य नहीं किया, लेकिन उनकी आशा उस समय प्रलोभन में फँस गयी। बाद में केवल उत्तेजना फैलाने वाले लोग ही बयान देनेवालों में थे और इस प्रकार का बयान देने से उनका कोई नुकसान नहीं होने वाला था। अलग-अलग कारणवश दिये गये इन बयानों का जो लोग मूल कारण खोजना चाहते हैं, उन्हें यह बयान एक गूढ़ रहस्य लगता है।

रूस में—जिसने इस परम्परा को जन्म दिया—यह प्रचार कर रखा गया था कि राजनैतिक मामले के अपराधी को अपने पर लादे गये अपराध स्वेच्छया तथा मुक्तकंठ से स्वीकार कर लेने चाहिए। एक बार यह परम्परा स्थापित हो जाने पर कौन उससे दूर जायेगा? १९४३ के दिसम्बर में खारकोव के मुकदमे में जर्मन युद्ध-अपराधियों को—जिसमें जर्मन अफसर और प्रधान सैन्याधिकारी भी थे—'दास्तायोवस्की' के पात्रों के समान आचरण करने के लिए बाध्य कर दिया गया था। एक ने स्वेच्छा से बयान दिया था—"रूसी लोगों का सामूहिक वध देखकर मैंने एक सैनिक के हाथ से बन्दूक ले ली और गोद में बच्चा लिए एक माँ को गोली से उड़ा दिया।" खारकोव के इस मामले का चित्र लन्दन में खुले रूप में दिखाया गया। मास्को के मामले हों या खारकोव के—दोनों ही समान रूप से लोगों को बनावटी लगे। अपराधी रटा हुआ-सा बयान देता प्रतीत होता। कभी-कभी सरकारी वकील के संकेत का गलत अर्थ लगाते हुए वह प्रतीत होता और पुनः उसी प्रश्न पर घूमकर आ जाता। इसमें सन्देह नहीं कि जर्मन सैनिकों ने रूस में ऐसे पाशविक अत्याचार किये कि पाश्चात्य लोक इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते, लेकिन अमुक-अमुक अत्याचार विशिष्ट जर्मनों ने ही किये, यह प्रमाणित करने के लिए स्वीकारात्मक बयान के सिवाय दूसरा प्रमाण नहीं था। इसका यह अर्थ नहीं कि नाजीवाद अपने भयानक अपराधों से मुक्त हो जायेगा, लेकिन रूस की न्यायव्यवस्था ही ऐसी विचित्र है कि वह अपने राष्ट्रीय हित की दासी बन गयी है और इसी से सच की सचाई सिद्ध करने में भी असमर्थ बन गयी है।

प्रचार की दासी बनी न्याय-पद्धति में सहज ही मूर्खता के फल दृष्टिगोचर होते हैं। मास्को के मामलों के निर्णय ऐसे हैं कि उनके अनुसार ट्राट्स्की जब रूसी सेनापति के रूप में विदेशी आक्रमकों को परास्त कर रहा था, तब भी वह विदेशियों का दूत था। जो रूसी राज्यक्रान्ति के निर्माता थे, वे सब ब्रिटिश, जर्मन या जापान के सहायक करार दिये गये। उनमें से इस अभियोग से वे ही बचे जो समय पर मर गये थे और बचा स्वयं स्तालिन। उन्होंने गोर्की

को विष पिलाया। जी० पी० यू० के प्रधान को—जो बाद में उनका ही एक सहयोगी प्रमाणित हुआ—विष देने की चेष्टा की, यंत्र-सामग्री का विध्वंस किया। विदेशियों को धीरे-धीरे अपने देश का खाद्यान्न बेचा। राष्ट्रपिता स्तालिन के खून का षड्यंत्र रचा। वे 'चेस्टरटन-लिखित "द 'मैन हू वाज़ थर्सडे" के पात्रों के समान ही व्यवहार कर रहे थे। अगर इन मूर्खताओं और विरोधों को रूस के शुभेच्छु के सामने रखा जाय, तो वह प्रथम तो इसे मानेगा नहीं; किन्तु मास्को के मुकदमों की अधिकृत रिपोर्ट उसे बतायी जाय, तो वह कहेगा—"ये अतिशयोक्तियाँ 'सामान्य' सत्य थीं, जो 'वहाँ की पिछड़ी हुई जनता' को संतुष्ट करने के लिए थीं।" यथार्थ में आवश्यकतानुसार रूसी जनता राजनैतिक दृष्टिकोण से सर्वाधिक प्रगतिशील अथवा पिछड़ी हुई है। इस सामान्य सत्य के बीस वर्षों के जो प्रभाव उन पर पड़े, उन पर हम आगे विचार करेंगे।

५

साध्य और साधन

रूस के विदेशमंत्री मोलोतोव ने अपनी सरकार की सुप्रीम कौंसिल के सम्मुख, ३१ अक्टूबर, १९३९ को भाषण देते समय कहा था—"ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की है कि जर्मनी के साथ होने वाले इस युद्ध में हिटलरशाही का नाश ही उसका हेतु है। इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रिटेन और फ्रान्स ने सैद्धान्तिक कारणों को लेकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ा है। इससे प्राचीन धर्म-युद्ध का स्मरण होता है। लेकिन इस तरह के युद्ध की आवश्यकता ही नहीं है। हिटलरशाही को स्वीकार करना या अस्वीकार करना केवल राजकीय विचारों का प्रश्न है। शक्ति से तत्त्व का नाश नहीं होता। युद्ध से हिटलरशाही का अन्त नहीं होगा। हिटलरशाही के विनाश और लोकशाही के संरक्षणार्थ युद्ध करना अविचार है। इतना ही नहीं, यह एक अपराध भी है।"

इस तरह के अन्य और इस व्याख्यान पर, जिनके सम्बन्ध में १९३९-४१ के रूसी रेकार्ड प्राप्त हैं—सोवियत क्षमाप्रार्थी सर्वज्ञ की-सी मुस्कराहट से कहेगा कि यह सब, समय पाने के लिए एक संकटकालीन साधन था। यह 'क्रान्तिकारी उपायों' में शामिल है।

इस तरह के भाषण करके अथवा स्तालिन-हिटलर-सन्धि करके जर्मनी

को खुश रखने में, कुछ समय काटकर उस बीच रूस को युद्ध के लिए तैयार करना ही रूसी राजनीतिज्ञों का एक दाँव था। ठीक कामिण्टर्न और अर्ल ब्राउडर द्वारा पूँजीवादी के पक्ष में दिये गये वक्तव्यों के विरोध के समान, जो मित्रराष्ट्रों को तब तक खुश रखने के लिए एक चाल थी, जब तक नवीन क्रन्तिकारी लहर के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं तैयार हो जाये। इसी युक्ति से सभी प्रतिगामी साधनों, वक्तव्य या आदेशों का बचाव किया जाता है, चाहे वे रूस में हों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर।

इस तर्क में एक पुरानी समस्या गुंथी हुई है, वह यह कि क्या साध्य साधनों की—सभी साधनों की—उपयुक्तता निश्चित करता है? मैं यहाँ इस प्रश्न के नैतिक पहलू की विवेचना नहीं करूँगा। केवल व्यावहारिक दृष्टि से देखें, तो इस नीति से रूस को लाभ हुआ होगा; लेकिन इसके लिए उसे घूसखोरी, भ्रष्टाचार और यूरोप के मजदूर-वर्ग के मुख्य सर्वोत्कृष्ट तत्त्वों के बलिदान तथा अंतर्राष्ट्रीय आन्दोलनों के विनाश के रूप में मूल्य चुकाना पड़ा है। मास्को के हवाई अड्डे पर रिबेनट्राप का स्वागत करने के लिए स्वस्तिक-अंकित ध्वज फहराना और लाल सेना के बैंड पर नाज़ियों का राष्ट्रगीत बजाना—यदि पूँजीवाद राष्ट्रों ने ऐसा स्वाँग रचा होता, तो इस कार्य को खुलेआम अवसरवादिता का नाम दिया जाता। लेकिन किसान-मजदूरों की पितृभूमि में इन घटनाओं के होने से संसार पर इनका अलग ही परिणाम होता है।

इस प्रतारणा से मिलने वाले लाभ चाहे जितने हों, फिर भी समाजवादी की जो नैतिक क्षति होती है, वह मापी नहीं जा सकती। ऐसे कार्यों के औचित्य पर गणित की भाँति विचार नहीं किया जा सकता; क्योंकि इनके परिणाम के सम्बन्ध में पहले से कुछ नहीं कहा जा सकता। यह बड़ी जल्दी भुला दिया गया है कि १९४० में फ्रान्स के विनाश के लिए केवल पंचमांगियों (देश-द्रोहियों) को ही जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। वहाँ के कम्युनिस्टों ने यह नारा बुलंद किया था—"यह धनिकों का युद्ध है, मजदूरों का इससे कोई प्रयोजन नहीं।" फ्रांसीसी सेना के नैतिक पतन में इस नारे का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। कौन कह सकता है कि इस नीति से रूस को जो लाभ हुआ, उससे युद्ध के उसके पहले मोर्चे की क्षति संतुलित हुई या नहीं? सन् १९३९ से १९४१ तक के रूस के समाचारपत्रों तथा कामिण्टर्न के अन्य सभी साधनों ने हिटलर को प्रसन्न रखने के लिए मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध खुले रूप में प्रचार किया। उस समय की कामिण्टर्न संस्था, केवल दो वर्ष बाद ही

चर्चिल और रुजवेल्ट को प्रसन्न करने के लिए विसर्जित कर दी गयी। जिस प्रकार हम किसी अयोग्य नौकर को काम से निकालकर उसकी जगह दूसरा नौकर रख लेते हैं, विश्व-मजदूर-संस्था के साथ भी वही व्यवहार करना उचित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार संसार के सभी राष्ट्रों के करोड़ों लोगों की प्रतिक्रिया, उनके आदर्शवाद और आत्मत्याग का ब्यौरा, जमा खर्च-प्रणाली के चतुराईपूर्ण ढंग से नहीं दिया जा सकता।

यही नियम रूस पर भी लागू होता है। समाजवाद की स्थापना के लिए जनता को राजनीतिक शिक्षा देना आवश्यक है और पिछड़ी हुई जनता होने के कारण इसका प्रचार अत्यन्त सरल शब्दों में करना चाहिए, यह सब ठीक है, परन्तु आज का प्रचार गत काल के प्रचार के बिल्कुल विरुद्ध हो, तो जनता पर इस विसंगति का क्या परिणाम होगा? स्पष्टतः यही कि ज्वलंत प्रचार में भरी हुई विसंगति देखकर जनता उलझ जाती है। राजनीति को अगम्य समझ कर अपनी बुद्धि नेताओं के चरणों में गिरवी रख देती है और २५ वर्ष पहले की मनोदशा में जा पड़ती है। पर सर्वसाधारण के पास अपनी क्षति-पूर्ति के कुछ भावात्मक ढंग हैं। साधारण विवेक खो देने पर जनता अपने विरोधियों को 'पागल कुत्ते', 'शैतान', 'लकड़बग्घे', 'महारोगी' आदि लाखों गालियाँ देती है।

जनता को समाजवाद की दीक्षा देने के लिए विरोधियों को सार्वजनिक स्थानों में फाँसी देने के समारोह मनाये जाने लगे। खारकोव के मामले के बाद, फाँसी का समारम्भ देखने के लिए ३०-४० हजार लोगों की भीड़ जमा हुई थी। फाँसी की समूची कार्यप्रणाली के चित्र बनाये गये और गले में फाँसी पड़ते वक्त अपराधी की जो स्थिति होती है, वह बताने के लिए विशेष रूप से बड़े चित्र खींचे गये। ये चित्र समूचे रूस और रूस के बाहर भी दिखाये गये। 'टाइम्स' के संवाददाता ने ३१ दिसम्बर, १९४३ के अंक में जो सहानुभूति और समर्थन प्रदर्शित किया है, वह उल्लेख करने योग्य है। "यह मामला समाज-शिक्षा-प्रक्रिया का ही एक आवश्यक अंग था। इससे न्याय की लालसा तो संतुष्ट हुई ही, इसके अतिरिक्त उस फाँसी के स्थान पर, फाँसी के बाद तीन दिन तक लटकनेवाले शव देखने के लिए जो झुण्ड-के-झुण्ड आये, उनके मन पर यह बात स्पष्ट रूप में अंकित हो गयी कि फासिस्ट सरकार कितनी कमज़ोर है और उसका नाश कितना आसान है। जब उन अपराधियों के नीचे से तख्ते हटा दिये गये और उनके निर्जीव शरीर लटकने लगे, तो सब

लोगों ने संतोष की साँस ली। कुछ लोगों ने मृतकों के प्रति अपने तिरस्कार का प्रदर्शन सीटियाँ बजा कर किया और कुछ लोगों ने तालियाँ बजाकर।

इस विवरण का 'टाइम्स' ने शीर्षक दिया था—"पुनर्शिक्षा"। यह शीर्षक किसी भी तरह व्यंग्य के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ था।

* * *

इतिहास दुराराध्य नहीं है। हमारा तर्क यह नहीं था कि हम काम में लाये गये साधनों से भयभीत हैं (जो कि हम हैं) बल्कि उनके परिणाम के सम्बन्ध में अनुमान नहीं किये जा सकते। तार्किक गणना के द्वारा पहले ही उनका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता; किन्तु इससे एक यह भी शंका बच जाती है कि क्या बाद में उनका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता? रूस के बाहर और भीतर लाखों के निष्ठुर बलिदान, समाजवादी आन्दोलन को हुई क्षति और इसके नैतिक वातावरण में भ्रष्टाचार की बात सोचकर हम सिहरन-सी अनुभव कर सकते हैं और फिर भी जब तक हम यह स्वीकृत सत्य मानते हैं कि रूस समाजवाद की ओर बढ़ रहा है—चाहे उसकी चाल कितनी ही धीमी और रास्ता कितना ही चक्करदार क्यों न हो, यह प्रश्न अवश्य ही विचारणीय बना रहना चाहिए। किन्तु क्या प्रमाण है कि यह पूर्व कल्पना अभी भी न्याययुक्त है और मूलतः रूस की प्रवृत्ति अभी भी समाजवाद की ओर है और सभी अशांति-कारक तत्त्व सतह की लहरें हैं? यह समस्या का वास्तविक अंतर्भाग है।

अगर मैं लंदन से एडिनबर्ग की यात्रा करता हूँ और रात्रि में जब अपने डिब्बे में मेरी नींद खुलने पर मैं देखता हूँ कि उत्तर की ओर जाने के बजाय ट्रेन दक्षिण की ओर बढ़ रही है, तो मैं थोड़ी उलझन में पड़ जाऊँगा; किन्तु तब मैं स्वयं को यह कह कर समझाऊँगा कि सम्भवतः हम पहाड़ों के बीच से गुजर रहे हैं, जहाँ रेल की लाईन को सर्प के समान चक्कर काट कर आगे बढना पड़ता है। किन्तु अगर सुबह उठने पर मैं स्वयं को बर्नमाउथ में पाता हूँ और अगर इंजिन-ड्राइवर इस पर अड़ा रहता है कि लंदन से स्काटलैंड का सबसे छोटा रास्ता वर्नमाउथ होकर जाता है, तब निश्चय ही, मेरे मन में उसके कथन की सचाई के प्रति शंका होना उचित होगा।

सड़क के चक्करदार मोड़ों की उपेक्षा करना असम्भव है और एक आन्दोलन की दिशा निर्धारित करने का एक ही मार्ग है कि उसे उचित समय तक ध्यान-पूर्वक देखा जाये और फिर इसके सम्भाव्य मोड़ों का नक्शा खींच लिया जाये। इसके नेताओं के आत्मगत वक्तव्यों का कोई महत्त्व नहीं और उनकी प्रमाणिकता

का प्रश्न ऐतिहासिक दृष्टि से निरर्थक है। असली कसौटी तो यह है कि विभिन्न क्षेत्रों पर इस आन्दोलन का संकलित परिणाम क्या होता है? रूस की समाज-रचना का विकास किस दिशा में हो रहा है, इस का लघु विवेचन अगले परिच्छेदों में किया गया है।

६

सुविधा का उत्तराधिकार

धन का उत्तराधिकार

"विश्व में जन्म लेने वाले प्रत्येक बच्चे को शिक्षा और अपनी जिंदगी बनाने का समान अवसर मिलना चाहिए", समाजवाद के प्रथम सिद्धान्तों में यह एक है। इसीलिए राज्यक्रान्ति के तुरन्त बाद ही रिश्ते के अनुसार, अंतिम वसीयत के अनुसार या बीमा के अनुसार सम्पत्ति का उत्तराधिकार समाप्त कर दिया गया।

(१) कानूनन अथवा वसीयत के अनुसार उत्तराधिकार प्रथा समाप्त कर दी गयी है। किसी भी मनुष्य की मृत्यु के बाद उसकी चल-अचल सम्पत्ति पर सरकारी अधिकार होगा।

(२) जरूरतमंदों के लिए सामान्य सामाजिक बीमा-सम्बन्धी कानून बनने तक मृत मनुष्य के भाई-बहन, पति अथवा पत्नी अथवा नजदीकी रिश्तेदारों में जो काम करने में असमर्थ होंगे, उन्हें सम्पत्ति में से खर्च दिया जायगा।

(३) यदि यह सम्पत्ति दस हजार रुबेल से अधिक कीमत की न होगी और यदि वह खेती या खेती के यंत्रों या घरेलू सामान में ही होगी, तो इस कानून की धारा दो के अनुसार कुछ समय के लिए उसकी व्यवस्था पति-पत्नी अथवा रिश्तेदारों को सौंप दी जायेगी।

—अप्रैल, २७ (१४) १९१८ का कानून
वी. टी. एस. आइ. के.

१८ नवम्बर १९१९ के दिन जीवन, पूँजी और आय-सम्बन्धी सभी बीमे समाप्त कर दिये गये। इससे उत्तराधिकार-प्रथा समाप्त कर देने से बूढ़े, अशक्त तथा नाबालिगों पर प्रभाव पड़ा और जीवन-बीमा पूर्णतया राज्य के अधिकार में था।

लेकिन १९३६ में रूस ने जो नया विधान बनाया, उसमें पुनः मूल विषमता स्थापित की। फिर से उत्तराधिकार वैधानिक कर दिया गया। वसीयत द्वारा अपनी सम्पत्ति मनचाहे आदमी को देने का अधिकार भी मिला। मृत-बीमा फिर से जारी हो गया। राज्य-बीमा-ट्रस्ट के विज्ञापनों के जरिए समृद्धिशालियों को प्रोत्साहन दिया गया। बीमा के प्रीमियम की न्यूनतम रकम ५००० रुबेल निश्चित की गयी। बीमा कराने वाले की मृत्यु हो जाने पर यह रकम उसके उत्तराधिकारी को दी जाती है। (उदाहरणार्थ, ९ अक्टूबर १९३४ के 'लिटरेचर आइ इस्कुस्तोव' में प्रकाशित विज्ञापन।)

जब तक माँ-बाप की आय में विषमता है, तब तक जन्मगत पूर्ण समता केवल सिद्धान्त में ही रहेगी, व्यवहार में नहीं। "प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार काम करे और उसे काम के अनुसार मजदूरी मिले" यह 'समाजवाद की प्रथम अवस्था' है। लेकिन "प्रत्येक अपनी शक्ति के अनुसार काम करे और उसे उसके आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक मिले" (आवश्यकता में बच्चे और मनोरंजन का भी समावेश है), यह है दूसरी अवस्था।

अत्यधिक समर्थ आलोचक भी यह न कहेंगे कि सम्पूर्ण समतावाद पर एकदम से छलाँग मारी जाये। समाजवाद की ओर धीरे-धीरे बढ़ने वाली राज्य-व्यवस्था को ऐसी कोशिश करनी चाहिए कि बच्चों पर उनके माँ-बाप की आर्थिक विषमता का, जहाँ तक सम्भव हो, कम-से-कम प्रभाव पड़े। लेकिन रूस ने उल्टा मार्ग अपनाया। उत्तराधिकार-पद्धति पुनः आरम्भ की। मृत्यु-बीमा को प्रोत्साहन दिया। प्रमुख व्यक्तियों के बालकों के वयस्क होने तक सरकार की ओर से आर्थिक सहायता दी जाने लगी। मैं एक ही उदाहरण का विवरण देता हूँ।

विमान-विद्या-विशारद समाजवादी श्रम-विभाग के नायक, रूस की सुप्रीम सोवियत के डिपुटी-कामरेड एन. एम. पोलिकारपोव की लम्बी बीमारी के बाद मृत्यु होने पर रूसी सरकार ने उसकी पत्नी और लड़कों को एक लाख रूबेल दिये। इसके अतिरिक्त उसकी पत्नी को प्रति मास एक हजार रूबेल पेन्शन के रूप में दिया जाने लगा। लड़की की शिक्षा पूर्ण होने तक उसे पाँच सौ रूबेल प्रति मास और पोलिकारपोव की बहन को मृत्युपर्यन्त हर महीने चार सौ रूबेल देने का सरकार ने निश्चय किया। ('सोवियत युद्ध-समाचार' २ अगस्त, १९४४)।

इसका अर्थ यह हुआ कि पोलिकारपोव की लड़की एक ऐसे घर में बढ़ेगी, जिस घर में तीन सदस्य हैं और तीन व्यक्तियों को बिना श्रम किये ३००० रूबेल प्रति मास की आमदनी है—इसके अतिरिक्त एक लाख रूबेल की स्थायी

पूँजी है ही। यदि वह किसी रूसी मजदूर के घर में जन्म लेती और उसका बाप वृद्धावस्था या दुर्घटना से अपंग बन जाता, तो वह ऐसे घर में पालन-पोषण पाती, जिसके सदस्यों को तीन हजार के स्थान पर तीस से पचहत्तर रूबेल मिलते। ये रहे आँकड़े।

२८-१२-१९३८ के निर्णय के अनुसार वृद्धावस्था की पेंशनें (प्रति माह)

	ऐसे परिवारों को, जिन में एक आयहीन सदस्य हो	ऐसे परिवारों को जिनमें दो अथवा अधिक आयहीन सदस्य हों।
	रूबेल	रूबेल
संकटपूर्ण उद्योगों में काम करने वाले मजदूर और खनिक	६०	७५
भारी उद्योगों और रेलवे में काम करने वाले मजदूर	५०	६०
अन्य	३०	४०

शिक्षा की असमानता

केवल वयस्क काम करने वालों में ही ऐसी विषमता हो, यह बात नहीं, वरन् बच्चों की पाठशाला में भी विषमता का विष फैलाने की निश्चित नीति रूसी शासन-व्यवस्था ने बनायी है। पूँजीवादी राष्ट्रों की तरह रूसी बच्चे भी अमीरी और गरीबी के वातावरण में बढ़ते हैं। रूस ने जब उत्तराधिकार को मान्यता दी, तभी वंशगत अमीरी के विरुद्ध खड़ी की गयी दीवार गिर पड़ी और उच्च शिक्षा के लिए शुल्क निर्धारित करके जब शिक्षा पर रोक लगा दी गयी, तब दूसरी मजबूत दीवार ढह गयी।

२ अक्टूबर, १९४० के दिन घोषित निर्णय द्वारा रूसी सरकार ने मशीन-सम्बंधी, साधारण, डाक्टरी और खेती-विषयक माध्यमिक शिक्षा की पाठशालाओं में १५० से २०० रूबेल वार्षिक शुल्क निर्धारित किया और विश्वविद्यालयों में तो ३०० से ५०० रूबेल तक शुल्क हो गया। प्रथम अवधि का शुल्क आदेश जारी होने के एक मास के भीतर देना था। इसलिए गरीब माँ-बाप के छः लाख विद्यार्थियों को, शुल्क न दे सकने के कारण पाठशाला छोड़नी पड़ी।

इस प्रकार, नौकरशाही, तंत्रशाही या नये बुद्धिजीवी वर्ग के बालकों के लिए ही उच्च शिक्षा प्राप्त करना (१५ वर्ष की उम्र और उससे आगे के बालकों के लिए) संभव रह गया। शुल्क निर्धारण करने से पूर्व ही उच्च शिक्षा सीमित कर दी गयी। १९३२ तक इंजीनियरिंग कालेज और मशीन-सम्बंधी स्कूलों में मजदूर या उनके बच्चों के लिए कम-से कम ६५ प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे जाते थे (प्रवदा, १३ जुलाई १९२८)। 'शिक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था' की इस नीति से जिसे 'मजदूर-तत्त्व' का सिद्धान्त भी कहा जाता था, अमीरों की भीड़ द्वारा उच्च शिक्षा से गरीबों को निकाल देने की वृत्ति पर नियंत्रण रहा। लेकिन १९ सितम्बर, १९३२ को जारी किये गये आदेश से 'मजदूर-तत्त्व' की कुशलतापूर्वक समाप्ति कर दी गयी। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में मजदूर और उनके बच्चों की संख्या क्रमशः किस प्रकार कम होती गयी, वह इन आँकड़ों से पता लग जायेगा।

	१९३३	१९३५	१९३८
		प्रतिशत	
विश्वविद्यालय	५०·३	४५	३३·९
माध्यमिक पाठशालाएँ	४१·५	३१·७	२७·१

इससे अधिक रहस्योद्घाटक आँकड़े औद्योगिक महाविद्यालय के हैं। इन महाविद्यालयों को सोवियत रूस में महत्त्व के अधिकार-पद पाने का प्रवेशद्वार ही समझना चाहिए। इनमें १९३८ में विद्यार्थियों का प्रतिशत इस प्रकार था—

	प्रतिशत
मजदूर और उनके बच्चे	४३·५
किसान और उनके बच्चे	९·६
अधिकारी-वर्ग, विशेषज्ञ और उनके बच्चे	४५·४

१९४० में पाठशाला में शुल्क जारी किये जाने पर यह विषमता चरम सीमा पर पहुँच गयी। तदनन्तर अधिकारी-वर्ग की संतानों के लिए विशेष पाठशालाएँ खोली गयीं। साथ ही विशेषकर उनके लिए ही प्रवेश की सुविधाएँ देने वाले फौजी स्कूल भी चले। उसी समय जो गरीब माँ-बाप माध्यमिक पाठशाला का भी शुल्क न दे सके, उन्हें अपने बालकों को पाठशाला से हटा कर चार वर्ष तक मजदूरी करने के लिए जबर्दस्ती भेजना पड़ता था। उन बालकों को छः महीने से लेकर दो वर्ष तक 'औद्योगिक शिक्षा' दी जाती थी

और फिर जहाँ भी भेजा जाता, चार वर्षों तक डट कर श्रम करना पड़ता। इसका फल क्या हुआ ? यही कि सर्वसाधारण किसान-मजदूर की संतानें किसान-मजदूर ही रहतीं और उच्च श्रेणी के लड़के अपने-आप ही उच्च अधिकार-पद प्राप्त करने के मार्ग पर अग्रसर हो जाते।

यद्यपि वहाँ गरीबों के लिए 'छात्रवृत्ति' दी जाती है, लेकिन इसके नियम पूँजीवादी राष्ट्रों से प्रायः अधिक अटपटे हैं—$\frac{2}{3}$ छात्रवृत्तियाँ परीक्षा में 'अत्यधिक अच्छे' अंक प्राप्त करने वाले को और शेष 'अच्छे' अंक पानेवाले को दी जाती हैं। शिक्षा से लाभान्वित होने के लिए गरीब विद्यार्थियों को अलौकिक बुद्धिमत्ता का परिचय देना होता है; पर अमीर विद्यार्थी को वह सहज ही उपलब्ध है। स्पष्ट ही इसका अर्थ है कि वहाँ वर्गीय विषमता है—एक ऐसी रोक, जिससे केवल विशेष विद्यार्थी ही आगे निकल सकते हैं।

इन सब बातों के दो परिणाम परिलक्षित हुए। एक तो यह कि आय के आधार पर समाज के वर्ग बने और दूसरा, सरकार की सोद्देश्य नीति के कारण यह आर्थिक विषमता, पालने के बच्चे से लेकर भावी पीढ़ी तक पहुँचायी गयी। इससे वर्गीय समाज-रचना का नया नमूना अस्तित्व में आया, जिसमें नौकरशाही, मज़दूर-राज्य और फौज के जाति-भेद परम्परागत बने। इसका आधार उत्पादन-साधन का अधिकार न होकर सरकारी अधिकारियों का अधिकार-मात्र रह गया। इतिहास में शाश्वत रूप में दिखाई देने वाले राज्यों की वंशवृद्धि के लक्षण वहाँ लक्षित होने लगे।

विषमता का यह जाल बुनने वाले कानून हैं—'अस्थायी उपाय' या 'संकटकालीन उपाय'—परन्तु इस प्रकार इनका समर्थन करना कठिन है। परम्परागत उत्तराधिकार को पुनः आरम्भ करने की व्यवस्था रूसी विधान में अंतर्भूत की गयी और किसी भी रूप में यह 'अस्थायी उपाय' के अंतर्गत नहीं आ सकती। इसी प्रकार १९३२ में मजदूरों को मिलनेवाली शिक्षा-सुविधाएँ रद्द कर दी गयीं। यह कैसे कहा जा सकता है कि चर्चिल-रूजवेल्ट को खुश करने के लिए ही ऐसा किया गया था? पाठशाला में शुल्क अनिवार्य करने का क्या यह तात्पर्य है कि युद्ध का दूसरा मोर्चा तैयार किया गया?

गत दस वर्षों में रूस के शिक्षा-क्षेत्र में प्रगति के उद्देश्य से एक भी कानून बनाया जाता, तो वहाँ की सरकार को 'संदेह का लाभ' दिया जा सकता था। मेरे पाठकों में रूसी कपोल-कल्पना में जो भी आस्था रखने वाले हैं, उन्हें मेरी चुनौती है कि ऐसा एक भी कानून बता दें।

पाठशाला के वातावरण, अध्यापन के विषय और शिक्षा-पद्धति में भी ऐसी ही अधोगति दिखाई देती है। रूसी शिक्षा-पद्धति में जो कुछ भी नया, प्रयोगात्मक और आशा-जनक था, उसे समाप्त कर दिया गया है। सहशिक्षा भी उठा दी गयी। बालक-बालिकाओं को बारह वर्ष की आयु में अलग कर दिया जाता है। विद्यार्थी और शिक्षक की प्रतियोगिताएँ समाप्त कर दी गयीं। बालक की जिज्ञासा और प्रेरणा के अंकुर देखकर उसे शिक्षा देने की अमरीकी प्रणाली रूस ने क्रांति के प्रारम्भिक काल में आरम्भ की थी। लेकिन वह 'अवैज्ञानिक' 'मार्क्स-विरोधी,' 'घातक प्रवृत्ति की पोषक' मानकर हटा दी गयी और सच्ची 'मार्क्सवादी प्रवृत्ति' निर्माण करने के लिए शिक्षा-क्षेत्र में निम्नांकित नियमों को स्थान दिया गया—

१—मुख्याध्यापक पाठशाला का सर्वेसर्वा है। शिक्षक विद्यार्थियों को आज्ञा देने में कोई संकोच न करें। आवश्यक होने पर विद्यार्थियों को सजा भी दी जाये।

२—'दबाव डालना या सजा देना हानिकारक है'—यह सिद्धान्त सर्वाधिक योग्य शिक्षकों के अनुभव से खोखला सिद्ध हुआ है। बच्चों की अनुनय-विनय करने की अपेक्षा उन्हें उचित दण्ड देना अधिक प्रभावशाली है।

३—अनुनय से अनुशासन में असंगति आती है। पाठशालाएँ जब राष्ट्रीय वृत्ति निर्माण करने में पूरा ध्यान नहीं देतीं, तब उसका परिणाम होता है बालकों की मानसिक विकृति।

इंग्लैण्ड के अधिक अनुदार किस्म के सार्वजनिक स्कूल के लिए प्रतिष्ठित और उपयुक्त ऐसे कई नियम रूस ने अपनी शिक्षापद्धति में शामिल किये हैं।

७

दरिद्र और मजदूर लखपति

संक्रमण-काल में आर्थिक-आय में विषमता का होना अपरिहार्य है और इसलिए उसके विद्यमान रहने पर रूसी सरकार की आलोचना नहीं की जा सकती—मेरा यह विचार है। लेकिन इस विषमता का क्या परिमाण है और उसके बढ़ने-घटने की प्रवृत्ति क्या है, इस सम्बन्ध में जब प्रश्न उठता है, तो आलोचना उचित है।

लेनिन ने अपने 'स्टेट ऍंड रिवोल्यूशन' नामक ग्रन्थ में अधिकतम आय की जो सीमाएँ निर्धारित की हैं, उनके आधार पर ये घटनाएँ आरम्भ हुई हैं। लेनिन का सिद्धान्त यह है—"नौकरशाही के किसी भी सदस्य को, यहाँ तक कि प्रजातंत्र के राष्ट्रपति को भी एक योग्य मजदूर से अधिक वेतन नहीं मिलना चाहिए।" नौकरशाही की बढ़ती को रोककर मजदूर-वर्ग का सर्वाधिकार स्थायी रखने के लिए लेनिन ने जो नियम बनाये थे, उनमें यह एक है। दूसरा नियम था कानून बनाना और उस पर अमल करना और तीसरा था किसी भी सरकारी अधिकारी को किसी भी समय पदच्युत करने का अधिकार मतदाताओं को होना चाहिए।

समता के ये नियम क्रान्ति के आरम्भिक काल में इस प्रकार अमल में लाये गये कि स्वयं लेनिन को युद्ध के समय यह आदेश देना पड़ा—

'युद्धकाल में' सैनिक अधिकारी और समाज के जीवन और कल्याण का भार-वहन करने वाले जिम्मेदार अधिकारियों को, भोजन व निद्रा के अवसर और सम्भव हो, तो युद्ध के नक्शे तैयार करने के लिए एकान्त स्थान सर्वप्रथम दिये जायें। ऐसी सुविधा आवश्यक भी थी, क्योंकि वह 'संकटकालीन योजना' थी। लेकिन इसका अनपेक्षित और विचित्र फल हुआ। जिम्मेदार अधिकारियों को प्रथम सुविधा देने का सिद्धान्त जीवन के हर क्षेत्र में अपनाया गया, और क्रिमिया में स्वतंत्र आराम-गृह बनाये गये, गर्मी के लिए खास विश्रांति-गृह निर्मित हुए। स्वतंत्र अस्पताल बने, और भोजनालय, उपाहारगृह, सहकारी संस्था आदि हर सार्वजनिक कार्य में पृथकता आ गयी।

परन्तु ये सारी सुविधाएँ पदार्थों की थीं, पैसों की नहीं। दल के सदस्य के लिए अधिक-से-अधिक ४०० रूबेल मासिक की आय निश्चित की गयी और जो अधिक उपार्जित करते—रूसी और विदेशी विशेषज्ञ, जो दल से सम्बन्धित नहीं थे—उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता। एक 'अपरिहार्य संकट' मानकर ही उनका अधिक वेतन सहन किया जाता था। प्रथम पंचवर्षीय योजना में ही आय का अन्तर स्पष्ट हो गया। परन्तु इससे भी मूलभूत और बड़ा अन्तर १९३१ के जून में स्पष्ट हुआ। उस समय स्तालिन ने जो छः प्रस्तावों का भाषण दिया था, वह सुविख्यात है। वह जैसे समान आय के विरुद्ध युद्ध की घोषणा थी।

आय की समानता स्थायी रूप में नष्ट करने का निश्चय हुआ, क्योंकि वह "उत्पादन की समाजवादी पद्धति के लिए घातक और उसके विरुद्ध है"। यह समानता 'मध्यम वर्ग की मूर्खता है'—सत्ता के विरुद्ध अपराध है—प्रतिक्रान्ति

या 'ट्राट्स्कीवाद' के समान एक बकवास है—स्तालिन ने ऐसा प्रचार करवाया और सारे देश में यही कहा जाने लगा। 'वेतन-सम्बन्धी समता' से एक प्रकार के धर्म-युद्ध का निश्चय किया गया और बहुसंख्यक लोग प्रामाणिक रूप में यह मानने लगे कि 'वेतन-सम्बन्धी विषमता' समाजवाद का मूलभूत सिद्धान्त ही है।

इस नयी नीति के उद्घोष का उद्देश्य था प्रथम पंचवर्षीय योजना में आने वाली बाधाएँ दूर करना। "हम पूँजीवादी राष्ट्रों से होड़ लेंगे—उन्हें पीछे छोड़ देंगे" इस आश्वासन से १९२७ में रूस में उत्साह की जो प्रचंड लहर उठी थी, वह शिथिल हो रही थी, रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठने के बजाय क्रान्ति के पहले के रहन-सहन के स्तर से भी नीचे गिर गया था। अतः उत्पादन के परिमाण और उसकी कोटि में वृद्धि के लिए कोई नया प्रलोभन देना आवश्यक था। वह लालच था, 'वेतन-सम्बन्धी विषमता'। यहाँ तक कि इस क्षेत्र में रूस सचमुच ही पूँजीवादी राष्ट्रों को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ने का श्रेय पा गया। मजेदार बात तो यह है कि विषमता की इस नीति को 'संक्रमणकालीन योजना' या 'अपरिहार्य संकट' के रूप में नहीं अपनाया गया, वरन् इसे समाजवादी नीतिशास्त्र की विजय के रूप में स्वीकार किया गया। रूस के नये उद्योगों की सुरक्षा के लिए, कार्य-समता की नयी योजना बनायी गयी। वह यह कि प्रत्येक मजदूर व्यक्तिगत तरीकों से उत्पादन करने के स्थान पर श्रम-विभाजन-ढंग के द्वारा उत्पादन में वृद्धि करे। इससे प्रत्येक मजदूर को उसके 'किये गये काम' के हिसाब से ही मजदूरी मिलने लगी। इस पर आवरण डालने के लिए इसे 'स्टाखानोव्हिज्म' का नाम दिया गया, जो आधुनिक इतिहास के प्रचार की चालों में सर्वाधिक विलक्षण रही।

अलेक्सी स्टाखानोव कोयले की खान में एक मजदूर था। ३० अक्टूबर, १९३३ की रात को उसने छः घण्टे में १०२ टन कोयला खोदा था। सदा का परिमाण ७ टन का था। यानी उसने औसत से चौदह गुना अधिक उत्पादन किया। कुछ दिन के बाद उसने एक बार में १७५ टन और उसके बाद में २२७ टन कोयला निकाला—औसत से ३२ गुना अधिक उत्पादन।

युवक स्टाखानोव के इस आश्चर्यजनक कार्य का प्रचार रूस के आकाशवाणी, समाचारपत्र और सार्वजनिक वक्ताओं ने ऐसे उत्साह से किया कि उसकी तुलना 'बर्नाडेट आव लुर्देस' के पिशाचों से ही की जा सकती है।

पर अब एक-के-बाद-एक मजदूर चमत्कार दिखाने लगे। किसी मजदूर ने १२५ टन निकाला, तो किसी जुलाहे ने १६ से २४ करघों की जगह लगभग १४० से १५० करघे चलाये। 'प्रवदा' ने एक ऐसे मजदूर का उल्लेख किया था, जिसने १३३ यंत्रों का काम अकेले सँभाल लिया। प्रत्येक कारखाने में २०० गुना, ५०० गुना, १००० गुना, इतना ही नहीं २००० गुना अधिक कार्य करने वाले मजदूर मिलने लगे।

इस चमत्कार का क्या रहस्य है? स्वयं स्टाखानोव ने ही एक सम्मेलन में इसका उद्घाटन किया। उसने कहा—"पहले हम यंत्र से थोड़ा कोयला निकालते थे, फिर उस कोयले को दूर रखने के लिये हमें काम छोड़कर जाना पड़ता था, वापस आकर हम पुनः काम करते थे। लेकिन अब हमने यह निश्चय किया है कि एक मजदूर कोयला निकाले और दूसरा उसे रखने के स्थान तक ले जाये। और तब निश्चय ही काम अधिक और अच्छा होगा।"

इसका अर्थ यह हुआ कि श्रम-विभाजन का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया। पाश्चात्य राष्ट्रों के खान-उद्योगों में बरसों पूर्व से इस पर अमल किया जाता रहा है। परन्तु रूस के मजदूरों के काम करने की पद्धति पुरानी और आरामदायक थी। मजदूर-वर्ग वह छोड़ने को तैयार नहीं था, परन्तु स्टाखानोव के नाम की प्रशंसा करके रूसी मजदूरों पर यह नयी पद्धति लादी गयी।

आय की विषमता जैसे अपरिहार्य थी, वैसे ही श्रम-विभाजन की कार्य-पद्धति भी। लेकिन रूस में जिस तरह से आय की विषमता पूंजीवादी राष्ट्रों से अधिक आगे निकल गयी, उसी प्रकार श्रम-विभाजन की कार्य-पद्धति भी सीमा तोड़कर आगे निकले गयी, जिससे वहाँ के मजदूरों की दशा बिगड़ गयी। मोलोतोव ने एक परिषद् में इस कार्य-पद्धति की प्रशंसा में कहा था—"इसमें काम का बोझ बढ़ाने का प्रश्न ही नहीं उठता। मजदूर अपने काम में प्रत्येक मिनट और सेकेन्ड की ओर ध्यान दे, तो काम में एक प्रकार के संगीत का आनंद आता है—संस्कृति का निर्माण होता है। इस नये तरीके से अपने काम की ओर सुसंस्कृत दृष्टि से देखने की शिक्षा मिलती है।"

यह 'नयी सांस्कृतिक दृष्टि' रूसी उद्योगों में तेजी से स्थान पा गयी। स्टाखानोव के अनुयायियों के लिए—जिन्हें पूँजीवादियों की परिभाषा में मेठ और फोरमैन कहा जाता—कारखानों में अलग भोजनगृह बने और उन्हें साधारण मजदूर की अपेक्षा बीस गुना अधिक वेतन दिया जाता। मास्को के पत्र 'ट्रुड' के २०-१-१९३६ की प्रति के अनुसार उदाहरणार्थ एक खान में ६० मजदूर

ऐसे थे, जिनमें प्रत्येक को प्रति मास १००० से २५०० रूबेल मिलते, ७५ मजदूर ऐसे थे, जिनमें प्रत्येक को ८०० से १००० रुबेल, ४०० मजदूर ऐसे थे, जिनमें प्रत्येक को ५०० से ८०० और शेष १००० साधारण मजदूरों को औसत १२५ रूबेल मिलते। वहाँ अधिकतम वेतन न्यूनतम वेतन का तीस गुना था। १५०० मजदूरों की खान के डायरेक्टर और प्रमुख इंजीनियर को औसत वेतन से १०० गुना अधिक मिलता और वह न्यूनतम वेतन का ३०० गुना होता। इससे १९४३ में मजदूर लखपतियों का उदय हुआ और रूसी पत्रों ने बड़े उत्साह से उनका स्वागत किया।

रूस का समर्थक यह तर्क उपस्थित कर सकता है कि वहाँ के आय की विषमता चाहे जितनी शोचनीय हो, परन्तु वह अभी भी वहाँ के वेतन का प्रतिनिधित्व करती है—पूँजीवादी राष्ट्रों की तरह 'लाभ' का नहीं। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से किसी लखपति डायरेक्टर के पास खेती का आधिपत्य है या नहीं, यह महत्त्व का प्रश्न नहीं, प्रश्न है उनके नीचे काम करने वाले मजदूरों पर चलने वाली उनकी सत्ता पूँजीवादी राष्ट्र के ऐसे व्यक्तियों से अधिक है या कम? उस डायरेक्टर के बाल-बच्चों को दूसरों की अपेक्षा अधिक सामाजिक, शैक्षणिक और आर्थिक सुविधाएँ मिलती हैं। उसकी आय किसी भी पूँजीपति की संतान के समान ही 'बिना श्रम अर्जित' होगी। अन्तर केवल इतना ही है कि रूस का यह धनी अपने लिए जमीन या कारखाना नहीं खरीद सकता। लेकिन बिना आर्थिक खतरा मोल लिए यदि वे सारे अधिकार और लाभ, जो मालिक के होते हैं, उसे मिलते हों, तो कारखाना मोल लेने या जमीन खरीदने का शौक किसे होगा?

ऐसे मजदूर लखपतियों का महत्त्व जानने के लिये तुलना के रूप में गरीब मजदूर के जीवन की ओर देखना चाहिए। सारे विश्व में 'जीवन-स्तर' सम्बन्धी आँकड़े प्रकाशित न करने वाला देश यदि कोई है—तो वह रूस ही है। आय-व्यय का ब्यौरा देने वाले आँकड़े वहाँ प्रकाशित नहीं किये जाते। रूसी आँकड़े-शास्त्री अपने औद्योगिक उत्पादन के आँकड़े ढोल पीट-पीट कर प्रकट करते हैं, लेकिन उपभोक्ताओं के सम्बन्ध में वे मौन साध लेते हैं। जो कोई भी रूसी मजदूरों के बीच में रहकर वहाँ से बाहर आ सका और अगर उसने सत्य कहने का साहस किया, तो उसने रूसी मजदूर के जीवन की दुःखद कहानी ही सुनायी, जैसे सिलिगा, सेडोव, यूवोन, सर्ज आदि। लेकिन उन्हें 'ट्राट्स्की' का अनुयायी और झूठ बोलने वाला कहकर इनकी उपेक्षा की गयी।

किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि रूस की सरकारी जानकारी का सूक्ष्म अध्ययन करके वहाँ के मजदूरों की शोकपूर्ण स्थिति की सत्यता स्थापित करने के भी तरीके हैं। उदाहरणार्थ, १९३८ में वहाँ की एक सरकारी पत्रिका में यह बात बतायी गयी थी कि जारशाही में पिट्सबर्ग में स्थित कपड़े की मिल में काम करनेवाले मजदूर के परिवार में कितने खाद्यान्न की खपत थी। उसी को आधार मान कर हबर्ड ने ये आँकड़े निकाले।

		१९१३	१९२९	१९३७
साप्ताहिक खाद्यान्न का मूल्य	रूबेल	३·४०	५·९०	४९·६०
अन्न के मूल्य का मान	प्रतिशत	१००	१७२	१४४९
औसत वेतन	रूबेल	२५	६६	२४५
सही वेतन का मान	प्रतिशत	१००	१५४	६८

इसका अर्थ यह हुआ कि क्रान्तिकाल से १९२९ तक औसत जीवन-स्तर ५४ प्रतिशत ऊपर उठा और १९३७ में क्रान्तिकाल के पूर्व की अपेक्षा ३२ प्रतिशत नीचे आ गया।

एफ. फारेस्ट भी अन्य तरीकों का सहारा लेकर इसी परिणाम पर पहुँचा। मास्को की खुदरा दुकानों में प्रचलित दरों का अमरीकी दूतावास द्वारा किये गये निरीक्षण और सरकारी रूसी सूत्रों पर उसके तरीके आधारित थे। अमरीकी दूतावास द्वारा दी गयी रिपोर्ट का खंडन सोवियत समाचारपत्रों ने भी नहीं किया था। फारेस्ट को जो आँकड़े प्राप्त हुए, वे इस प्रकार हैं—

	१९१३	१९२८	१९४०
मूल्यों का मान	१००	१८७	२२४८
वेतनों का मान	१००	२३३	१३८३
वास्तविक पारिश्रमिक का मान	१००	१२५	६२

इन दो व्यक्तियों के अतिरिक्त कोलिन क्लार्क भी इन्हीं परिणामों पर पहुँचा। उसके द्वारा प्राप्त परिणाम भी अधिकृत सोवियत आँकड़ों पर आधारित थे। क्लार्क के अनुसार १९१३ से १९३४ तक प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की खपत ३० प्रतिशत गिर गयी थी (प्रति सप्ताह ४९·६ पेंस के मूल्य से १९३४ की ब्रिटिश दरों में ३८ पेंस के मूल्य तक)। सर जान आर. ने ब्रिटिश जनता के अत्यधिक गरीब लोगों के १० प्रतिशत के सम्बन्ध में जो संख्या प्राप्त की थी, पोलैनई के अनुसार, यह संख्या उससे ३० प्रतिशत नीचे है।

और मेरी जानकारी के अनुसार किसी भी रूसी या साम्यवादी अधिकारी ने

इन आँकड़ों का खण्डन नहीं किया। यह कार्य कठिन भी प्रमाणित होता, क्योंकि ये परिणाम खाद्य-उत्पादन औसत-वेतन और जनसंख्या आदि के अधिकृत आँकड़ों पर आधारित थे।

खेती के उत्पादन में भी यही विषमता थी। १९३३ के फरवरी में स्तालिन ने अपना विख्यात भाषण देकर 'समता के शाप' से मुक्ति दे दी। सामूहिक खेती का प्रयोग शुरू होने पर और प्रत्येक किसान को उसका समान हिस्सा मिलने पर, रूस के सामने यह एक जटिल प्रश्न बन गया कि समानता को किस प्रकार नष्ट किया जाये। लेकिन शीघ्र ही एक उपयुक्त सूझ मिल गयी। खेत में पैदा होने वाले अनाज का बँटवारा सदस्यों में समानता के आधार पर न कर के, जितने दिन जिसने काम किया था, उस आधार पर किया गया। और इसकी नापतौल काम के स्वरूप के अनुसार अलग-अलग निश्चित की गयी। किसी मजदूर के दिन-भर काम करने पर भी वह आधा दिन माना जाता, और ट्रैक्टर चलानेवाले का एक दिन ५ दिन गिने जाते। शासन-सम्बन्धी अधिकारी का एक दिन ५ या १० दिन के बराबर माना जाता।

पूँजीवादी परिभाषा में कहना हो, तो यह कह सकते हैं कि किसान वेतन पाने वाला मजदूर बन गया और उसकी मजदूरी मजदूरों की तरह ही अलग-अलग थी। कज़ाकस्तान-जैसे अत्यन्त दरिद्र भाग में सामूहिक खेती का एक डायरेक्टर आज करोड़पति बन गया है।

* * *

मजदूर, किसान और सैनिक, ये तीन रूसी सरकार के आधारस्तम्भ थे। उनमें से मजदूर और किसान में विद्यमान 'क्षुद्र बुर्जुआ समता' को जिस प्रकार रूस ने नष्ट किया, वैसे ही स्तालिन ने सैनिकों की समता का विध्वंस किया। लाल सेना के साधारण सिपाही को आज १० रूबेल प्रतिमाह मिलते हैं, लेफ्टिनेंट को १००० और कर्नल को २४०० रूबेल। साधारण सिपाही और उच्च अधिकारी के वेतन का स्तर इंग्लैंड में १ : ४ अमरीका में १ : ३ और रूस में १ : १०० है। रूस के पक्षपाती इसका जो समर्थन करते हैं, वह काफी दिलचस्प है।'रशिया टुडे' लेखमाला में सन् १९४३ में 'सोवियत मिलियोनेरीज' शीर्षक से प्रचारित और 'रेगबिशप' द्वारा लिखित एक पर्चे में कहा गया है—"लाल सेना में वेतन की विषमता होने पर भी वर्ग-भेद नहीं। लाल-सेना के अधिकारी अपने क्रम के अनुसार अधिक वेतन पाते हैं—एक लेफ्टिनेन्ट

को प्रतिमाह १००० रूबेल मिलते हैं, कर्नल को २००० रूबेल से अधिक और इसी प्रकार इससे उच्च अधिकारी को।

"निश्चय ही इस वेतन से सोवियत के लखपतियों की संख्या नहीं बढ़ सकती, किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इसमें वर्ग-विभेद का कोई प्रश्न नहीं है। यह तो रूस की सामान्य वेतन-नीति से सम्बन्धित ठोस समाजवादी नीति है।

"रूस में प्रत्येक मर्द नागरिक सैनिक सेवा के योग्य है। जिस एक निश्चित अवधि तक वह अपनी सेवाएँ राज्य को अर्पित करता है, उसके लिए बदले में उसे जेबखर्च दिया जाता है। अवधि की समाप्ति पर वह अपने नागरिक जीवन में लौट जाता है और साधारणतः अच्छी स्थिति में। सेना में उसका पारिश्रमिक कम हो सकता है, लेकिन उसे कितनी ही सुविधायें मुफ्त मिलती हैं—डाक, प्रवास, मनोरंजन, धूम्रपान आदि। वह इन सुविधाओं के कारण अन्य किसी देश के सैनिकों के समान ही सुखी रहता है।"

इसी तरीके से ब्रिटिश सरकार अगर अपने सैनिक का वेतन कम करके १८ पेन्स प्रति सप्ताह निश्चित कर दे और उसके समर्थनार्थ २ डाक के टिकट, ४ सिनेमा के टिकट आदि मुफ्त देने का आश्वासन दे, तो ब्रिटिश सैनिक क्या समझेगा, यह कहना कठिन है।

८

मजदूरों की परिस्थितियाँ और ट्रेड यूनियनें (व्यापारिक संघ)

लोगों को अपने काम की ओर 'सांस्कृतिक दृष्टि' से देखने की शिक्षा देने के लिए रूस में मजदूर-सम्बन्धी कानून बनाये गये। इससे फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी के मज़दूरों की अपेक्षा रूसी मजदूर की स्थिति खराब हो गयी। कोई रूसी मजदूर बीस मिनट देर से आये, समय से पूर्व काम छोड़कर चला जाये या जरा-सा आलस्य दिखाये या संतोषजनक उत्पादन न करे, तो रूस में मुकादम या कारखाने के व्यवस्थापक को उसे बिना अग्रिम सूचना के बरखास्त करने का अधिकार है। आलस्य के कारण बरखास्त हुए मजदूर का न तो अपने घर पर अधिकार रहता है और न राशनिंग के जमाने में राशन-कार्ड पर। १९३९ में प्रत्येक वैतनिक नौकर को एक 'श्रमपुस्तिका' दी गयी।

व्यवस्थापक उसमें मजदूर के आचरण, अपराध और आस्था-आलस्य के बारे में अपने विचार लिखता था। यह श्रम-पुस्तिका प्रस्तुत न करने वाले मजदूर को काम पर रखना घोर अपराध माना जाता था।

इससे असंतुष्ट होकर मजदूर विदेशों में जाने लगे। सरकार की धमकियों से उनकी भीड़ नहीं रुकती थी। इसलिए १९३८ से मजदूर को अपने काम के लिए वचनबद्ध करने का कानून बना। यदि कोई बिना इजाज़त काम छोड़ देता, तो उसे जबरन मज़दूरी करनी पड़ती थी। एक न्यायाधीश की ओर से मजदूर के प्रत्येक अपराध की पाँच दिनों के अन्दर ही जाँच होने लगी। पहले न्यायाधीश के साथ दो सलाहकार थे, परन्तु बाद में वे हटा लिये गये। न्यायाधीश या व्यवस्थापक मजदूर के प्रति करुणा दिखाता, तो उसे भी दण्ड दिया जाता था। स्वास्थ्य-बीमा और अन्य बीमों का लाभ केवल एक ही जगह दीर्घकाल तक मजदूरी करने वाले मजदूरों को मिलता था। नौकरी पर रहने के बाद प्रथम छः मास तक मजदूर को बीमारी-भत्ता बिलकुल नहीं मिलता था; फिर वह थोड़ा-थोड़ा मिलने लगता। पूर्ण भत्ता पाने के लिए मजदूर को दस साल तक एक ही नौकरी में रहना आवश्यक था। नौकरी बदली नहीं कि फिर आरम्भ से श्रीगणेश।

इसी समय सात घण्टों का दिन और छः दिन का सप्ताह भी समाप्त कर दिया गया। मजदूरी की दरें घटायी गयीं और उत्पादन बढ़ाया गया, जिससे काम का समय १५ प्रतिशत बढ़ गया, फिर भी मजदूर की मासिक आय वही बनी रही। उत्पादन का अंश पूरा न होने पर वेतन में कटौती की जाती थी। यह कटौती ३२ प्रतिशत मजदूरों को भुगतनी पड़ती थी। स्त्री या बच्चों से अधिक समय तक काम न लेने या उन्हें रात में काम न देने के कानून हटा लिये गये। यह सब महायुद्ध के पूर्व ही हुआ। १९४१ के दिसम्बर से तो जिन उद्योगों का युद्ध से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था, वे 'सैनिक कानून' के अंतर्गत आ गये। अनुपस्थिति, आलस्य और लापरवाही के अपराध के लिए फाँसी की सजा रखी गयी।

* * *

इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बाह्य रूप में ही सही, मजदूर-वर्ग के नौकरशाही देश में एक ओर कानून द्वारा मजदूरों का स्थान नीचा हो रहा है, उनके प्राथमिक अधिकार नष्ट हो रहे हैं, उनका जीवन-स्तर क्रान्ति के पूर्व-काल की अपेक्षा घट रहा है और दूसरी ओर विलासी वर्ग का निर्माण हो रहा है; तो फिर कोई इसका विरोध क्यों नहीं करता?

पूँजीवादी प्रजातंत्र देशों में मजदूर के पास सरकारी नीति पर अपना प्रभाव डालने के दो मार्ग होते हैं—मतदान की व्यवस्था और ट्रेड यूनियन।

एकपक्षीय राज्य शासन वाले देश में मतदान का मार्ग खुला नहीं है। वहाँ मतदान के लिए सरकार की ओर से एक ही सूची सामने आती है। मतदाता उन्हीं उम्मीदवारों के पक्ष या विपक्ष में मत देते हैं। विपक्ष में मत देना खतरा ही मोल लेना है। अधिकतर ग्रामीण विभागों में उम्मीदवार का चुनाव प्रकट सभा में जयघोष द्वारा किया जाता है। फिर उसमें चुनाव का मौका ही कहाँ है? वह चुनाव निरर्थक है। न तो वहाँ विरोधी दल है और न जनमत की धारणा। राज्य के काम पर लोकमत का दबाव डालने का कोई मार्ग नहीं। फिर जो असंतुष्ट लोग होते हैं, वे गुप्त मंडल स्थापित करके षड्यंत्र रचते हैं। बस एक ही मार्ग उनके लिए खुला रहता है। आर्थिक उद्धार का दूसरा मार्ग है ट्रेड यूनियन। रूस के ट्रेड यूनियन ने क्या काम किया, इससे यूरोप में रहनेवाले रूस के साथी भी अनभिज्ञ हैं। महायुद्ध के समय और उसके बाद के काल में, कारखाने की समितियों द्वारा ट्रेड यूनियन ने उस देश के आर्थिक साधनों पर अपनी सत्ता जमा ली और देश को अराजकता तथा अंधाधुंधी से बचाया। फिर नयी अर्थ-योजना (एन. ई. पी.) शुरू हुई। तब से सरकार की अर्थ नीति में ट्रेड यूनियन का कोई स्थान न रहा। फिर भी रूसी ट्रेड यूनियन मजदूरों के सामयिक हित का कार्य दक्षता से करता रहा।

परन्तु स्तालिन की नौकरशाही की पकड़ मजबूत होने से ट्रेड यूनियन के काम में मूलभूत अन्तर आ गया! प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ होते ही ये सब ट्रेड यूनियनें सरकार की नौकरशाही में समाविष्ट हो गयीं। अब मजदूरों की हितरक्षा उनका काम न रहा, वरन् मजदूरों में अनुशासन स्थापित करना, उन्हें अपने काम से परिचित करना ही उनका काम बन गया। जो यूनियनें मजदूरों के उद्धार का साधन थीं, वे ही मजदूरों पर होने वाले अत्याचार का साधन बन गयीं। काम के घंटे बढ़ाना, जी चुराने पर कड़ी सज़ा देना, 'श्रम-पुस्तिका' का प्रचलन आदि, जो अनेक कानून सरकार ने बनाये, उनके पीछे ट्रेड यूनियन की सिफारिश थी। सरकार के इन आदेशों में लिखा होता कि ट्रेड यूनियन के सूचनानुसार हम यह आदेश जारी करते हैं कि.....

रूस के ट्रेड यूनियन, उत्पादन की शाखाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। उनमें डायरेक्टर, व्यवस्थापक, स्त्री मजदूर, आदि सब शामिल किये जाते

हैं। कारखानों में सभा से लेकर चुनाव तक किये जाते हैं। लेकिन इस चुनाव के लिए ऊपरी कौंसिल से उम्मीदवारों की सूची आती है। केवल हाथ ऊपर उठाना ही मजदूरों का काम है। इनके दो प्रमुख नेताओं ने समाचारपत्रों में ऐसा मत प्रदर्शित किया है—"वेतन-स्तर निश्चित करने का काम पूर्णतया कारखाने के प्रमुख के हाथ होना चाहिए। मजदूरों को स्वहित-रक्षा के लिए सरकार से लड़ना नहीं चाहिए। ऐसा करना सरकार को पंगु बनाता है। यह काम पागल अवसरवादियों का है।"

* * *

इन सबका यही अर्थ हुआ कि रूसी सरकार ने प्रामाणिक बुद्धि से जो 'सामयिक उपाय' बनाये, उन पर ही तात्त्विक परत चढ़ाकर उनका प्रचार किया गया। ये उपाय क्यों अपनाये गये? उत्पादन-वृद्धि की प्रेरणा देने में नया तत्त्व-ज्ञान असमर्थ रहा और इसलिए धन का प्रलोभन दिया गया। साथ ही मजदूरों ने स्वेच्छया अनुशासन नहीं रखा; इसलिए अनुशासन को अनिवार्य कर दिया गया।

इन योजनाओं में जो अतिरेक हुआ, उनका समर्थन नहीं किया जा सकता। लेकिन उससे भी अधिक दुःखद बात यह है कि समाजवादी तत्त्वज्ञान में जिन प्रेरणाओं का आधार लिया गया है, वे एकदम ढह गयीं। रूस में समाजवाद का जो प्रयोग चल रहा है, उसका ऐतिहासिक परीक्षण करने पर यही शोचनीय अनुमान लगाया जा सकता है कि ये नयी प्रेरणाएँ मनुष्य को काम में लगाने में असमर्थ हैं। इनके परिणामों का स्वरूप दिखाने की चेष्टा मैं बाद में करूंगा।

९

रूसी विधान का स्वरूप

युद्ध और अकाल के कारण रूस में हाहाकार मचने के बाद, हजारों युवक आवारा बन गये—अपराधियों की टोलियों में शामिल हो गये और नागरिकों को सताने लगे। सरकार के सामने यह एक विकट प्रश्न खड़ा हो गया।

इन युवकों की स्थिति के बारे में विदेशों में भारी प्रचार हुआ! ध्येय यह था कि रूस की दुःखग्रस्त जनता के लिए सहानुभूति उत्पन्न हो और युवकों के सुधार की उसकी आधुनिक पद्धति का प्रदर्शन हो। "द' रोड टू लाइफ" नामक

रूसी चित्रपट में यह बताया गया है कि बिना दंड के अपराधियों को किस प्रकार सुधारा जाता है। यह चित्र दुनिया-भर में दिखलाया गया और उसकी प्रशंसा भी हुई। इससे दुनिया को मालूम हुआ कि अपराधियों को रूस मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखता है।

समाजवादी रूस के प्रारम्भिक कानून के यही मूल तत्त्व थे। समाजवादी तत्त्व-ज्ञान के ये आधारस्तंभ थे। उनके गिरते ही सारा तत्त्वज्ञान गिर पड़ता। परिस्थितिवश जो अपराधी बना, यदि परिस्थिति के बदलने पर वह सुधर न सका, तो राज्यसंस्था में परिवर्त्तन करने से हमारा विकृत समाज कैसे सुधरेगा? तब तो प्राचीन मतवादी लोग ही सच्चे कहलायेंगे, क्योंकि वे ऐसा मानते हैं कि मानव-स्वभाव अपरिवर्तनीय है। उनमें निःस्वार्थ और उत्तरदायित्व की वृत्ति कदापि निर्मित न होगी, और इन वृत्तियों के अभाव में समाजवादी समाज अस्तित्व में नहीं आयेगा।

देश चाहे जितना दरिद्र हो, उसमें आवारा युवकों को सन्मार्ग पर लाने और उन्हें राष्ट्र का अंग बनाने की सामर्थ्य होनी ही चाहिए। तभी उस समाज की उपयुक्त उन्नति मानी जायेगी। परन्तु रूस ने सुधार का यह सारा विज्ञान ताक पर धर दिया और ७ अप्रैल १९३५ को ऐसा आदेश जारी किया कि बारह साल के बच्चे को भी फाँसी दी जा सकेगी। क्रान्ति के १८ साल बाद की यह घटना है। उस समय तक गृहयुद्ध के समयवाले लावारिस और आवारे लड़के पूरे आदमी हो चुके थे और इस प्रकार नयी राज्य-व्यवस्था के अंतर्गत युवक अपराधियों की एक पीढ़ी निर्मित हो गयी थी। उनके सुधरने की आशा इतनी कम थी कि उन्हें शिक्षकों या उपदेशों से सुधारने की बजाय बन्दूकधारी सैनिकों द्वारा उन्हें ठीक रास्ते पर लाने का आयोजन हुआ था।

रूस के समर्थकों ने प्रायः इस नियम के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया, किन्तु रूसी नियम-ग्रंथ से अनुवादित वह पूरा नियम नीचे दिया जाता है :—

नाबालिगों में बढ़ते हुए अपराधों को समाप्त करने के उपाय—७-४-३५ की डिगरी। सी. ई. सी. और एस. एन. के.

१. बारह वर्ष और उसके आगे के युवक यदि चोरी, हिंसा, घायल करने, अंग-भंग करने, घातक आक्रमण करने अथवा उसकी चेष्टा करने में पकड़े जायें, तो वे फौजदारी की अदालत में पेश किये जायें और अपराध-नियमावली के अनुसार उन्हें पूरा-पूरा दंड दिया जाये।

२. जो लोग नाबालिगों को बहकाने, विविध अपराधों में भाग लेने के लिए

उन्हें आमंत्रित करने या व्यभिचार अथवा भीख के लिए उन पर दबाव डालने में पकड़े जायेंगे, उन्हे कम-से-कम ५ वर्ष कारावास का दंड मिलेगा।

बारह वर्ष के बालक के साथ फौजदारी अदालत में वयस्कों की तरह बरताव करने का कानून रूस के अतिरिक्त अन्य किसी भी—सुसंस्कृत या असंस्कृत—राष्ट्र में नहीं मिलेगा।

ऐसा ही, दुनिया से निराला दूसरा कानून था कि जो सैनिक अपनी सैनिक-नौकरी छोड़ विदेश भाग जायेगा, उसके सभी रिश्तेदारों को सुदूर साइबेरिया में पाँच साल के लिए भेज दिया जायेगा। उस सैनिक का अपराध उसके रिश्तेदारों को ज्ञात न होने पर यह साधारण-सी सजा थी और यदि वह अपराध रिश्तेदारों को मालूम हो, तो दस साल की कैद होती थी और सारी सम्पत्ति जब्त। मनुष्य की प्राथमिक अवस्था में उसके अपराध के लिए समूचे परिवार को उत्तरदायी माना जाता था। इस कानून के तह में भी यही वृत्ति है। १९३५ से राजद्रोह वा क्रान्ति-विरोधी आन्दोलन के सिलसिले में गिरफ्तार लोगों के रिश्तेदारों को देशनिकाला देने की प्रथा बढ़ती गयी। 'राजद्रोह' या 'क्रान्ति-विरोधी आन्दोलन' इन शब्दों में राजकीय मतभेद अनुपस्थित रहता और विध्वंस आदि प्रत्येक कृत्य का समावेश रहता था। इन सबका निष्कर्ष यह है कि मानो प्रत्येक व्यक्ति ने अपना परिवार अपने आचरण के लिए सरकार के पास जमानत के रूप में गिरवी रखा था। महिलाओं पर इसका यह परिणाम हुआ कि जिसका पति गिरफ्तार होता, वह रजिस्ट्रार के दफ्तर दौड़ पड़ती और एकपक्षीय बयान देकर तलाक पा जाती। यह केवल सरकारी सजा से बचने के लिए होता, पति-पत्नी के सम्बन्ध पूर्ववत् बने रहते। लेकिन १९४४ के तलाक-कानून के कारण यह द्वार भी बन्द हो गया।

इन भयंकर नियमों के समर्थन में रूसी न्याय-मंत्री क्रिलेंको का कहना है—"राष्ट्र जितना अधिक समर्थ होगा, वह अपने प्रतिपक्षी से उतना ही उदार बरताव करेगा—उदारमतवादियों और अवसरवादियों का यह मत गलत है—बिल्कुल गलत है। राष्ट्र जितना समर्थ, अधिक शक्तिशाली होगा और प्रजा और सरकार के बंधन जितने अधिक दृढ़ होंगे, उतना ही अपने विरोधी पर उसे क्रोध आयेगा। जो हमारी समाज-रचना को बिगाड़ना चाहते हैं, उन्हें कड़ी सजा देना उचित ही है।"

समाजवादी तत्त्वज्ञान की न्याय-पद्धति का रूस में जो आभास मिलता था, वह भी इसी समय नष्ट कर दिया गया। वहाँ की कानून की पोथियों में 'दंड'

शब्द पुनः समाविष्ट हो गया और 'धमकी', 'बदला' न्यायदान के हेतु माने गये। 'समाज-रक्षा के साधन' का रूप पूर्ण रूप से नष्ट हो गया। रूस के 'शुद्धीकरण' में जो छोटे-बड़े लोग बलि के बकरे बने, उन्हें 'समाज का दोषी' न कह कर 'पागल कुत्ते, चूहे, सांप, लकड़बग्घे' आदि विशेषणों से पुकारा गया। मार्क्स के तत्त्वानुसार मनुष्य अपनी परिस्थितिवश अपराधी बनता है। तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कल तक के वे बाल्शेविक, जो 'दल के आधारस्तंभ' थे, अनायास 'देशद्रोही कुत्ते' कैसे बन गये? कौन-सी परिस्थिति इसके लिए जिम्मेदार थी? इसका उत्तर बड़ा कठिन है। लेकिन किसी भी मार्क्सवादी मनुष्य का यह स्वाभाविक प्रश्न है। इस प्रश्न को टालने का एक ही मार्ग था, समाजवादी तत्त्वज्ञान को छोड़ देना।

इसी नीति से रूस में सारे कानून बनाये जाते हैं और विवाह, विवाह-विच्छेद, पति-पत्नी के सम्बन्ध, प्रवास, धर्म, सैनिक शिक्षा आदि व्यक्तिगत या सार्वजनिक जीवन का अधिकृत रूप में नियंत्रण किया जाता है। उनमें से केवल कुछ विषयों पर मैं प्रकाश डालूंगा।

गर्भपात और गुदा-मैथुन को अपराध मान कर पूँजीवादी राष्ट्रों में सजा नियत की गयी है। इसके विरुद्ध यूरोप के समाजवादी और साम्यवादी, दोनों ने आन्दोलन चलाये। गुदा-मैथुन को यदि अपराध माना जाता, तो प्लेटो से लेकर प्राउस्ट तथा गिडे तक के जितने लेखक, चित्रकार और गायक हुए हैं, उनमें से अधिकांश कलाकारों को कारावास में ही रहना पड़ता।

गर्भपात के सम्बन्ध में समाजवादी विचार यह है कि यदि स्त्री बच्चा नहीं चाहती, तो वह संतति-नियमन करेगी। परन्तु यदि कोई स्त्री गर्भपात के लिए प्रवृत्त होती है, तो उसके पीछे मनोवैज्ञानिक या आर्थिक कारण होंगे। लेकिन इन दोनों स्थितियों में स्त्री की अनिच्छा होने पर बच्चे का जन्म न लेना ही सामाजिक दृष्टि से अच्छा है। यदि किसी स्त्री ने गर्भ से मुक्त होने का निश्चय ही किया, तो वह कानून की पर्वाह किये बिना अपना कार्य सिद्ध करेगी। (देश के एक ही भाग में गर्भपात की संख्या पाँच लाख से ऊपर जाती थी।) इसका यह अर्थ है कि यदि गर्भपात को गैरकानूनी करार दिया, तो सम्पन्न स्त्रियाँ अवैधानिक रूप में आराम से गर्भपात करायेंगी; परन्तु बेचारी गरीब स्त्रियों को अनाड़ी चिकित्सकों के जाल में फँसना पड़ेगा।

गर्भपात को गैरकानूनी करार देने वाला आदेश ही रूसी सरकार ने लोकमत के लिए रखा था। कारखाने और सभाओं में इस विषय पर लोकमत

लिया गया। लेकिन बहुमत इसके विरुद्ध गया। तब लोकमत ताक पर धर दिया गया और २७ दिसम्बर १९३६ के दिन गर्भपात को गैरकानूनी घोषित करने वाला आदेश जारी किया गया। रूसी सरकार ने दुबारा कभी लोकमत लेने का नाटक नहीं खेला। गर्भपात को कानूनी करार देने के लिए इंग्लैण्ड, जर्मनी और अमरीका में जिन डाक्टरी कारणों की आवश्यकता है, रूस में उनसे भी कड़े नियम हैं।

तलाक़ के जो नये कानून १९४४ के जुलाई में जारी किये गये, उनके साथ भी यही बात थी। स्थानीय दैनिक पत्रों में अपने खर्चे पर तलाक़ पाने की विज्ञप्ति देनी पड़ती थी। जिसने रूस का एक छोटा शहर या गाँव देखा है, वह इन साधनों की क्या प्रशंसा करेगा। वैसे ही, वैयक्तिक परवाने पर भी शादी और तलाक़ का पूरा विवरण नोट करना पड़ता है। यह परवाना राशन लाते वक्त, नौकरी पाते वक्त या यात्रा के लिए जाते वक्त दिखाना पड़ता है। तलाक़ के मामले खुली 'लोक न्यायालय' में चलते हैं। उनके कामकाज प्रत्यक्ष होते हैं और पति-पत्नी में समझौता करना उनकी नीति है। समझौता न हो सका, तो उस न्यायालय का काम समाप्त हो जाता है। तलाक़ की अनुमति देने का अधिकार उसे नहीं है।

तब उच्च न्यायालय की ओर दौड़ना पड़ता है। पर तलाक़ के लिए योग्य कारण कौन-से हैं? विधान में इसका निर्देश नहीं है। तलाक़ की अनुमति देना या न देना प्रादेशिक न्यायालय के न्यायाधीश की इच्छा पर निर्भर है। साधारण रूप में न्यायाधीश का झुकाव विपक्ष की ओर होता है। उससे आगे जिला, शहर और सर्वोच्च न्यायालय हैं। लेकिन उनसे न्याय माँगने के लिए कई वर्षों का समय और काफी धन चाहिए। पहले तलाक़ की फीस ५० रूबेल थी, अब वह ५०० से २००० रूबेल तक कर दी गयी। इसके अतिरिक्त वकील की फीस आदि का खर्च है ही। प्रादेशिक न्यायालय में तलाक़ पाने के लिए कम-से-कम ३००० रूबेल खर्च पड़ता है। लेकिन १९३८ के सरकारी आँकड़ों के अनुसार रूस के एक नागरिक की औसत आय २८९ रूबेल प्रति मास थी। इसका अर्थ यह हुआ कि तलाक़ पाने के लिए एक साल की आय से हाथ धोना पड़ता था। इसीसे यह स्पष्ट है कि इंजीनियर, डायरेक्टर, आदि बड़े कर्मचारियों की अपेक्षा निम्न स्तर की आर्थिक स्थितिवाले लोगों के लिए तलाक़ मिलना असंभव बन गया। १९४४ में तलाक़ का नया कानून बनने के बाद पहले महीने में, सारे रूस में, तलाक़ का एक भी आवेदन-पत्र नहीं आया।

व्यावहारिक रूप में यही मानना चाहिए कि रूस ने तलाक़ रद्द कर दिया है। तत्त्वतः रूस के प्रत्येक राज्य को संघ से अलग होने का अधिकार है, लेकिन क्या युक्रेन कभी आज़ादी का नारा लगा पायेगा? वैसे ही रूसी नागरिक को अपने जीवन-साथी से अलग होने का अधिकार है, लेकिन उसका कार्यान्वित होना दुष्कर है।

रूस में एक बार स्त्री की शादी हो गयी कि उसे प्रजनन में सारा जीवन बिताना पड़ता है। जिस कानून से तलाक़ पर प्रतिबंध डाला गया, उसी कानून से अविवाहित, विधुर, और कम संतान वाले परिवार पर अधिक कर डाला गया। इसके विपरीत तीन बच्चों की माँ को आर्थिक पुरस्कार दिया जाता है, चार या अधिक बच्चों की माँ को मासिक भत्ता दिया जाता है, ५-६ बच्चों वाली स्त्री को मातृपदक अर्पित किया जाता है और १० या १२ बच्चों की माँ को 'शौर्यशालिनी माता' की उपाधि दी जाती है। 'प्रवदा' आदि पत्रों ने इस नीति की खूब प्रशंसा की। 'प्रवदा' लिखता है—"संसार में यदि मातृपद के माहात्म्य का किसी ने सर्वप्रथम सम्मान किया, तो हमने ही।"

लेकिन ये सम्मान क्या मूर्खतापूर्ण प्रतीत नहीं होते? इंग्लैण्ड में तो दूसरे बच्चे का जन्म होते ही उस परिवार को भत्ता मिलने लगता है, चौथे बच्चे पर नहीं। पहले जब नाजी जर्मनी ने इसी प्रकार अधिक संतान पैदा करने की दर निर्धारित की थी और अविवाहितों पर कर लगाया था, तब रूस के समाचार-पत्रों ने उसकी खूब निंदा की थी। स्वभावतः ही अब यह इच्छा हो सकती है कि सोवियत समाचारपत्रों के सभी प्रमुख लेखकों के लिए 'शौर्यशालिनी माताओं' से विवाह करना अनिवार्य करार दिया जाये।

लेनिन की मृत्यु के पश्चात् रूस में जो भी कानून बने, वे व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर रोक लगाने वाले ही थे। इधर-से-उधर जाने की स्वतंत्रता भी न रही। १९३२ के एक आदेश द्वारा रूसी नागरिक के अपने देश में ही स्वतंत्र रूप से घूमने पर रोक लगा दी गयी तथा बड़े-बड़े औद्योगिक शहर और उसके आसपास के २० से १०० किलोमीटर तक के प्रदेश में जाने के लिए विशेष अनुमति लेनी पड़ती है। चौबीस घंटे घर से बाहर रहना हो, तो पुलिस को सूचना देनी पड़ती है। किसी भी अन्य आधुनिक राष्ट्र में शान्ति के समय क्या ऐसे नियम जारी हैं—इसकी खोज करना निरर्थक है।

विदेश की यात्रा केवल सरकारी काम के लिए ही है—अन्य कार्यों के लिए पूर्णतः वर्जित है। किसी ने विदेश जाने का गैरकानूनी प्रयत्न किया, तो उसे

मौत की सजा दी जाती है। सरकार ने किसी को अपने काम के लिए विदेश में भेजा, तो भी खतरा है। उसके लौटने पर हर कोई उसे 'अछूत' मान कर संदेह से उसे देखेगा। उसकी छूत हमारे देश को न लगे, बाहरी दुनिया का सत्यज्ञान यहाँ न फैले, पिछले पचीस साल में रूस के आसपास जो प्राचीर खड़ी की गयी है, उसमें दरार न पड़े, इसका रूसी सरकार बड़ा ध्यान रखती है। इसके सामने अन्य सभी विचार गौण हो जाते हैं। इसीलिए १९३८ में नाजी जर्मनी के निर्वासितों को अपने यहाँ प्रवेश करने से रूस ने मना कर दिया। फ्रान्स के बन्दी शिविरों में जो अंतर्राष्ट्रीय सैन्य-दल के व्यक्ति जीवित बचे थे, उनके लिए भी रूस में प्रवेश पर रोक थी। इसीलिए स्तालिन-हिटलर-सन्धि के बाद फासिस्ट-विरोधी लोगों को नाजी जर्मनी के अधिकार में दे दिया गया। इसके प्रमाण में लोगों के नाम तक उपलब्ध हैं।

एक बार फिर वही प्रश्न उठता है कि "इन सबके पीछे सम्भाव्य उद्देश्य क्या थे?" और फिर वही सम्भावित उत्तर है कि "समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार स्वयं की प्रेरणा से अनुशासन-पालन का ध्येय धूल में मिल गया, इसलिए उनके स्थान पर अत्याचार और धमकी का व्यवहार किया गया। और साथ ही अन्य प्रगतिशील राष्ट्रों से रूस की तुलना न होने देने के लिए आवश्यक जानकारी पर रोक लगाना आवश्यक हो गया।"

१०

नवीन शासक-वर्ग

रूस की सारी सत्ता का केन्द्र है वहाँ की पार्टी। वहाँ के नये शासन का ज्ञान होने के लिए बाल्शेविक दल के सदस्य और नेताओं में पिछले दस वर्षों में जो मूलभूत परिवर्तन हुए, उन पर ध्यान देना चाहिए। तब उनसे स्तालिनवाद का महत्त्व तत्काल समझ में आ जायेगा।

प्रथम हम नेतृत्व के परिवर्तनों को लें। शुद्धीकरण के यज्ञ में जिन क्रांतिकारी नेताओं की आहुति चढ़ी, उनकी नामावली मैं यहाँ नहीं देता। यह तो सब को पता है कि लेनिन के समय के नेताओं में केवल स्तालिन जीवित है। साधारण रूप में यही माना जाता है कि जाँच के बाद उच्च कोटि के नेताओं का ही वध किया गया और इसके द्वारा स्तालिन ने अपने सभी प्रतिस्पर्द्धियों

को दूर हटा दिया और रूस को आन्तरिक तथा बाह्य दावपेंच से छुड़ाने के लिए उसे जो सूक्ष्म कूटनीति का परिचय देना था, उसके लिए उसे खुला मैदान मिला।

यदि यह सच होता, तो केवल कूटनीतिक प्रसंग सुलझाने के लिए ही शुद्धीकरण अपनाया गया होता और बालशेविक दल की परम्परा को निभाने वाली निर्दयता से राजनीतिक नेता राह पर आ जाते, उससे क्रान्तिकारी राज्य-सत्ता की नींव नहीं हिलती; किन्तु इस राजनीतिक दाव-पेंच को प्रजातंत्रीय देशों के मंत्रिमंडल के दाव-पेंच के समान ही माना जाता और उसे प्रतिक्रान्ति का स्वरूप नहीं मिलता—चाहे प्रसंग सुलझाने का रूस का अपना मार्ग अलग क्यों न हो।

शुद्धीकरण के पक्ष में ऐसा समर्थन भ्रामक है। आदि से अंत तक दल के सभी व्यक्ति शुद्धीकरण के शिकार थे। वस्तुतः उस दल का रूप ही बदल दिया गया। नीचे के कुछ अधिकृत आँकड़े इसे प्रमाणित कर देंगे।

जनवरी-फरवरी १९३४ में शुद्धीकरण के पूर्व अखिल सोवियत बालशेविक दल की सत्रहवीं कांग्रेस हुई।

१८-वीं कांग्रेस शुद्धीकरण के तुरत बाद १९३९ के मार्च में हुई। १७-वीं कांग्रेस में १९१७ के पहले से अर्थात् क्रान्ति के पूर्व से दल के २२·६ प्रतिशत सदस्य होते आये थे। परन्तु शुद्धीकरण के बाद तुरत ही १९३९ के मार्च में हुई १८-वीं कांग्रेस में वैसे पुराने सदस्य केवल २·४ प्रतिशत थे। मतलब यह है कि शुद्धीकरण के बाद दल के $\frac{1}{10}$ सदस्य ही बच गये।

सन् १९१७ से जो दल के सदस्य बने, सत्रहवीं कांग्रेस में उनकी संख्या १७·७ थी, परन्तु १८-वीं कांग्रेस में उनकी संख्या २·६ थी। युद्ध के पूर्व से जो सदस्य थे उनकी संख्या १७-वीं कांग्रेस में ४० प्रतिशत थी; किंतु १८-वीं में वह केवल पाँच प्रतिशत थी। सन् १९१९ या उससे पूर्व से दल के जो सदस्य थे, १७-वीं कांग्रेस में वे ८० प्रतिशत थे; किंतु १८-वीं कांग्रेस में १४.८ प्रतिशत।

१८-वीं कांग्रेस के समय दल के सदस्यों की संख्या १५,८८,८५२ थी। उसमें से केवल २०,००० यानी १·३ प्रतिशत पुराने बालशेविक थे। वे सन् १९१७ या उससे पूर्व से दल के सदस्य थे। १९१८ में दल के सदस्यों की संख्या २,६०,००० से २,७०,००० तक थी और उनमें बहुसंख्यक सदस्य तरुण थे; उनका क्या हुआ?

स्कावर्ज का अनुमान है कि लगभग चौथाई सदस्य गृहयुद्ध में मारे गये, फिर भी १८-वीं कांग्रेस में दो लाख सदस्य उपस्थित रहने चाहिए थे। लेकिन उनमें से केवल २०,००० बाकी थे--१९३४ से ३९ के बीच ९०% समाप्त हो गये! और ये नेता नहीं थे, दल के प्रतिनिधि भी न थे--ये सीधे-सादे सिपाही थे। क्रान्ति करने वाले और युद्ध में लड़ने वाले किसान-मजदूर थे।

शुद्धीकरण के बाद मानो बालशेविक दल का पुनर्जन्म हुआ। उस वीर क्रान्तिकारी दल का केवल नाम ही रहा और सदस्य भी केवल १·३ ही प्रतिशत बचे।

फिर भी रूस के समर्थक शायद यह कहेंगे कि रूस का साम्यवादी दल किसान-मजदूरों का ही है। पर क्या सचमुच वह ऐसा ही है? मैनडेटरी कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार १७-वीं कांग्रेस के प्रतिनिधियों में ९·३ प्रतिशत 'उत्पादक श्रमिक' थे, जो कि वस्तुतः भूतपूर्व शारीरिक श्रम करनेवाले मजदूर नहीं माने जा सकते। १८-वीं कांग्रेस में मैनडेटरी कमिशन ने पहली बार कोई आँकड़े नहीं दिये। कांग्रेस जब चल रही थी, तभी इसका कारण स्पष्ट हो गया। इस कांग्रेस ने अपने स्वाभाविक एकमत से दल का रूप ही उन नियमों को हटा कर बदल दिया, जो मजदूरों की सुरक्षा से सम्बन्धित थे। इससे अब रूस का कम्यूनिस्ट दल सिद्धान्ततः और व्यवहारतः, दोनों ही रूप में, मजदूरों का दल नहीं रहा। दल की केन्द्रीय समिति में १३९ प्रतिनिधि होते हैं, लेकिन उसमें 'स्टाखानोव'-जैसे प्रसिद्ध एक भी मजदूर को नहीं लिया गया।

फिर कम्यूनिस्ट दल है क्या? उसके लगभग १५ लाख सदस्य, जो सर्व अधिकार-सम्पन्न हैं, सभी आवश्यक पद पर आसीन हैं तथा देश की शासन-व्यवस्था करते हैं—वे कौन हैं? सन् १९३४ में जो 'उत्पादक श्रमिक' नहीं थे, वैसे सदस्यों के बीच, वे ९०·७ प्रतिशत कौन हैं? रूसी सरकार को देश में अपने अतिरिक्त एक ही बड़ा वर्ग नजर आता है और वह है नौकरशाही तथा तंत्रशाही का। रूसी सरकार में ½ इंजीनियर होते हैं और शेष अधिकारी-वर्ग। पहले वाले खण्ड में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार यह वर्ग जनता से दूर-दूर जा रहा है। शुद्धीकरण और नौकरशाही द्वारा पार्टी का संचालन सँभाला जाना मजदूरों की तानाशाही से नवीन शासक-वर्ग की स्थापना का एक निर्णयात्मक कदम था।

११

जबरदस्ती मजदूरी—एक अप्रधान बात

पिछले दो दशाब्दियों में रूस में हुए राजनैतिक परिवर्तनों में कितने लोगों को अपने प्राण या अपना स्वातंत्र्य खोना पड़ा है, यह एक महत्त्व का प्रश्न है। लेकिन इस विषय में रूस मौन है; फिर भी अधिकृत रूप में यह बात बाहर आयी है कि श्वेत समुद्र की नहर और तुर्किस्तान-साइबेरिया रेल्वे का काम केवल जबरदस्ती मजदूरी से करवाया गया। इसके लिए १० लाख मजदूरों को जबरन काम पर लगाया गया था। बस, यहीं सरकारी सूचना समाप्त हो जाती है। फिर न तो कोई आँकड़े प्रकाशित किये गये और न किसी बाहरी को उन शिविरों को देखने की अनुमति थी। सोवियत की जन-संख्या-सम्बन्धी आँकड़ों से, अथवा ऐसे आँकड़ों के अभाव में, अप्रत्यक्ष संकेत मिल सकते हैं। सन् १९३० में आँकड़ा-विभाग का शुद्धीकरण किया गया और घोषित किया गया कि साम्यवाद के लिए होने वाले संघर्ष में आँकड़े हथियार थे। निश्चय ही वे मौन अस्त्र थे, जैसा कि हम देखते हैं। अखिल विश्व में जीवन के स्तर का आँकड़ा न प्रकाशित करने वाला देश एक अकेला रूस है। १९२६ से १९४० तक की जनगणना के आँकड़े प्रकाशित नहीं किये गये। १९३७ की जनवरी में जनगणना की गयी, लेकिन उसके आँकड़े प्रकाशित नहीं किये गये। उसका सरकारी कारण यह बताया गया कि 'जनता के शत्रुओं की कार्रवाई के कारण जनगणना में भयंकर भूलें थीं'। अतः आँकड़ा-विभाग का शुद्धीकरण किया गया और १९३९ की जनवरी में गयी जनगणना की गयी। उसके अनुसार रूस की जनसंख्या १७ करोड़ १ लाख २६ हजार तय हुई—जितना अनुमान था, उससे डेढ़ करोड़ कम। (दिसम्बर १९२६ की जन-गणना १४,७०,००,००० और १९३० का अधिकृत अनुमान १५,७५,००,०००। स्तालिन के १ अक्तूबर १९३५ के वक्तव्य के अनुसार औसतन जनसंख्या में प्रति वर्ष ३० लाख की वृद्धि होनी चाहिए—अतः १९३९ के लिए अनुमानित आँकड़े थे कम-से-कम १८ करोड़ ५० लाख।) आखिर उन डेढ़ करोड़ व्यक्तियों का क्या हुआ? संतति-नियमन से ऐसा हुआ हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उन दिनों रूस में ये साधन अप्राप्त थे। १९३२–३३ के अकाल में कुछ लोग मरे होंगे; और जबरदस्ती मजदूरी में भी लगभग ३० प्रतिशत मृत्यु हुई होगी। किन्तु यह

सब तो अनुमान है, निश्चित रूप से एक ही बात कही जा सकती है कि रूस की जनसंख्या में मोटी तौर पर १० प्रतिशत लोग लापता हैं।

* * *

यह तो सरकारी आँकड़े हुए। सिलिगा, विक्टर सर्ज, ट्राट्स्की आदि लेखकों ने इसका दूसरा पहलू बताया है। कितनी ही आँखों देखी रिपोर्टों में, जो मेरे पास हैं, मैं पोलैण्ड के यहूदी समाजवादी दल के प्रमुख सदस्य लुसियन ब्लिट की साक्षी यहाँ देना चाहता हूँ। निम्न तथ्य आंशिक रूप से उस गुप्त रिपोर्ट पर आधारित हैं, जो "अंतर्राष्ट्रीय परस्पर सम्बद्ध समाजवादी मित्रों के दल" द्वारा ब्लिट को दी गयी थी; और आंशिक रूप में उन विवरणों पर, जो उसने स्वयं मुझे बताये थे।

सन् १९३९ में पोलैण्ड का पतन हुआ। तब ब्लिट, जिसने वार्सा की सुरक्षा में सक्रिय भाग लिया था, विलना भाग गया। वहाँ से वह अपने दल द्वारा मार्च १९४० में वार्सा गुप्त सरकार का प्रतिनिधि बना कर भेज दिया गया। उसके पास विसिंस्की के नाम से एक पासपोर्ट था, पर रास्ते में उसे रूस द्वारा शासित पोलैंड के एक अंचल से गुजरना पड़ा और वह रूसी सैनिकों द्वारा ३० मई, १९४० को गिरफ्तार कर लिया गया। उसने अपना परिचय और उद्देश्य नहीं बतलाया। जर्मन-अधिकृत क्षेत्रों से भागने वाले पोलैण्ड के शरणार्थी का रूपक उसने बनाया और उन्हीं के समान उसके साथ व्यवहार भी हुआ। उसे दस महीने जेल में काटने पड़े। एक कैदी के लिए बने कमरे में आठ कैदी भरे गये थे। उन्हें २३६ दिन के बाद दस मिनट व्यायाम करने की छूट मिली। दूसरा अवसर आने में एक महीना लगा। उन पर पढ़ने-लिखने और पत्र-व्यवहार का प्रतिबन्ध था। जोर से बोलने या खिड़की खोलने पर ४८ घंटे दीवार से सटकर खड़े रहने की सजा मिलती थी। अपराध बड़ा होने पर कमर के बराबर ठण्डे पानी में ४८ घंटे खड़ा किया जाता था, जिसके फलस्वरूप अधिकांश व्यक्तियों को वातरोग हो जाता अथवा वे पागल हो जाते या उनकी मृत्यु हो जाती। अधिकतर रात में ही कैदी से प्रश्न पूछे जाते और उस समय उन्हें खूब मारपीट करके मौत का भय दिखाया जाता था। स्त्रियों को भी मारा-पीटा जाता। विशेषतः पोलैण्ड के विद्यार्थी-संगठन की सदस्य लड़कियों को मारा जाता था। पागल होने और आत्महत्या करने वालों की संख्या इन कैदियों में अधिक थी। एक रात्रि एक सशक्त किसान उठ कर कहने लगा कि वह जीसस क्राइस्ट है और उसे क्रास पर

ले जाने का समय आ गया है। पाँच दिनों तक ऐसा कहने के बाद रक्षक उसे वहाँ से छठे दिन कहीं अन्यत्र ले गये। एक यहूदी लड़का, जो नाजी-अधिकृत अंचल से रूसी अंचल में भाग आया था, एक सप्ताह तक लगातार चिल्लाता रहा—"मैं ट्राट्स्की नहीं हूँ।"

जांच के अन्त में यदि कैदी पर कोई राजनैतिक दोष सिद्ध न होता, तो उसे सुधार के लिये ३ से ८ वर्ष की सजा देकर मजदूरों के शिविरों में भेज दिया जाता। रूसी प्रदेश में अनधिकृत प्रवेश ही उनका अपराध था। जर्मनों से बचने के लिए जो पोलिश लोग रूस में घुसे, उन सबके भाग्य में यही लिखा था।

४ अप्रैल, १९४१ के दिन 'ब्लिट' प्लेसेक-स्थित मजदूरों के शिविर में दाखिल हुआ। वहां ३५००० कैदी थे। जून महीने में भी वहाँ का तापमान शून्य अंश से नीचे ही रहता। फिर भी वहाँ के स्त्री-पुरुष को हर रोज १२/१३ घण्टे लकड़ियाँ काटने का काम करना पड़ता। सबेरे-शाम थोड़ा-बहुत खाने को दिया जाता। बीच में केवल गरम पानी, साथ में न शक्कर न सब्जी, फिर फल की क्या बात। पहनने-ओढ़ने को कपड़े भी नहीं मिलते थे, खाट की कौन कहे। इससे सहज ही कैदी भिन्न-भिन्न रोगों के शिकार बनते। पहले कुछ महीनों में ही लोगों के दाँत उखड़ गये। लकड़ियाँ काटने का जितना काम कैदी के लिये नियत किया जाता, उससे आधा भी पूरा करना किसी मुदृढ़ आदमी के लिए मुश्किल था। स्त्रियों के काम का भी वही हिसाब था। सब को ८ घन गज़ लकड़ी रोज़ काटनी पड़ती थी। भोजन, किये हुये काम के अनुपात में मिलता था, जिससे स्त्रियाँ जिन्दा रहने के लिए चोरी और व्यभिचार का सहारा लेतीं। एक बार संभोग के लिये आध सेर रोटियाँ मिलती थीं। ३० प्रतिशत आदमी हर साल काल का ग्रास बनते। रविवार हो या मई महीने का पहला दिन हो, काम करना ही चाहिये, आराम का नाम नहीं। शिविर में अपराधी और राजनैतिक बंदी, दोनों थे। राजनैतिक बंदियों को दो दलों में विभक्त कर दिया गया था, 'जासूस और गद्दार' तथा 'समाज के लिये खतरनाक'। दूसरे दल में राष्ट्र के अल्पसंख्यक वर्ग के लोग अधिक थे। ब्लिट के शिविर में उदाहरणार्थ ४०० यूनानी थे, जो १९३८ में एक दिन पकड़े गये थे और सामूहिक रूप से ५ वर्षों की जबरदस्ती मजदूरी पर भेज दिये गये थे।

सजा की मियाद पूरी होने पर कैदी अपने-आप नहीं छूट पाता था। उसके लिए सरकार का विशेष आदेश निकलना चाहिए। राजकीय बंदियों के लिए

ऐसा आदेश कभी नहीं निकलता। कोई आदेश जारी होगा भी, तो ५ साल सजा और बढ़ाने का होगा।

अन्य पोलैण्डवासियों के साथ ब्लिट सन् १९४१ में जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण के बाद, जब स्तालिन-सिकोरस्की संधि हुई, तब मुक्त कर दिया गया। उसने पोलैण्ड की सेना में नाम लिखा लिया, जो उस वक्त अलमा—अता में संगठित हो रही थी। सोवियत नागरिकों के लिए ऐसी सुखद घटना कभी सम्भव नहीं है। एक बार ध्रुव-श्रम-शिविरों में भेज दिये जाने पर मुक्ति सम्भव नहीं। उनकी मुक्ति मृत्यु के बाद ही होगी। ऐसे व्यक्तियों की संख्या कितनी है, इसका पता लगाने का कोई साधन नहीं है; लेकिन जिन लोगों ने सोवियत दृश्य के पीछे की झाँकी देखी है, उनका कहना है कि १० प्रतिशत कैदी इसी प्रकार मरते हैं। सामूहिक खेती के जमाने में ५० लाख किसानों को हद के पार भेजा गया, फिर शुद्धीकरण शुरू हुआ। इसमें वामपंथी और दक्षिणपंथी दोनों के विरोधियों को कुचला गया। ट्राट्स्की तथा बुकेरिन के अनुयायी आदि को कुचला गया। क्रान्तिकारी परम्परा वाले लोगों में विरोध की समाप्ति कैसे हो सकती है, जब कि ऐसे घातक और अचानक आघात उन्हें लगते हों। १९३८ के अगस्त में मास्को में रिबेनट्राप का प्रादुर्भाव हुआ। यह कैसे सम्भव है कि किसी ने उसका तिरस्कार न किया हो? और रूस में तो मतभेद ही एक अपराध है। सचमुच वहाँ के लोगों का जीवन कैसा होगा, पाश्चात्य लोगों को इसकी कल्पना होनी भी कठिन है। "मैं काफी रूसी परिवारों के साथ रह चुका हूँ"—ब्लिट अपने वर्णन के अन्त में कहता है—"और एक भी ऐसा परिवार मुझे नहीं मिला, जिसका कम-से-कम एक सदस्य अनुपस्थित न हो।" जब मैंने एक प्रमुख रूसी पत्रकार से इसका उल्लेख किया, तो उसने जोर देकर कुछ गर्व के साथ कहा—"जबरदस्ती मजदूरी पर लगाये गये लोगों की संख्या १ करोड़ ८० लाख से अधिक नहीं, बाकी अतिशयोक्ति है।" सरकारी अफसर २ करोड़ से अधिक संख्या का अनुमान लगाने पर रुष्ट हो गये। २ करोड़ तक की संख्या को उन्होंने भी माना है।

व्यक्तिगत रूप से प्राप्त कई रिपोर्टों में—जिनके लेखक विश्वसनीय और जिम्मेदार हैं और जिन्हें व्यक्तिगत रूप से मैं जानता हूँ—यह एक है। मैं इस बात से भलीभाँति परिचित हूँ कि सोवियत समर्थकों को तथा कई ऐसे शुभेच्छुओं को भी, जिन्हें जानकारी नहीं है, यह रिपोर्ट चन्द्रलोक की कथा प्रतीत होगी। कोई अपने विचारों में १० प्रतिशत तक सुधार स्वीकार कर

सकता है, किन्तु १००० प्रतिशत सुधार को तत्काल ही स्वीकार कर लेना उसकी शक्ति के बाहर की चीज है। पिछले दस-बीस वर्षों में कपोल-कल्पना और यथार्थता के बीच की खाई इतनी बड़ी हो गयी है कि उसे पार करने के लिए, अपने सर्वाधिक प्रिय भ्रम से जुदा होने के लिए, उतने ही बड़े मानसिक प्रयास की आवश्यकता है।

यही कारण है कि मैंने इस खंड को 'एक अप्रधान बात' का शीर्षक दिया है। यह निरीक्षण का एक हिस्सा ही है, जो निजी आँकड़ों पर आधारित है, सरकारी आँकड़ों पर नहीं। क्रुद्ध पाठक इन पर अविश्वास करने के लिए स्वतंत्र हैं। मुझे ट्राट्स्की का एजेण्ट, क्रान्तिविरोधी, जापानी जासूस, क्रुद्ध लकड़बग्घा या किसी भी नाम से जो रूस के आलोचकों पर लागू हो सकते हैं—पुकारने के लिए वे स्वतंत्र हैं, किन्तु शेष भागों में जिन अधिकृत सोवियत सूत्रों, कानूनों, आदेशों और आँकड़ों का उल्लेख किया गया है, उनके प्रति यह रुख अपनाने में वे समर्थ नहीं होंगे। मैंने वहाँ की वास्तविक स्थिति का चित्रण करने के लिए ब्लिट की साक्षी का चुनाव किया है—पाठक चाहे तो इस चित्रण की उपेक्षा कर सकता है। उससे मूल ग्रन्थ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

१२

अटल मूल तत्त्वों का सिद्धान्त

अब हम उस स्थल पर पहुँच गये हैं, जहाँ तर्कों को संयुक्त करके एक निष्कर्ष निकालने की आवश्यकता है।

गत बीस वर्षों में रूस ने जो नीति अपनायी, उसके तात्त्विक दृष्टि से दो अर्थ सम्भव हैं। एक तो यह कि रूस ने सम्भवतः अपनी समाजवादी आकांक्षायें छोड़ दी होंगी। यदि ऐसा है, तो उसकी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीति में कुछ भी गूढ़ नहीं रह जाता। उल्टे एक नूतन विकासशील राष्ट्र के नेताओं ने प्रशंसनीय चतुराई और धूर्तता से राजनीतिक दाव-पेंच का खेल खेला है, इसका सुसंगत चित्र आँखों के सामने आ जाता है। लार्ड ब्हीवरब्रुक से वेण्डेल विल्की तक के जो यथार्थवादी राजनीतिज्ञ और अर्थनीति के व्यवहार जानते हैं, उन्होंने रूस की नीति का यही अर्थ निकाला है।

रूस की नीति का दूसरा अर्थ यह है कि उस राष्ट्र का समाजवाद की ओर

आगे बढ़ना जारी है और उसके इस ओर की घटना केवल अस्थायी साधन है। परन्तु रूस के विकास का विहंगावलोकन करने पर ये साधन अस्थायी नहीं लगते। यह स्पष्ट दिखायी देता है कि रूस समाजवाद के मूलभूत तत्वों से विरुद्ध दिशा में सतत बढ़ता जा रहा है। इतना ही नहीं, उसने समाजवादी आदर्शों का त्याग कर उसके स्थान पर नया आदर्शवाद खड़ा किया है। अभी हमें इसी नये आदर्शवाद का स्वरूप निश्चित करना है, और फिर भी, रूस की नीति के पहले अर्थ के पक्ष में फैसला करने के पूर्व सोवियत समर्थक के एक और तर्क की परीक्षा करनी है—उसकी अंतिम सुरक्षा-पंक्ति। इसे इस रूप में कहा जा सकता है:—

रूस के समर्थक यह स्वीकार करते हैं कि रूस में कुछ भूल अवश्य है। अस्थायी साधनों की अपेक्षा अलग नीति और आदेश जारी होने की बात भी वे स्वीकार करते हैं; और यह भी उन्हें स्वीकार है कि इससे रूस का भविष्य संकट में आने की सम्भावना है। लेकिन जब तक रुस की आर्थिक नींव मजबूत है, यानी उत्पादन के साधनों पर सरकारी अधिकार है और मुनाफाखोरी की प्रथा बन्द है, तब तक समाजवाद की दृष्टि से रूस में कोई परिवर्तन नहीं आया है। विद्यमान् विकृत राजनैतिक और सांस्कृतिक वातावरण नवीन आर्थिक व्यवस्था के कारण देर-सवेर अपने-आप दूर हो जायेगा।

इस वक्तव्य में दो बाते हैं। पहली बात तो यह है कि व्यक्तिगत पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से रूस की आर्थिक रचना प्रगतिगामी है। दूसरी बात यह है कि ऐसी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से सुखी और विशुद्ध समाजवादी समाज अपने-आप ही निर्मित होगा। मुझे लगता है, इसमें पहली बात ठीक है, दूसरी गलत।

आर्थिक दृष्टि से रूस में राज्य-पूँजीवाद है। उत्पादन के साधन राज्य के अधिकार में है। अर्थशास्त्रियों की दृष्टि से राज्य-पूँजीवाद और राजकीय समाजवाद में कोई अन्तर नहीं है। उन दोनों में अन्तर है, तो वह राजनीतिक और सामाजिक रचना में और इस प्रश्न में कि "सब पर राज्य नियंत्रण करता है; पर राज्य का नियंत्रण कौन करता है?"

हमने यह देखा कि चुनाव या ट्रेड यूनियन द्वारा राजनैतिक या आर्थिक दबाव लाकर सरकारी नीति का नियंत्रण करने का साधन रूसी जनता के पास नहीं है। इंग्लैण्ड या अमरीका की खान के मजदूरों की अपेक्षा उरल के खान-मजदूर को अपनी मजदूरी, अपने काम के घंटे, अपनी परिस्थिति पर कम

अधिकार है। वे हड़ताल नहीं कर सकते। सरकार में अपने प्रतिनिधि नहीं चुन सकते। पार्लियामेण्ट में, समाचार-पत्रों में, रास्तों में अपनी पंक्ति नहीं लगा सकते। "ब्रिटिश नागरिक ब्रिटिश पोत का जिस रूप में मालिक है, रूसी मजदूर अपने कारखाने का वैसा ही मालिक है।" (पोलैनई)।

व्यक्तिगत पूँजीवाद की तुलना में रूस में सरकारी आधिपत्य और योजना आर्थिक दृष्टि से प्रगतिशील है—जर्मनी में निर्यात के नियंत्रण और आयात के विभाजन के समान ही—उसी अर्थ में, जिस अर्थ में नाजियों की आर्थिक योजना पश्चिमी राष्ट्रों की स्थायी नीति की अपेक्षा प्रगतिशील कही जायेगी। हिटलर का जर्मनी, युद्धपूर्व और युद्ध-काल में राज्य-पूँजीवाद की ओर वेग से दौड़ रहा था। जर्मनी में जमींदार और प्रमुख उद्योगपतियों की शक्ति शिथिल कर दी गयी थी। सरकार जो कहे, वही उत्पादन औद्योगिकों को करना पड़ता, सरकार जो कहे, वही वेतन मजदूरों को देना पड़ता और सरकार जो कहे, उसी कीमत पर माल बेचना पड़ता। वे नाममात्र के लिए कारखाने के मालिक रह गये थे। उनका अधिकार रूसी कारखाने के डायरेक्टर के बराबर ही सीमित था और उनकी आय लाभ के आधार पर रूस के डायरेक्टर के वेतन के अनुसार सरकार ही तय करती थी। इससे जर्मनी का नाजीवाद समाजवाद के मार्ग पर था और वह अधिक सुखी समाज का निर्माण कर रहा था, क्या ऐसा हम कह सकेंगे? "कदापि नहीं"—कोई भी वामपंथी क्रोध में यही उत्तर देगा। लेकिन इसी आधार पर वह रूस को समाजवादी कहेगा। यहाँ हमें ट्राट्स्की तथा अन्य साम्यवाद-विरोधियों का साथ छोड़ना पड़ेगा। उनका मत यह था कि स्तालिन की नौकरशाही ने देश में चाहे जो अंधेर मचायी हो, फिर भी रूस की अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप राष्ट्रीय होने से वह देश मूलतः समाजवादी है। मार्क्स और एङ्गल्स ने निस्संदिग्धतापूर्वक प्रतिपादन किया है कि केवल राष्ट्रीयकरण हो जाने से समाजवाद आ गया, ऐसी बात नहीं। समाजवादी समाज-रचना के निर्माण के लिए राष्ट्रीयकरण और योजना आवश्यक है; लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं—पिछले बीस वर्षों के इतिहास ने यह प्रमाणित कर दिया है। राष्ट्रीयकरण और योजना, ये समाजवाद की ओर ले जायेंगे या फासिज्म की ओर, यह उस देश की राजनैतिक और नैतिक परिस्थिति पर निर्भर है। वामपंथियों का यह विवाद कि सोवियत अर्थनीति (अर्थात् राष्ट्रीयकरण) समाजवाद है, उतना ही मिथ्या है, जितना कि दक्षिणपंथियों का विवाद—कि राज्य-नियंत्रण और योजना फासिज्म है।

ऐतिहासिक विकास-क्रम में योजना-बद्ध और राज्य नियंत्रित अर्थ व्यवस्था निश्चय ही 'प्रगति का चरण' है, पर वह औद्योगीकरण, विमान-आवागमन और कृत्रिम खाद के अर्थ में ही। रूस के प्रचारकों ने कारखाने और विद्युत-गृहों का निर्माण करके ही समाजवाद का नारा बुलन्द किया; परन्तु विद्युत्-गृह, कृत्रिम खाद, सरकारी नियंत्रण, योजना, ये स्वयं न तो वामपंथी हैं, न दक्षिणपंथी —ये केवल यांत्रिक दृष्टि से 'प्रगतिशील' हैं, सामाजिक या नैतिक दृष्टि से नहीं। 'राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' किसी भी फासिस्ट, प्रजातंत्रीय या समाजवादी राज्य-व्यवस्था की दासी बन सकती है।

इस तरह विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—जैसा एक भ्रष्ट समाजवादी सिद्धान्त हमें विश्वास दिलाना चाहता है—कि राजनीतिक, सांस्कृतिक या नैतिक परिस्थितियाँ आर्थिक नींव पर अपने-आप खड़ी होने वाली इमारत ही भर नहीं हैं, बल्कि प्राथमिक महत्त्व के वे तत्व भी हैं, जो यह निर्णय करते हैं कि आर्थिक साधनों का क्या उपयोग किया जाये।

इसके द्वारा आर्थिक स्थिति को कम महत्त्व देना हमारा उद्देश्य नहीं। जब तक उत्पादन के साधन व्यक्ति-विशेष के अधिकार में हैं, तब तक समाजवाद आना असम्भव है। उसी तरह यद्यपि समाजवाद के प्रस्थापन के लिए राष्ट्रीयकरण एकमात्र समर्थ साधन नहीं, तथापि वह एक आवश्यक अंग है, इसमें सन्देह नहीं। विगत बीस बरसों के अनुभवों के बाद मार्क्सवादियों की इस आशा को कि, केवल उत्पादन के साधनों को समाज की सम्पत्ति बना देने से ही, नये विश्व का निर्माण हो जायेगा, हमें सदा के लिए त्याग देना पड़ेगा।

१३

उद्देश्यमूलक तत्त्व और आत्मगत उत्तरदायित्व

इतिहास में वर्णित समाजवाद का प्रथम प्रयोग कब गलत रास्ते की ओर चला? क्यों चला? और क्या ऐसा होना अनिवार्य था? देखें, हम यह निश्चित कर पाते हैं या नहीं!

इतिहास में दूर तक दृष्टि गड़ाये बिना इस प्रश्न का निर्णायक उत्तर देना कठिन है, ऐसा मेरा विश्वास है। लेकिन उस उत्तर से सम्बन्धित प्रधान तत्त्वों की सामान्य रूप-रेखा तो दृष्टिगोचर हो रही है। रूस के प्रयोग से समाजवाद

की सम्भावना न तो प्रमाणित होती है और न अप्रमाणित। अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थिति में वह प्रयोग किया गया था, इसलिए वह अधूरा रह गया। समाजवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि जिस उद्योगप्रधान राष्ट्र की जनता राजनीतिक दृष्टि से अधिक सुबुद्ध है; वहीं मजदूर-वर्ग पहले सत्ताधीश होता है; परन्तु ज़ार का रूस, यूरोप की तुलना में अत्यन्त पिछड़ा हुआ था, यह सर्वविदित है। वहाँ एशियायी परम्परा थी और किसानों की संख्या मजदूरों से दसगुना अधिक थी। ८० प्रतिशत लोग निरक्षर थे। जर्मनी या अमरीका में समाजवाद का प्रयोग होता, तो उसके परिणाम बिल्कुल भिन्न होते*। किन्तु इन परिस्थितियों में भी रूस की जो यह दशा हुई, वह अनिवार्य थी या इसमें सब 'स्तालिन का ही दोष है'? इस प्रश्न से दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है, वह है ऐतिहासिक नियतिवाद का—इतिहास की सारी घटनायें पहले से ही निश्चित होती हैं या व्यक्ति उसे बनाता है ?

भौतिक शास्त्र में नियम जितने सत्य हैं, उतने ही आँकड़े। शास्त्र के नियमानुसार इतिहास की घटना होती रहती है। इतना ही हम अपने ज्ञान के आधार पर कह सकते हैं। जलवायु, आर्थिक स्थिति आदि परिस्थितियों के दबाव में जो जन-समुदाय दीर्घकाल तक रहा होगा, उस पर शीघ्र या देर में क्या प्रतिक्रिया होगी—उसका मोटे तौर पर अनुमान हम कर सकते हैं। इसमें महत्त्वपूर्ण शब्द हैं, 'शीघ्र या देर में' तथा 'मोटे तौर पर', क्योंकि इनमें नेताओं के व्यक्तिगत प्रभाव के प्रयत्न की गुंजाइश छिपी है। परन्तु यदि इतिहास का अध्ययन हम दशाब्दियों के बदले शताब्दियों के दीर्घ काल-खण्डों में करें, तो स्पष्ट जान पड़ता है कि आत्मगत तत्त्वों का महत्त्व उपेक्षणीय हो जाता है और आँकड़े-सम्बन्धी सम्भावनाएँ निश्चयों में बदल जाती हैं।

इस तरह हम आत्मविश्वास के साथ भविष्यवाणी कर सकते हैं कि यदि यातायात के साधनों की गति अधिक बढ़ी, तो यूरोप का एकीकरण निश्चित होगा। वह काम हिटलर से न हो सका, तो स्तालिन के करने की उम्मीद थी। स्तालिन न कर सका, तो कोई दूसरा उसे एक-दो सदी में पूरा करेगा। इतिहास

---

* यूरोपीय वामपंथियों का यह दुर्भाग्य है कि द्वितीय महान् समाजवादी प्रयोग—श्रमजीवी-वर्ग और जन-मोर्चा के नाम से विख्यात प्रगतिशील बुर्जुओं में मिलाप—पहली बार पश्चिम के सबसे पिछड़े हुए देश स्पेन में हुआ और परिणाम उसी प्रकार अनिर्णायक रहे।

एक नदी-जैसा है और व्यक्तिगत प्रभाव उस नदी की तह में पड़ी एक चट्टान है। नदी के पानी का, नीचे की ओर मील भर बहने पर वहाँ की धरती के आकार के अनुसार, पाट विस्तृत होगा, फिर वहाँ उसे अपनी तह में पड़ी चट्टान की क्या परवाह? परन्तु १०० गज के छोटे-से प्रवाह की दिशा वह पत्थर बदल सकता है।

राजनीति का विभाजन सदियों की नहीं, वर्षों की इकाइयों पर होता है। इसलिए नेताओं के व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और उत्तरदायित्व को मौका मिलता है। और वह इतिहास के प्रति कोई अमूर्त उत्तरदायित्व नहीं है, वरन् अपने समकालीनों के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व है। यूरोप का एकीकरण हिटलर करता है या कोई दूसरा, ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्त्व नहीं है। नाजीवाद के खुरदरे किनारे एक-दो सदी में घिसकर चिकने बन गये होते, वंशगत श्रेष्ठता का महत्त्व और यहूदियों की बातें भूतकालीन बातें बन जातीं और शाश्वत परिणाम के रूप में संयुक्त यूरोप का निर्माण हो जाता। उसका स्वरूप लगभग सन् २५०० में हिटलर की कल्पना के अनुसार होता; परन्तु राजनैतिक दृष्टि से यानी अल्पकालीन पैमाने पर मानव-यातना और इतिहास-प्रवाह को मिले दुःखद मार्ग में गहरा अन्तर नजर आता! यही नियम स्तालिन के शासन के साथ भी लागू है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिटलर या मार्शल पेतां की तरह ही स्तालिन का अस्तित्व भी अपरिहार्य न था।

रूस के इतिहास में पिछले बीसबरसों में कम-से-कम ५-६ ऐसे प्रसंग अवश्य आये कि वहाँ की राज्य-सत्ता दो समान मार्गों में से किसी एक को चुन सकती थी। वे मार्ग इतिहास में पूर्वायोजित न थे। ऐसे स्वयं ही फूट पड़नेवाले मार्गों का ही उल्लेख करना हो तो ये घटनाएँ पर्याप्त होंगी। १९२७ की चीन-सम्बन्धी नीति, १९२९-३० की खेती-सम्बन्धी नीति (खेती का शीघ्र और जबरन समूहीकरण करने से किसानों को अपने मवेशी मारने पड़े और फसल जलानी पड़ी; फलस्वरूप अकाल, शुद्धीकरण और तानाशाही शुरू हुई, सामूहिक खेती में जल्दीबाजी करने की भूल स्तालिन ने भी अप्रत्याशित रूप से स्वीकार की थी), १९२९ की प्रशिया-सम्बन्धी नीति (प्रशिया में समाजवादी प्रजातंत्र सरकार के विरुद्ध साम्यवादियों और राष्ट्रीय समाजवादियों का मिलन) और अन्त में १९३९ की स्तालिन-हिटलर-संधि।

इनमें से किसी भी अवसर पर विशिष्ट मार्ग अपनाने की कड़ाई इतिहास या भाग्य ने रूसी नेताओं पर नहीं की थी। उसकी पूरी जिम्मेदारी नेताओं पर

ही थी, और भिन्न भिन्न नीति का सुझाव देने वालों तथा अपने विरोधियों को मौत के घाट उतार कर रूसी नेताओं ने अपनी नीति आगे बढ़ायी। रूस में साम्यवादी प्रयोग के लिए शुरू में परिस्थिति प्रतिकूल थी और वहाँ के शासकों की भूल से उसमें वृद्धि ही हुई।

इन भूलों का सामान्य विभाजक क्या था? स्तालिन-सरकार की नीति के प्रेरक ध्येय क्या थे? हमने यह देखा है कि विदेशी नीति के क्षेत्र में रूस के हित के लिए, यूरोप में स्थित मजदूर-वर्ग को निर्दयता से कुचल दिया गया। परिणामतः एक भी देश में समाजवाद टिक न सका। रूसी नेताओं के यूरोप से जानबूझ कर दूर रहने के कारण यूरोप की परिस्थिति के सम्बन्ध में उनमें गहरा अज्ञान था। यही नहीं, यूरोप में वामपंथी दल के विभिन्न आन्दोलनों के प्रति द्वेष करने का पागलपन भी उन रूसी नेताओं के दिमाग और रूसी दल की परम्परा में दाखिल हो गया। अन्त में रूसी नीति में कमाल की कड़ाई आ गयी और उसमें काफी आकस्मिक परिवर्तन भी हुये। इसलिए वहाँ की स्वेच्छाचारी शासन-व्यवस्था का प्रवाह टेढ़े-मेढ़े रास्तों से बहने लगा और उसमें वैधानिक विरोध और लोकमत का सन्तुलन भी बह गया।

आन्तरिक नीति में समाजवादी सिद्धान्तों के क्रमिक लोप के लिये हमें दो मुख्य तत्त्व जिम्मेदार प्रतीत होते हैं। नये शासक-वर्ग की अपने स्थायित्व की प्रवृत्ति और क्रान्तिकारी प्रेरणाओं का विनाश। इन सभी सूत्रों में यह अन्तिम सूत्र है; जो सोवियत प्रयोग का ढांचा निश्चित करता है, उसकी असफलता का निर्माण करता है।

१४

नवीन प्रेरणाओं का पतन

मध्य युग की सामन्तशाही में मनुष्य को धर्म से प्रेरणा मिलती थी। उसके स्थान पर पूँजीवाद ने आर्थिक स्पर्द्धा की प्रेरणा दी। उस प्रेरणा के बिना पूँजीवाद जीवित ही नहीं रह सकता। उस पूँजीवादी स्पर्द्धा की जगह नयी प्रेरणा निर्माण करने का काम समाजवाद का है—उसके बिना समाजवाद अस्तित्व में नहीं आ सकता।

१९१७ की क्रान्ति ने मुनाफाखोरी की प्रेरणा और आर्थिक स्पर्धा को भंग

किया। दूकानदार सरकार का नौकर बन गया। उसका वेतन दूकान के व्यापार पर निर्भर न रहा। किसान धीरे-धीरे मजदूर बना। उसके पारिश्रमिक का कुछ हिस्सा अनाज के रूप में दिया जाता। लेकिन उसमें खेती या अपने जानवरों के लिए अपनेपन की भावना न रही। मजदूर को दण्ड और निकाले जाने का भय नहीं रहा। पाठशाला में विद्यार्थी, जिसमें अपनी रुचि होती, वही सीखने लगे। बिना अधिकारी के सैनिक लड़ने लगे और बिना पुरोहित के विवाह होने लगे। तलाक तो केवल इच्छा-मात्र से मिलने लगा।

क्रान्तियुग की नयी प्रेरणायें थीं—व्यक्तिगत स्पर्द्धा की बजाय सामूहिक भावना, आर्थिक और कानूनी दबाव की बजाय स्वेच्छया अनुशासन, सामाजिक उत्तरदायित्व का ज्ञान और अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीय संगठन, जन्मगत या पद की प्रतिष्ठा के स्थान पर श्रम की महत्ता; ईश्वर और नेताओं के वात्सल्य के स्थान पर समता की भूमिका पर नागरिक बन्धुत्व, द्वेष के स्थान पर सुधार, कड़ाई के स्थान पर समझौता; संक्षेप में 'सबके लिए मैं और मेरे लिए सब कोई'—समता की, संगठन की और भ्रातृभाव की यह भावना सर्वत्र फैली और इससे सब ओर एक नवीन आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण हो गया।

यह सब आज क्रूर व्यंग्य-सा लगता है। कट्टर कम्यूनिस्ट के मन में भी, यह वर्णन सुनकर 'केवल स्वप्न', 'कोरी कल्पना', 'भावुकता'—जैसे शब्द अपने-आप मुँह से निकल पड़ते हैं। पच्चीस साल तक रूस की यथार्थता के अनुभव ने अनजाने ही उन्हें मानव-द्वेषी बना दिया है। और चूँकि वे यह विश्वास करना चाहते हैं कि रूस का अर्थ ही समाजवाद है, इसी से वे समाजवाद का सही अर्थ भी भूल गये हैं। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की प्रेरणाएँ नष्ट हुईं, लेकिन उनके स्थान पर नवीन मानवीय प्रेरणायें नहीं आयीं। इससे रिक्तता पैदा हुई और समाज को लकवा मार गया। किसी भी समाज की अर्थव्यवस्था चाहे कैसी हो, यदि उसमें कार्य की प्रेरणा और नैतिक मूल्य नहीं हैं, तो उस समाज का अन्त अराजकता में होगा—या वह तानाशाही के कोड़ों के नीचे चलने वाला मूक जन-समूह में बदल कर रह जायगा।

१९१७ में रूस में जिस नये उत्साह की लहर पैदा हुई, वह आरम्भिक विघ्न-विरोध के बिना ही सफल होगी, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। परन्तु रूस के समाजवाद का इतिहास प्रगति और अवनति के क्रम से नहीं बना है। वहाँ की विकास-रेखा पहले दस बरस सीधे ऊपर चढ़ने वाली और बाद में सतत और अखण्ड रूप में नीचे की ओर आनेवाली है। इसके फलस्वरूप क्रांति के

बाद एक पीढ़ी बीत जाने पर जीवन के सभी क्षेत्रों से नयी प्रेरणाएँ निरपवाद उड़ गयीं और उनके स्थान पर पुरानी तिरस्कृत प्रेरणाएँ आ बैठीं।

इस विकास को पूर्ण करने का काम दूसरे महायुद्ध ने किया। १२ सितम्बर, १९४३ के दिन मास्को-स्थित गिरजाघर में धर्मगुरु की अधिकृत स्थापना हुई। यह घटना कई दृष्टि से अर्थपूर्ण थी। मानव-समाज के सामने नया ध्येय, नयी नैतिक निष्ठा और जीवन-मरण-योग्य नयी श्रद्धा निर्माण करने के काम में रूसी राज्य-व्यवस्था असफल रही, यह उसकी भी स्वीकृति थी। रूस का कोई शुभेच्छु कहेगा कि नये वातावरण का निर्माण करने के लिए एक पीढ़ी का समय अपर्याप्त था। लेकिन वह यूरोप में हुये सुधार-आन्दोलनों को देखे और इस्लामी मजहब के इतिहास की ओर दृष्टि फेरे। जो सच्ची मानसिक क्रान्ति होती है, वह कभी भी बरसात की बाढ़ की तरह वेग से दौड़ आती है और अपनी भावनात्मक शक्ति के प्रवाह में जीर्ण परम्परा को बहा ले जाती है। ल्यूथर, मोहम्मद या गेलिलियो को तो एकाधिकारी समाचारपत्र या आकाशवाणी की मदद भी प्राप्त न थी। नाजी आन्दोलन ने यह सिद्ध कर दिया कि कितने थोड़े समय में बड़े राष्ट्र में मानसिक परिवर्तन किया जा सकता है। उसने केवल दस साल में ईसाई धर्म और मानव-धर्म को हटा कर वहाँ अपना आसन जमाया।

'रूस में पुरानी धर्मसंस्थाओं को पुनर्जीवित किया गया, क्योंकि बाल्कन राष्ट्र के लोगों के मन जीतने थे', रूस के समर्थक यही कहेंगे, जो काफी हद तक सही होगा। लेकिन इससे तो हमारी बात ही प्रमाणित होती है। रूस के समाजवाद के पास पर्याप्त नैतिक आकर्षण न होने से, उसे अपनी आन्तरिक और बाह्य नीतियों का समर्थन प्राप्त करने के लिए धार्मिक प्रेरणाओं पर निर्भर रहना पड़ा।

स्लाव जाति के लोगों की कांग्रेसें मास्को में १९४१ से हर साल होती रहीं। उसमें पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, बल्गेरिया, युगोस्लाविया, मान्टेनिग्रो आदि देशों के प्रतिनिधि उपस्थित रहते। यदि ये भाषण १९१० में दिये गये होते, तो भी प्रतिक्रियावादी प्रतीत होते। स्लाव जाति का नेतृत्व 'मजदूरों की पितृभूमि' के हाथ आया। अब 'पूँजीवादी समाज-रचना' उसका प्रतिस्पर्द्धी नहीं था, बल्कि स्लाव जाति का चिर शत्रु ट्यूटोनिक आक्रमणकारी ही उसका प्रतिस्पर्द्धी था।

'सब जर्मनों का एकीकरण' यह सुनते ही रूस के समर्थक क्रुद्ध हो जाते हैं;

परन्तु 'सब स्लावियों का एकीकरण' यह कहने से वे सहानुभूति से देखने लगते हैं। लेकिन सही रूप में देखा जाये, तो स्लावियों के एकीकरण का आन्दोलन जातिगत है और उसने रूस की साम्राज्य-विस्तार की नीति का समर्थन किया है। उसका मुख्य ध्येय बाल्टिक एजिअन और एड्रियाटिक समुद्र का प्रवेश-मार्ग प्राप्त करना था। आज भी वही है। कामिण्टर्न संस्था का विसर्जन कर, उसके स्थान पर धर्म-संस्था और स्लाव एकीकरण आया, मतलब यह हुआ कि रूस ने समाजवादी नीति त्यागकर साम्राज्यवादी नीति अपनायी थी।

इस परिवर्तन के समय नयी सैनिक नीति और देशाभिमान की नयी लहर उठी। सैनिकों की शपथ बदल गयी। रूसी सैनिक को पहले यह शपथ लेनी पड़ती थी—"मजदूरों की मुक्ति, समाजवाद और मानवमात्र के बन्धुभाव का महान् ध्येय सिद्ध करने के लिए लड़ने और अपने सारे विचार-आचार उसी ओर कार्यरत करने की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ।" पर १९३९ से वे यह शपथ लेते हैं—"अपनी पितृभूमि और अपनी सरकार की आजीवन सेवा करने की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ।" १५ मार्च, १९४४ को राष्ट्रगीत से अन्तर्राष्ट्रीय शब्द का उन्मूलन कर दिया गया और उसकी जगह यह राष्ट्रगीत आरम्भ हुआ—"स्वतंत्र प्रजातंत्रीय राज्यों का संघ महान् रूस.....।"

इस नये राष्ट्रगीत में अंतर्राष्ट्रीयता का कोई उल्लेख नहीं था।

पुराने विचार के सैनिक-विद्यालय २३ अगस्त, १९४३ के दिन खोले गये। उसी साल १० अक्तूबर को सेना से राजनैतिक कमिसारों (उच्च अधिकारियों) का पद समाप्त कर दिया गया। १९४२-४३ के शरत्काल में 'गार्ड रेजीमेण्ट' पुनः शुरू की गयी। 'लेनिन-पदक' और 'लाल निशान का पदक' के स्थान पर 'सुवाराव,' 'कुटुज़ाव,' 'अलेक्जेंण्डर-नेवेस्की' के नाम के पदक ता. २९ जुलाई, सन् १९४२ से शुरू किये गये। १९३५ से अधिकारियों का अलग भोजन-गृह और क्लब आरम्भ हुआ। सलामी फिर से शुरू हुई। ज़ार की सेना के अधिकारी सम्मान के जिन चिह्नों का प्रयोग अपनी पोशाक पर करते थे, वह फिर से शुरू करने का आदेश ६ जनवरी, १९४३ को जारी हुआ। नये सम्मान-चिह्न बनाना मुश्किल न था, परन्तु इस आदेश का उद्देश्य समस्त विश्व को यह जताना था कि क्रान्ति के पागलपन के बचे हुए अवशेष भी हमेशा के लिए कब्जे में आ गये हैं।

इस नयी नीति के अनुसार पाठशाला की पुस्तकें, इतिहास के ग्रँथ, यहाँ तक कि इनसाइक्लोपीडिया भी अलग लिखे गये। 'शुद्धीकरण' के समय तक

पोक्रोव्हस्की रूस का प्रमुख इतिहासकार था। उसने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से इतिहास की ओर देखा और देशाभिमान और वीर-पूजा के स्वाँगों पर हमला किया था। १९३४ में पोक्रोव्हस्की की इतिश्री हो गयी। उसकी जगह सेस्टाकोव्ह आया। उसकी सुप्रसिद्ध इतिहास-पुस्तक १९३६ से सभी पाठशालाओं में शुरू हो गयी। उस पर यह ध्येय-वाक्य लिखा था—"हम अपने जिस राष्ट्र से प्यार करते हैं, उसका आश्चर्यजनक इतिहास हमें मालूम होना चाहिए।" इसके बाद आया टार्ले। उसके समय में तो इतिहास का रूप बड़ा विलक्षण और सर्वथा नवीन हो गया।

शुद्धीकरण तक—१७-वीं, अथवा १८-वीं सदी में हुये महान् लोकप्रिय विद्रोहों के नेता—बुलाविन स्टेंका राजिन और एमेलियन पुगाचाऊ—सरकारी और सही तौर पर मजदूर-क्रान्ति के अग्रदूत मान लिये गये। लेकिन उन नेताओं में बुलाविन ने स्तालिन के आराध्यदेव "पीटर द' ग्रेट" के विरुद्ध विद्रोह किया था और शेष खान-मजदूरों और खेतिहरों के नेता पुगाचाऊ को प्रिन्स सुवाराव्ह ने पराजित किया था। इसी प्रिन्स की स्मृति में स्तालिन ने 'सुवाराव्ह-पदक' जारी किया था। कुछ भी हो, वे नेता सरकार के विरुद्ध उठे, अतः विद्रोही थे और इसीलिये उनका कार्य गलत था। फलतः रूस के अधिकृत इतिहासकारों ने यह निश्चय किया कि "पहले के क्रान्तिकारी नेता राजनीतिज्ञ ही नहीं थे। उनके आन्दोलनों में गुण्डाशाही थी।" इस सिद्धान्त के अनुसार स्पार्टाकस से डैंटन और लेनिन तक का सारा क्रान्तिकारी इतिहास 'गुण्डाशाही से' भरा मानकर एकबारगी नष्ट किया जा सकता है।

७ नवम्बर, १९४१ को—रूसी राज्य-क्रान्ति की २४-वीं वर्ष-गाँठ के दिन—स्तालिन ने एक सुप्रसिद्ध भाषण दिया, जिसने वीर पूजा की नयी प्रथा आरम्भ की। स्तालिन ने कहा—"यह कामना है कि इस महायुद्ध में हमें अपने प्यारे पूर्वजों के पराक्रम के स्मरण से स्फूर्ति मिले। पूर्वजों से अर्थ है—अलेक्-ज़ेन्डर, नेवेस्की, डिमिट्री, डिनेस्की, कुजमामिनन्, डिमिट्री पोजहार्स्की, अलेक्-जेन्डर सुवाराव्ह और मायखेल कुटजाव आदि।" अत्यधिक प्रचार ने इन छः पुरुषों को रूस की महान् आत्माएँ बना दिया—जिनका स्थान मार्क्स, एन्जेल्स तथा क्रान्तियुग के पुराने हुतात्माओं के बराबर हो गया।

रूस के इन छः राष्ट्र-सन्तों की पंक्ति में चार राजपुत्र थे और एक सन्त, और इनमें एक भी सामाजिक प्रगति का समर्थक न था। कुजमामिनन् के सम्बन्ध में १९३० के रूसी इनसाइक्लोपीडिया में यह उल्लेख है—"वह

मातृभूमि के लिये वर्गरहित भावना से युद्ध करने वाला योद्धा था और इसलिए उसे राष्ट्रवीर मानना चाहिए—ऐसा मध्यमवर्गीय इतिहासकारों का मत है।" प्रिन्स पोजहार्स्की १६११ में अपने सैनिकों को पोलिश लोगों के विरुद्ध लड़ने ले गया। प्रिन्स सुवाराव्ह ने फ्रान्स की राज्यक्रान्ति से टक्कर ली और पुगाचाऊ ने मजदूर-क्रान्ति का विरोध किया। प्रिन्स कुटुजाव्ह ने किसानो का विद्रोह दबा दिया, नेपोलियन ओर पोलिश लोगों को परास्त किया। प्रिन्स डानस्काय ने १४-वीं सदी में मंगोलियों से युद्ध किया। वह सत्य-धर्मावलम्बी गिरिजाघर का एक सन्त था।

कला और साहित्य भी इसी लहर में बहने लगे। रूसी चित्रकार भूतकालीन युद्ध और वर्तमान क्रान्ति के चित्र रंगने लगे। वहाँ के कवि 'मातृभूमि की पवित्र चरण-धूलि' का पुनः स्तवन करने लगे, और वहाँ के उपन्यासकार पुराने राष्ट्रवीरों के चरित्र चित्रित करने लगे। १९४२ में जिन उपन्यासो को 'स्तालिन-परितोपिक' मिला, उनमें ऐसे ही राष्ट्रवीरों के गुणगान हैं। उस वर्ष जिस गीतमय कविता को 'स्तालिन-पारितोपिक' दिया गया, उसकी पहली पंक्ति यह है—"मैं एक रूसी मनुष्य हूँ, मास्को नगरी का पुत्र हूँ—रूसी वैभव का उत्तराधिकारी हूँ।"

उस साल पारितोपिक-प्राप्त 'फ्रंट' नामक नाटक में दिखाया गया है कि युद्ध में एक बालशेविक नेता मूर्ख है और इसलिये उसे अपनी जगह से निकाल दिया जाता है। उसी वर्ष अलेक्सी टाल्स्टाय ने एक नाटक लिखा। उसकी फिल्म भी बनी। उसमें इव्हान के अत्याचारों का चित्रण किया गया है, लेकिन वे सारे अत्याचार काल्पनिक हैं। क्रूर इव्हान वास्तव में संयुक्त और शक्तिशाली रूस और उसकी सामर्थ्यशालिनी सेना का संस्थापक था; उसने जो कुछ भी किया, ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक था, कोलार्ज ने अपनी पुस्तक में ऐसा बतलाया है। इसी प्रकार ट्रुड को दी गयी आइजेन्स्टीन की एक मुलाकात है। रूस द्वारा अपने आतंक के शासन का 'ऐतिहासिक आवश्यकता' नाम देकर बचाव करना बिल्कुल प्रत्यक्ष है और इस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। यह एक लम्बा और सोवियत संघ की क्रमिक आध्यात्मिक उन्नति का प्रतीकात्मक रास्ता है।

* * *

जर्मनी ने लगभग सम्पूर्ण यूरोप को पराजित किया और रूस उदार और तटस्थ वृत्ति से यह सब देखता रहा। सैद्धांतिक युद्ध की कल्पना का रूसी

सरकार ने उपहास किया। जर्मनी ने जब फ्रान्स पर हमला किया और जब मित्रराष्ट्र पराभव के किनारे पर खड़े थे, तब रूस ने 'दूसरा मोर्चा' नहीं खड़ा किया। जब जर्मनी ने खुद रूस पर ही आक्रमण किया, तभी रूस राष्ट्रीय नीति की घोषणा के साथ अपने राष्ट्र के सुरक्षार्थ युद्ध के लिये खड़ा हो गया। उसका यह युद्ध मार्क्स के बजाय सुवारावह के नाम से चला। उसमें अन्तर्राष्ट्रीय गीत की जगह राष्ट्रीय गीत गाया जाने लगा, उसके सैनिक जार के सम्मान चिह्न लगाने और दाढ़ी वाले पुरोहितों के आशीर्वाद ले-लेकर रणक्षेत्र की ओर कूच करने लगे—इन सब का एक ही अर्थ है और वह है समाजवादी प्रेरणा का विनाश। १९१७ की क्रान्ति ने कार्य की जो नयी प्रेरणायें रूसी जनता के हृदय और मस्तिष्क में पैदा की थीं—वे सब स्तालिन के शासन द्वारा निर्मित कपटपूर्ण वातावरण में सुरझा गयीं। वे प्रेरणाएँ नूतन, कोमल मानसिक शक्तियाँ थीं। दक्षता से उनका पोषण करना चाहिये था। प्रेम और बन्धुत्व के वातावरण में वे बढ़तीं और उनकी जड़ें गहरी जातीं और उन्होंने नये मानव को जन्म दिया होता, परन्तु स्तालिन का शासन १८-वीं सदी के जड़वाद की उपज थी, उसने मानसिक निर्णायक शक्ति के महत्व को नहीं परखा। 'साध्य से साधनों की योग्यता' के सिद्धांत पर वह शासन-व्यवस्था आधारित थी। वह मूक किसान की निष्क्रियता से शीघ्र ऊब गयी। उसने मनुष्य के जीवित समाज को प्रयोग-शाला का कच्चा माल मान कर उस पर छेनी, हथौड़ा, रसायन तथा प्रचार के प्रखर आघात किये। उसके प्रयोग ऊपरी तौर पर सफल मालूम होते हैं। जनता से जो-जो कहा गया, उस पर उसने विश्वास किया और अपने नेताओं की जयजयकार की। उस समय ऐसा लगा कि वे जर्मनी या जापान के शूरवीरों की तरह कष्ट सहकर लड़े और मरे। परन्तु उनके अन्तर में प्रेरणा के श्रोत सूख गये थे। इसलिए उनके स्थान पर कहीं धूल में पड़ी पुरानी प्रेरणाएँ लाकर बिठानी पड़ीं।

नये नैतिक वातावरण में, नये मानव-समाज का निर्माण करने में रूसी क्रान्ति असफल रही। इस असफलता का कारण था—उसके सिद्धान्त का १९-वीं सदी का जड़ भौतिकवाद। उस सिद्धान्त ने यह नहीं पहचाना कि मनुष्य को आध्यात्मिक पोषण की भी आवश्यकता होती है। इसलिए धर्म की पुरानी अफीम से युक्त औषध का उपयोग समाजवादी रूस को करना पड़ा।

भ्रम का अन्त

"पहले तो जर्मन सेना और फिर बाद में कम्यूनिस्ट सेना-द्वारा एक जोरदार प्रहार होते ही, पोलैंड विनष्ट हो गया। वार्सा-सन्धि की कुरूप संतान पोलैंड, उन लोगों को दबा कर, जो पोलैंडवासी नहीं थे, जीवित रहा था। अब पुराने पोलैंड को पुनः जीवित करने का प्रश्न ही नहीं उठता, यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है।"

—मोलोतोव (३१ अक्टूबर, १९३९)

"मेरी सदैव यह इच्छा रही कि पोलैंड स्वतन्त्र एवं समर्थ रहे।"

—स्तालिन (१९४४)

१

रूसी सत्तासंघर्ष के तरीके

हमारी जाँच के जो परिणाम निकले, वे इस प्रकार हैं:—

सोवियत रूस पूँजीवादी तानाशाही और स्वेच्छाचारी राज्य है। आर्थिक क्षेत्र में वह प्रगतिवादी है, परन्तु अन्य सभी क्षेत्रों में वह प्रतिगामी है। राजनीति, संस्कृति, शासक और शासित का सम्बन्ध आदि विषयों में, लगभग सभी पूँजीवादी-प्रजातंत्रीय राष्ट्रों की तुलना में वह प्रतिगामी है। उसकी नीति राज्य-विस्तार की है। उसके साधन नये होने पर भी साम्राज्यवादी रूस के पुराने लक्ष्य ही उसके मन में प्रतिबिम्बित हैं।

दुनिया के अन्य राष्ट्रों में जो मजदूर-वर्ग और प्रगतिशील शक्तियाँ हैं, उनका अन्य किसी भी शक्तिशाली राष्ट्र की अपेक्षा रूस की नजर में अधिक अथवा विशिष्ट महत्त्व नहीं है। रूस न तो दक्षिणपंथियों के लिये आशंकित होने की चीज है और न वामपंथियों के लिये विचार करने की। अन्य राष्ट्रों के वामपंथी या दक्षिणपंथी दलों के प्रति रूस जो रुख अपनाता है, वह केवल अपने क्षणिक स्वार्थ के अनुसार होता है। पहले की तरह ही आज के बाद का रूस, सामयिक आवश्यकतानुसार, अपने मित्र चुनेगा या उन्हें छोड़ देगा। ऐसे समय वह इस बात की बिल्कुल चिन्ता नहीं करता कि उसका राजनीतिक सिद्धान्त क्या है।

इसके लिये दो विशेषताओं की आवश्यकता है। सबसे पहले रूस और अन्य राष्ट्रों की राज्यव्यवस्था में एक अन्तर है। सत्ता-सम्बन्धी कूटनीति तत्त्व-शून्य और अवसरवादी होती ही है। आपत्ति के समय, यश-प्राप्ति के लिए हमेशा नीति का बलिदान दिया जाता है। परन्तु इस नीतिशून्यता और तत्त्व-शून्यता में मात्राओं का अन्तर होता है।

प्रजातंत्रीय राष्ट्रों में विदेशी नीति पर लोकमत का बहुत ही कम प्रभाव रहता है। लेकिन कई बार जनमत के कारण अनर्थ टल जाते हैं। उदाहरणार्थ, लावल-होअर संधि को देखिये। यह सत्य है कि कभी-कभी ही जनमत का ऐसा प्रभाव होता है। परन्तु शासनकर्ताओं पर इसका गुप्त दबाव सदा बना रहता है। आंशिक रूप में ही क्यों न हो, शासकों को मतदाता-संघ को महत्त्व देना ही पड़ता है, स्वातन्त्र्य उपभोग करने वाले कई समाचारपत्रों को महत्त्व देना पड़ता है, और पार्लियामेंट के विरोधी दल को तो और भी अधिक सम्मान देना पड़ता है। जनमत की अभिव्यक्ति के ये साधन चाहे जितने धुँधले, निर्बल और अस्पष्ट हों, फिर भी उन्हें टाल देना शासक के लिये सम्भव नहीं। यह सच है कि कई बार प्रजातंत्र के इन साधनों की बहुत प्रशंसा की जाती है; लेकिन वामपक्ष उनके औचित्य को सदा से हेय समझता है। वास्तविकता यह है कि इन साधनों से राज्य-व्यवस्था शुद्ध और सन्तुलित रखने में सहायता मिलती है, और इसलिए इंग्लैंड और अमरीका की राजनीति, रुक-रुक कर बदलती हुई, रुक-रुक कर चलती है; परन्तु रूस की तरह टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर अनियन्त्रित रूप में नहीं दौड़ती।

कभी-कभी प्रजातंत्रीय राष्ट्र तानाशाहों की प्रशंसा भी करेंगे, परन्तु चौबीस घंटों में अपने मोर्चे बदलना या स्याही सूखने के पूर्व ही सन्धिपत्रों को फाड़ देना, उनके लिये असंभव है। सोवियत रूस या नाजी जर्मनी के नेता इन नियंत्रणों से जकड़े नहीं होते। वे एक शून्य स्थान में बैठकर राज्य चलाते हैं, और इसलिए वे अपना मुँह फिरा सकते हैं, और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने साथियों को चकित कर दे सकते हैं। आगामी राजनैतिक झगड़े में रूस को इससे काफी लाभ होने वाला है। उसकी भावी नीति के बारे में किसी को कोई अनुमान नहीं हो सकेगा। जहाज के तल में जैसे भारी वजन भरा रहने से जहाज का सन्तुलन बना रहता है, उसी तरह, किसी भी राष्ट्र की राजनीति के मूल नैतिक मूल्य, वजन के रूप में राष्ट्र को सतुलित रखने के लिए होने ही चाहिये। नैतिक आधार से हीन राष्ट्रों की नीति, परम्परा से दबे हुए राष्ट्रों की

अपेक्षा अधिक कपटपूर्ण होती है। पश्चिम यूरोपीय राष्ट्र के राजनीतिज्ञ भी कभी-कभी सन्धि तोड़ते हैं, लेकिन उस समय वे लाचार होते हैं, और ऐसा करते समय उनका मन उन्हें कोसता रहता है। दूसरी ओर रूसी नेता अपने पूँजीवादी मित्रों को हँसते-हँसते धोखा देते हैं और उस समय उनका मन बिलकुल शान्त होता है; क्योंकि उन्होंने इस 'पूँजीवादी नीति' का तिरस्कार करना ही सीखा है—साथ ही, उनके मन में यह सुप्त भावना रहती है कि वे एक ध्येय के लिए ही सब कुछ कर रहे हैं। बात इतनी ही है कि वे अपने सही ध्येय को बिलकुल भूल गये होते हैं।

१९-वीं सदी की परम्परा में रहने वाले पाश्चात्य राजनीतिज्ञों को राजनीतिक आघात देने वाला यह नया खेल समझने में समय लगेगा। उन्हें अब तक उस खेल की झांकी भर ही मिली है। जब तक उसका उन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक रूस लाभान्वित होता रहेगा। म्युनिक-काल में नाज़ी जर्मनी भी ऐसे ही लाभान्वित हुआ था।

२

रूसी और अन्य शासकों में एक दूसरा अन्तर भी है। बालशेविक पक्ष और अन्य वामपक्ष में पहले से जो स्पर्धा है, उससे यह दूसरा अन्तर आया है। सिद्धान्तों के संघर्ष के फलस्वरूप उसका जन्म हुआ है। यद्यपि वह संघर्ष कभी का समाप्त हो गया है, परन्तु संघर्ष समाप्त होने पर भी ईर्ष्या और प्रतिहिंसा शेष रहती है; वही यहाँ भी है। इंग्लैंड, फ्रान्स, इटली, पोलैंड, आस्ट्रिया और स्पेन आदि देशों के मजदूर-दल और समाजवादी-दल के कार्यकर्ता और नेता द्वितीय समाजवादी-आंदोलन के सदस्य थे, किन्तु रूस की दृष्टि में वे 'क्रान्ति-विरोधी अल्पसंख्यक' हैं। कई रूसी समर्थकों को भी यह विदित नहीं है। रूस का यह द्वेष कितना भयंकर और विषैला है, यह इसी से स्पष्ट है कि बढ़ते हुए फासिस्ट के संकट का सामना करने में यूरोप के समाजवादी कार्यकर्ताओं के साथ सहयोग करने से मास्को ने बराबर इनकार किया, हिटलर के बंदी-शिविरों में साम्यवादी और समाजवादी कार्यकर्ताओं को पास-पास रख कर मार डाला गया और फिर भी साम्यवादी, समाजवादियों को 'सामाजिक फासिस्ट' कह कर गालियाँ देते ही हैं।

१९३४ में रूस ने फ्रान्स और चेकोस्लोवाकिया देशों के साथ सैनिक संधियाँ कीं और वह स्वयं 'लीग आव नेशन्स' में शामिल हुआ। उस समय विदेशी

नीति के लिये आवश्यक होने से उसने 'जन-मोर्चा' बनाया। रूस ने ऐसी एकता का प्रदर्शन किया, परन्तु वामपक्ष के बारे में उसका वास्तविक रूप में हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ। 'जन-मोर्चा' की समितियाँ और फासिस्ट-विरोधी शान्तिवादी मोर्चा के आवरण के पीछे उनके कारनामे और षड्यंत्र वेग से चल रहे थे। स्पेन में युद्ध के समय वह अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गया। बाद में, युद्ध के जारी होते ही, रूस ने सभी वामदलों का नाश करने के लिए शस्त्र उठाये। साम्यवादियों की नीति बहुत चंचल होती है। उसका एक ही भाग स्थिर होता है; वह है विरोधियों के प्रति असहिष्णुता।

विगत कुछ वर्षों में साम्यवादी दल ने प्रशिया के उच्च वर्ग से सहयोग किया, आस्ट्रिया के साम्राज्यवादी दल से मित्रता जोड़ी, इटली के कैथोलिकों से दोस्ती की, उनके पोप से वार्तालाप करके उनके मत को मान्यता दी, और अमरीका के प्रजातंत्रीय (रिपब्लिकन) और गणतंत्रीय (डेमोक्रेटिक) दलों का घुमा-फिरा कर समर्थन करके उनकी सहायता करने का वचन दिया। केवल दो सालों में ही उसने ब्रिटिश मजदूर-दल को बार-बार बदनाम किया—कभी उस दल के महायुद्ध का समर्थन करने की बात लेकर और कभी पर्याप्त समर्थन न करने की बात लेकर, कभी जर्मन-विरोधी नीति को अपनाने की बात लेकर, और कभी जर्मनी के अनुकूल नीति अपनाने की बात लेकर। उस साम्यवादी दल ने इंग्लैंड के मजदूर-दल को जितनी और जैसी गालियाँ दीं, वे मछलियों का व्यवसाय करने वाली स्त्रियों को भी मात करने वाली थीं—स्वयं रूस के सरकारी वकील को भी सुनकर शर्म लगती थी। मज़ा तो यह है कि बाद में साम्यवादी दल ने उसी मजदूर-दल से सम्बन्ध जोड़ने की प्रार्थना की। अपने ही शब्द उसने निगले-उगले और फिर निगले। किसी भी परिवर्तन को स्वीकार करने के लिये साम्यवादी दल तैयार रहता है। केवल एक ही परिवर्तन वह नहीं कर सकता। मजदूर-वर्ग के अन्य दलों के साथ सच्चा सहयोग करने के लिये वह स्वयं में परिवर्तन नहीं स्वीकार करता।

रूसी दल की परम्परा में ही यह त्रुटि अंतर्भूत है। बालशेविक (बहुसंख्यक पक्ष) और मेनशेविक (अल्पसंख्यक पक्ष) इन दोनों में १९०३ की लंदन-कांग्रेस में जो फूट पड़ी, वह अब तक नष्ट नहीं हुई। बालशेविक क्रांतिकारी और केंद्रीय सत्तावादी थे। मेनशेविक सुधारवादी और प्रजातंत्र के भक्त थे। उसके बाद के काल में लेनिन के अनुयायियों ने मेनशेविक शब्द का प्रयोग सभी सुधारवादी समाजवादी दलों के लिये करना आरम्भ कर दिया। १९१९ में

'कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल' की स्थापना होने पर 'मेनशेविक', 'समाजवादी' का पर्यायवाची बन गया।

गत दस वर्षों में समाजवादी दल ने कई बार क्रान्तिकारी नीति को स्वीकार किया, परन्तु वहाँ के साम्यवादी दल ने समेटने की नीति अपनायी। दोनों प्रतिस्पर्धियों की भूमिकाएँ बदली गयीं। तात्त्विक मतभेद तो शेष नहीं थे, किन्तु 'क्रान्तिविरोधी मेनशेविकों' का विवेकशून्य द्वेष शेष था। जैसे जंगली टोलियाँ कलह का कारण भूल जाने पर भी पीढ़ियों तक आपस में द्वन्द्व-युद्ध करती रहती हैं, वैसी ही बात थी यहाँ। जंगली गुट, धार्मिक पंथ और राष्ट्र की तरह विशिष्ट सम्प्रदाय के आन्दोलन भी द्वेष की परम्परा को अकारण जारी रखते हैं। किन्तु रूस की राजनीतिक नीति का एक दूसरा युक्तिसंगत कारण भी है। पूँजीवादी राष्ट्रों से मित्रता जोड़ना मजदूरों के स्वतंत्र आन्दोलनों से समझौता करने की अपेक्षा सरल है, रूसी नेताओं की यह मान्यता है। पूँजीवादी राष्ट्रों से दोस्ती करते समय निर्विकार मन से परस्पर का हिताहित नापतौल करके देख सकते हैं। किन्तु मजदूर-वर्ग के नेताओं से समझौता करते समय नैतिक और आदर्शवादी प्रश्न उपस्थित होते हैं। फिर रूस अपनी छल-नीति नहीं चला पाता, क्योंकि उस पर नैतिक दबाव आ जाता है।

इंग्लैंड के साम्यवादी दल और मज़दूर दल का नाता जुड़ भी जाता, तो १९३९ के सितम्बर में वह निश्चित ही टूट गया होता; क्योंकि मजदूर-दल स्तालिन-हिटलर-सन्धि को मान्यता न देता। अथवा यदि वह मित्रता टिक ही जाती, तो १९४१ में युद्धपोषक नीति को मजदूर-दल ने अस्वीकार किया होता। 'कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल' संस्था का, रूसी सरकार का अंधे के समान अनुकरण करते रहने पर भी, क्रेमलिन की नीति में दमन ही हुआ। फिर वामपंथी और वाममार्गी आन्दोलन रूस को कितने भारी लगते होंगे, यह सोचा जा सकता है। रूसी नेताओं ने भली प्रकार जान लिया था कि पराये से व्यवहार करना सरल होता है और घर के आदमी से बरतना कठिन। ध्येयवादी शक्ति और संस्था से छलकपट नहीं किया जा सकता, इसलिए रूस की 'कम्यूनिस्ट पार्टी' से पुराने सदस्यों को दूर किया गया और पक्षातीत विशेषज्ञों को अपनाया गया। इससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत में मज़दूर-दल के नेताओं से वार्तालाप करने की अपेक्षा इंग्लैंड में बीव्हरब्रुक और अमरीका में विल्की से सम्बन्ध रखना रूस को अधिक सुखदायी लगा। रूसी सरकार के सम्मान का पदक रिबेनट्राप के बाद बीव्हरब्रुक नामक विदेशी राजनीतिज्ञ को ही सर्वप्रथम मिला। इसी नीति को लेकर रूस ने

'अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-कार्यालय' में भाग लेने से सोद्देश्य इनकार किया। उद्देश्य यह था कि रूस के मज़दूर-सम्बन्धी कानून और वहाँ के मज़दूरों की स्थिति, दुनिया की दृष्टि में न आये और वे उसकी आलोचना के पात्र न बनें।

रूसी नेता जैसे आप ही समाजवाद के कर्ता-धर्ता हों, ऐसा अधिकृत दिखावा आज भी करते हैं। इसलिये रूस से सम्बन्ध न रखते हुए दुनिया में जो समाजवादी आन्दोलन स्वतंत्र रूप में चलते हैं, उनका क्या किया जाय, यह जटिल प्रश्न उनके सम्मुख खड़ा है। इस प्रश्न का दो तरीकों से तर्कपूर्ण हल सम्भव है। एक यह कि ये स्वतंत्र आन्दोलन, अपना स्वातंत्र्य खोकर, रूस की सत्ताभिलाषी राजनीति की बदलती नीति के अनुसार चलें। दूसरा मार्ग यह है कि रूसी सरकार अपने समाजवादी होने का दिखावा बन्द कर दे, और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति-सम्बन्धी अपनी सामर्थ्य और शस्त्र का परित्याग करे।

इनमें से एक भी मार्ग व्यावहारिक न होने से रूसी सरकार के पास एक ही मार्ग खुला रहता है। वह है, स्वतंत्र समाजवादी आन्दोलन और उनके नेताओं की निंदा करना, बदनामी करना और उनके साथ छल करना। खुद रूस में सामाजिक क्रान्तिकारी, अराजकतावादी, ट्राट्स्कीवादी, पुराने बालशेविक, मेनशेविक आदि आन्दोलनकारी हुए हैं। उनके प्रति वहाँ की सरकार ने जो नीति बनायी थी, उसी का विस्तार है यह। रूस में ट्राट्स्कीवादी और मेनशेविक शब्दों को ऐसे विकृत अर्थ में लिया जाता है कि सरकार की अंधदासता अस्वीकार करने वाले लोग भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। जानबूझ कर धूल उड़ा कर प्रतिस्पर्धियों को अपनी राह से दूर करने का पागलपन रूसी सरकार पर सवार है।

'शुद्धीकरण' के बाद रूसी शासकों को ऐसा लगता है कि उनकी अन्तर्राष्ट्रीय आकांक्षाओं को वास्तविक संकट किसी से है, तो वह अन्य देशों के राजनीतिक दृष्टि से जागृत वामदलों से—निंदक और प्रतिक्रियावादियों से नहीं। निंदकों से व्यवहार करने का मार्ग तो मिलता है, परन्तु ध्येयवादी लोग आग्रही होते हैं और इसलिए वे सतत उपद्रव और भय का कारण बने रहते हैं। यह नियम व्यक्ति की भाँति आंदोलनों पर भी लागू होता है। इसलिये विस्तार की इच्छा रखनेवाली रूसी सरकार की पहली चिन्ता यही है कि पोलैंड बाल्टिक राज्यों के वामपंथियों का विनाश कैसे हो।

३

रूस ने पोलैंड पर जब आक्रमण किया था, तब से लेकर, जर्मनी ने पोलैंड

पर जब आक्रमण किया, तब तक के दो वर्षों में पूर्व यूरोप को समाजवादी दीक्षा देने के लिए रूसी सरकार का अचूक उपाय था लोगों के समूहों को अपनी सीमा से बाहर निकालना। इतने बड़े पैमाने पर लोगों को सीमा से बाहर निकालने की कोई अन्य घटना इतिहास में नहीं मिलती। सन् १९४० के फरवरी, अप्रैल और जून में और १९४१ के जून में कुल चार बार में रूस ने अपना यह कार्यक्रम पूरा किया। पूर्वी पोलैंड से इस प्रकार हदपार कराये गये लोगों की संख्या लगभग दस लाख होगी और हदपार भेजे जाने के लिये नाम-दर्ज लोगों की संख्या तो इससे भी अधिक होगी। लेकिन इसी बीच रूस-जर्मनी की लड़ाई छिड़ी। इस लिए हदपार कराने का कार्यक्रम स्थगित हो गया।

हदपार कराये गये लोगों के तीन वर्ग बनते हैं। (अ) ३ से ८ साल की सज़ा पाये लोग, कठोर श्रम के लिये उत्तरी ध्रुव की ओर भेजे गये। उन्हें लकड़ियाँ तोड़ना, खान में काम करना आदि खतरनाक उद्योगों में लगाया गया। (ब) वे लोग, जिन्हें बंजर भूमि में बसा कर उनसे जंगल साफ करवाये गये, लकड़ियाँ कटवायी गयीं, सड़कें आदि बनवायी गयीं। (स) इस श्रेणी में वे लोग थे, जिन्हें कज़ाक़स्तान-जैसे मध्य एशिया के प्रदेश में बसा कर तथा वहाँ के निवासियों के अन्तर्गत रखकर उनसे काम कराया। उन्हें बाहर जाने की छूट नहीं थी और अन्य सभी बातों में भी नाममात्र का स्वातंत्र्य होता था।

लंदन में ३० जुलाई, १९४१ के दिन पोलैंड और रूस में जो संधि हुई, उसमें यह निश्चित हुआ कि हदपार कराये गये हर तरह के पोलिश लोगों को बन्धन-मुक्त किया जाये। तदनुसार पोलिश सरकार रेडक्रास संस्था व अन्य संस्थाओं की मदद से अपने लगभग ५ लाख नागरिकों को खोज कर वापस लायी। पर हदपार कराये गये केवल आधे लोगों का ही पता मिला। शेष अभागे व्यक्तियों में २० प्रतिशत लोग उत्तरी ध्रुव के शिविरों में या स्वदेश लौटते समय राह में ही मर गये। १९४३ में रूस और पोलैंड के राजनीतिक सम्बन्ध टूट गये। तब रूस में बचे पोलिश लोगों को रूसी अधिकारियों ने रूसी नागरिक कह कर अपने राष्ट्र के लोगों के समान ही उनसे बरताव किया।

बाल्टिक राज्यों में भी इसी प्रकार बड़ी संख्या में सामूहिक सीमा-निष्कासन हुआ। उनमें अराजकतावादी, मेनशेविक, ट्राट्स्कीवादी, प्रजातंत्रवादी, पोलिश अधिकारी, विदेशी कम्पनियों के प्रतिनिधि, विदेश-यात्रा से लौटे हुए लोग, विदेशी राजनीतिक संस्था से सम्बन्ध रखने वाले लोग, रेडक्रास की पोलिश

संस्था के अधिकारी, पादरी, व्यापारी, जमीदार, उद्योगपति, होटलों और भोजनालयों के मालिक आदि, लगभग चौदह श्रेणी के लोग थे। इसका अर्थ यह हुआ कि निम्नांकित तीन प्रकार के लोगों को रूस अपने यहाँ से निकाल देना चाहता था।

(अ) राजनीतिक दृष्टि से जाग्रत और सक्रिय लोग—उसमें भी वामपंथी प्रथम—केवल साम्यवादी अपवाद थे।

(ब) पुरानी राज्यव्यवस्था के अधिकारी।

(क) अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि रखने वाले लोग।

पूर्वी पोलैंड में इस तरह का अंग विच्छेदन करते समय अध्यापक, वकील, पत्रकार, आदि बुद्धिजीवी वर्ग के लोग भी शामिल कर लिये गये—उनके राजनीतिक विचार चाहे जो रहे हों। १९४१ के जून में हदपारी की जो चौथी लहर उठी, उसमें साम्यवादी दल के सदस्य भी काफी थे। उनका अपराध यह था कि उन्होंने क्रान्तिकारी स्थानीय समितियाँ स्थापित की थीं, और मजदूरों के संघर्ष-दल निर्माण किये थे। रूस के अधिकारी-वर्ग के पोलैंड में आने से पूर्व अराजकता के समय इन्हीं साम्यवादियों ने वहाँ अपनी सत्ता चलायी थी।

हदपारी का नियम ही ऐसा था कि जिसे हदपार कराना हो, उसके समूचे परिवार को ही हदपार कराया जाता। इनमें से छोटे बच्चों को अनाथालयों में भेज दिया जाता। सामूहिक हदपारी के समय जानबूझ कर निष्ठुरता या क्रूरता नहीं बरती जाती। लेकिन यह कार्य इस भयंकर परिस्थिति में किया जाता कि काफी लोग रास्ते में ही मर जाते। जानवरों को ले जाने की बन्द गाड़ी में हदपार कराये जाने वाले लोगों को तीन सप्ताह की यात्रा करनी पड़ती थी। जिन्हें हदपार कराना होता, रूसी अधिकारी के पास उनकी सूची होती और उसी के अनुसार रात के समय वे उन्हें बुलाते और सब सामान बाँध लेने के लिये केवल एक घंटे की मुहलत देते थे। प्रत्येक परिवार अधिक से अधिक १०० सेर वज़न की वस्तु ले जा सकता था। उन्हें ले जाने वाली गाड़ियाँ सुबह होने से पूर्व ही छूटती थीं। गाड़ियों के दरवाजे तथा खिड़कियाँ बन्द रहती थीं। चारों ओर से बन्द उन गाड़ियों में केवल शौचादि कृत्यों के लिए और भोजन लेने के लिए कुछ छिद्र बने रहते थे। उत्तरी ध्रुव या मध्य एशिया के निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने तक गाड़ियों के न दरवाजे खोले जाते, न खिड़की।

रूस की इस नीति का उद्देश्य यह था कि उसने जो नया प्रदेश प्राप्त

किया था, उसमें 'सक्रियवादी' प्रवेश न करने पायें। ये सक्रियवादी कौन थे? रूस के मतानुसार वामपंथ और दक्षिणपंथ के सदस्य, जो राजनीतिक दृष्टि से जाग्रत हैं—बौद्धिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन के संयोजक या नेता और स्वतंत्र आचार-विचार वाले लोगों के समूह। १९४४ की गर्मियों में वार्सा का विद्रोह दबाने के लिये जर्मन लोगों ने भयंकर क्रूरता दिखायी थी। तब जो रूस ने दुष्टतापूर्वक तटस्थ नीति अपनायी थी, उसका यही लक्ष्य था। अपने त्रासदायक मित्रों को दूर करने की रूस की यह प्रणाली बहुत पुरानी है। प्रथम महायुद्ध के समय, रूस की जार सरकार ने आर्मेनिया की प्रजा को आक्रमणकारी तुर्की लोगों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये प्रोत्साहित किया, लेकिन अन्त में जब तुर्की लोगों ने विद्रोही आर्मिनियनों का वध करना शुरू किया, तो रूस ने उनकी कोई सहायता न की। विशेषता यह है कि यह कत्ल रूसी सेना की आँखों के सामने ही हुआ। इस कत्लेआम में जो आर्मेनियन लोग बच गये, अपने अधिकृत प्रदेश में उनके जाने पर रूस ने रोक लगा दी।

इस प्रकार, जिस देश की रीढ़ और स्नायु-केन्द्र तोड़-फोड़ दिये जाते हैं, उस देश की जनता मिट्टी का लोंदा-मात्र रह जाती है, चाहे उसे जिस आकार में ढाल दिया जाये। फिर वह सहज ही रूस की तानाशाही के अनुसार चलने लगती है।

हमें यहाँ यह याद रखना चाहिये कि रूस में ये जो लाखों नये नागरिक आये, उन्हें पार्लियामेंट और जन-आलोचना के बिना, जीवन बिताना सीखना था। आने-जाने का स्वातंत्र्य, भाषण-स्वातंत्र्य, पठन-स्वातंत्र्य और उद्योग-स्वातंत्र्य का अपहरण करने वाले नये कानूनों के अन्तर्गत उन्हें रहना था। पहले पोलैंड या लिथुआनिया की अपरिपक्व तानाशाही के शासन-काल में जिन संकुचित और कड़े बंधनों की उन्होंने स्वप्न में भी कल्पना न की होगी, उन बंधनों के नीचे उन्हें अपना सारा जीवन बिताना था। विजित राष्ट्रों को उदरस्थ करने का यह रूसी मार्ग है।

४

पूर्वी यूरोप में रूस और नाजी जर्मनी की शासन-नीति की तुलना करने पर उनमें कुछ साम्य दीख पड़ते हैं और कुछ विषमताएँ भी दृष्टिगत होती हैं। विजित राष्ट्र को भयभीत जनता का समूह बना कर उसके ध्येयवाद और नेतृत्व को विनष्ट करने के रूस और जर्मनी के प्रयत्न समान हैं। लेकिन इन दोनों का साम्य यहीं समाप्त हो जाता है।

जर्मन लोगों को अपनी बस्तियों के लिये पूर्व में जगह चाहिए थी। इसलिए पोलैंड और युक्रेन देश में उनकी नीति यह थी कि वहाँ के निवासियों को धीरे-धीरे नष्ट करना; और उसके लिये जर्मनों ने भुखमरी का रास्ता अपनाया था। वहाँ के पुरुष-वर्ग को अलग रख कर सामूहिक रूप से उसे कत्ल भी किया गया था। इस पर भी जो निवासी जिन्दा रह गये, उन्हें उनके वंशगत प्रतिष्ठानुसार गुलामी के काम दे दिये गये।

रूस की स्थिति इसके विपरीत थी। उसके पास विशाल प्रदेश थे और जनसंख्या कम थी, इसलिए उसने अपनी अलग नीति बनायी। रूस को उद्योग-धंधों का विकास करना था, रास्ते बनाने थे और ऐसे ही अन्य सार्वजनिक कार्य पूरे करने थे। इसके लिये उसे मजदूर-वर्ग चाहिए था। साथ ही साइबेरिया और मध्य एशिया-जैसे दूर के निर्जन प्रदेशों में बसने वाले लोग चाहिए थे। रूस में दो सौ से अधिक भिन्न राष्ट्रों के लोग रहते हैं। उन्हें बसाना और एक स्थान से दूसरे स्थान को खिसकाना कितना बड़ा काम है।

इस महायुद्ध के पूर्व युक्रेन के लाखों लोगों को साइबेरिया में हदपार कराया गया था, और महायुद्ध आरम्भ होने पर तो वोल्गा के सब के सब जर्मन हदपार कराये गये। लिथुआनिया की ३० लाख जनसंख्या में ७ लाख लोगों को हदपार कराने का निश्चय हुआ। पूर्व पोलैंड की १ करोड़ ३० लाख की जनसंख्या में ३०-४० लाख लोगों को हदपार कराने की बात सोची गयी। जर्मनी के आक्रमण से इस कार्यक्रम में रुकावट आ गयी। इस युद्ध के समाप्त होने पर, जब रूस का, पूर्वी और दक्षिण पूर्वी यूरोप पर निष्कंटक प्रभुत्व होगा, तब दुनिया को चकित करने वाली अनेक घटनाएँ होंगी। इनमें से एक घटना होगी—पहले कभी न हुआ, ऐसे बड़े पैमाने पर लोगों का सख्ती के साथ स्थानांतर। ये स्थानान्तर बड़ी कुशलता से किये जायेंगे—मानवीय मूल्यों की परवाह किये बिना ही। रूसी सरकार खुद अपने लोगों पर शासन करते समय ही मानवीय मूल्यों की पर्वाह कब करती है?

२

सोवियत विस्तार का स्वरूप

१

इस युद्ध से पूर्व यूरोप की धरती पर एक त्रिगुट का स्वामित्व था—इंग्लैंड, जर्मनी और रूस। इस त्रिगुट में प्रत्येक ऐसी चाल चलता कि जिसे लेकर अन्य दोनों में फूट पैदा हो जाये और यदि उनमें युद्ध छिड़ जाये, तो स्वयं हँसते रहें।

अपनी इच्छाओं को किनारे रख कर यदि हम भविष्य की ओर देखें, तो हमें क्या दिखेगा? विजय-प्राप्ति के बाद थोड़ा समय आनन्द और उत्साह में अवश्य बीत जायेगा, परन्तु इसके बाद बड़े पैमाने पर ऐसा ही एक त्रिगुट पैदा होगा—इंग्लैंड, अमेरिका और रूस। अभी से ही तीनों का आपसी तनाव आभासित हो रहा है। अतलान्तिक महासागर पर आर्थिक और सम्पत्ति-विषयक तनाव, प्रशांत महासागर और उत्तर की ओर राजनीतिक तनाव तथा यूरोप और मध्यपूर्व पर राजनीतिक और प्रादेशिक तनाव बहुत सम्भव है।

इस त्रिगुट में इंग्लैंड की भूमिका रक्षा की रहेगी। चर्चिल के शब्दों में कहना हो, तो 'जो है, उसे कायम रखने' की नीति रहेगी। अपने साम्राज्य में केन्द्र से हट जाने वाली प्रवृत्तियों को निर्मूल करना, अपने उपनिवेशों के बंधन मजबूत करना और अपने अन्तर्गत देशों को अधिक स्वातंत्र्य देना—आगे चल कर इंग्लैंड को ये काम करने होंगे। निःसंदेह ही ब्रिटिश साम्राज्य के सूत्र शिथिल पड़ जायेंगे। उससे लाभ उठाने के लिये दूसरे दोनों अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इनमें अमरीका आर्थिक विस्तार और युद्ध के लिये उपयुक्त स्थान अपने अधिकार में करने की ओर ध्यान देगा। अमरीका को नये देश नहीं जीतने हैं; परन्तु विश्व में अपने सैनिक अड्डों का जाल जरूर बिछाना है। इसलिए उसका इंग्लैंड से मतभेद पैदा होने का प्रश्न नहीं उठता। केवल आर्थिक स्पर्धा को लेकर ही एँग्लो-सेक्सन राष्ट्रों का गुट्ट निर्मित नहीं होगा और इससे रूस को अपने दाँवपेच खेलने के भरपूर अवसर मिलेंगे।

इन तीनों राष्ट्रों में सर्वाधिक समर्थ और विस्तारशाली राष्ट्र है रूस। यद्यपि विश्व-राजनीति के रंगमंच पर यह राष्ट्र अधिक पुराना नहीं है, किन्तु उसमें निर्मम प्रचंड शक्ति झलकती है। राष्ट्रीय अर्थनीति, शक्ति और तानाशाही कार्य-प्रणाली के कारण रूस एक प्रचंड और सुसंगठित राष्ट्र के रूप में हमारी आँखों के सामने

खड़ा है। इसके विपरीत ब्रिटिश साम्राज्य निर्बल, तितर-बितर और विकेन्द्रित है। इसकी तुलना में रूस दीवार तोड़ने वाला एक विस्फोटक यंत्र है और उसके सामने एक पुराने किले की जर्जरित और लम्बी प्राचीर है। इसका यह अर्थ नहीं कि यंत्र उस प्राचीर पर आक्रमण करेगा ही। इसका अर्थ इतना ही है कि प्राचीर के उस ओर के लोग और इस यंत्र को चलाने वाले लोगों को यह ज्ञात है कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हैं, और उनके मस्तिष्क में वर्तमान स्थिति से उत्पन्न होने वाली सम्भावनाओं की कल्पना है। इन सम्भावनाओं का दबाव अवश्यम्भावी है। कम दबाव के नियमानुसार मध्यपूर्व, भूमध्य सागर और यूरोप-इन सभी स्थानों में रूस का अधिक दबाव पड़ेगा। इसे ही नम्र शब्दों में यों कह सकते हैं कि इस दबाव का परिणाम होगा 'प्रभाव-अंचलों' को हस्तगत करना। किन्तु यह शक्ति-संतुलन पर निर्भर है। जहाँ समान शक्तिशाली राष्ट्र होंगे, वहाँ इन 'प्रभाव-अंचलों' का कार्य व्यवसायिक सुविधाओं और राजनीतिक संधियों तक सीमित रहेगा। इंग्लैंड और पुर्तगाल में ऐसा ही है। राष्ट्रबल का यह पलड़ा तनिक हिल जाय, तो देखिए, तुरन्त ही यही 'प्रभाव-अंचल' अधीन देश की तरह माने जायेंगे और वहाँ के हवाई अड्डे और सैनिक अड्डों का यथेच्छ उपयोग किया जायगा। उसके बाद पलड़ों को एक और धक्का लगने दीजिये, फिर उस 'प्रभाव-अंचल' में नामधारी सरकारें बनेंगीं—केवल वे अंचल अधिकृत रूप में बड़े राष्ट्र में विलीन न होंगे, बस। लेकिन यों उनका पूर्ण विसर्जन हो जायेगा। इसका उदाहरण मँचुको और जापान के सम्बन्धों में मिलता है। अंत में होगा, सैनिक बल पर अपने में मिला लेना या तानाशाही के आधार पर अपने पक्ष में मत संग्रह कर लेना—उदाहरणार्थ, पूर्वी पोलैंड और बाल्टिक राज्य।

'राज्य-विस्तार' शब्द का अर्थ राजनीतिक दृष्टि से शिक्षित लोग भी पुरानी परिभाषा के अनुसार ही मानते हैं। नाजी जर्मन रूसियों को 'एशिया के लुटेरे' कहने लगे, और उन्होंने स्तालिन को चंगेजखाँ की पंक्ति में बैठाया। रूस ने जब चेकोस्लोवाकिया को अपने कब्जे में लिया, तो इंग्लैंड के अनुदार मत के लोग कानाफूसी करने लगे—"यह तो सैनिकों के बल पर लुटेरापन है।" इसीलिए यूरोप में रूस द्वारा अपनी सत्ता का विस्तार करने पर भी वहाँ की जनता का विश्वास उनके मन में नहीं बैठता। आधुनिक राजनीतिक युद्ध का सूत्र है, दूसरे देश में आंतरिक संघर्ष पैदा करके उसे गुलाम बनाना। हिटलर ने इस सूत्र का उपयोग किया था। लेकिन उसका सही अर्थ अभी सबकी समझ में नहीं आया है।

रूसी संघ का विधान ही ऐसा है कि उसमें विभिन्न स्तर के राज्यों का समावेश हो गया है। फिर उसमें नये-नये राष्ट्रों को आत्मसात् कर लेने का गुण भी है। एकवंशीय जर्मन-साम्राज्य में यह गुण अधिक न था। जर्मनी के लिए चेकोस्लोवाकिया को निगल जाने का अर्थ अपने शरीर में कोई विजातीय पदार्थ दाखिल करने के समान ही संकटपूर्ण था, परन्तु रूस के लिये एकाध नये 'स्वशासन अधीन प्रजातंत्रीय राज्य' को अपने में शामिल कर लेना किसी बड़े राजमहल में एकाध नया पत्थर बैठाने के जैसा ही था। १९४३ में रूसी विधान ने अपने अन्तर्गत राज्यों को अधिक 'स्वायत्तता' देने का दिखावा किया। इससे उसकी विलीनीकरण की शक्ति अधिक बढ़ गयी। हंगेरियन, स्लोवेकियन या सेक्सोनियन में किसी भी स्वतंत्र समाजवादी सरकार का स्वागत करने के लिए रूस अपने दरवाजे खोल कर तैयार था। प्रत्येक राष्ट्र के बारे में यह विलीनीकरण न्यूनाधिक समय में क्रमानुसार होता था और अन्त में जब उसका रूस में पूर्ण विलीनीकरण हो जाता था, तब ऐसा दिखायी देता था, मानो वह स्वेच्छा से विलीन हुआ है।

"स्तालिन कितनी दूर तक जाने का इरादा करता था?" यह प्रश्न निरर्थक और विवेकहीन है। बड़े साम्राज्यों का विस्तार विशेष नियमों से ही होता है। किसी भी बलवान राष्ट्र के आस-पास राजनीतिक रिक्तता का निर्माण हो जाने पर वह राष्ट्र अपने 'प्रभाव-अंचल' का विस्तार करता है। प्रतिकार का दबाव आने तक उसका यह कार्य जारी रहता है। आवागमन के अधिक साधन, उद्योग-धंधों की व्यापकता और ऊँचा जीवन-स्तर के कारण रूस के पश्चिम में बसे राष्ट्रों का आकर्षण अधिक है। स्थिरता और अधिकाधिक सत्ता-प्राप्ति की इच्छा से ही राज्य-विस्तार की कल्पना अभिवृद्ध होती है। तदनन्तर विश्व के बाजारों पर अधिकार करने की लालसा उत्पन्न होती है, जो कभी पूर्णतया तृप्त नहीं होती।

दूसरी ओर राष्ट्र की सामर्थ्य बढ़ने से छोटे देशों की ओर उसका लोभ बढ़ता है। वे छोटे देश बाह्य सहायता के बिना अपने स्वातंत्र्य की रक्षा स्वयं नहीं कर सकते। वे अपने पड़ोसी बड़े राष्ट्र के पालित बनते हैं और धीरे-धीरे उनके 'उपग्रह' बनकर अन्त में उनके उदर में समा जाते हैं। यूरोप में पहली बार रेल आने के बाद, ५० बरसों के भीतर ही जर्मनी के लगभग ३०० स्वतंत्र राज्य एक ही राज्य-सत्ता के अन्तर्गत आ गये। अब समूचे यूरोप में ऐसा ही एकत्रीकरण होने वाला है। वर्तमान विज्ञान-युग में छोटे राष्ट्र का जीवन १०-२० साल से अधिक नहीं होता। जर्मनी के लड़ाकू और एकतंत्र राष्ट्रों का एक

संयुक्त राष्ट्र बना। पिछली शताब्दी के मध्य में जर्मनी के अन्य राज्यों के बारे में प्रशिया ने जो नीति अपनायी थी, वही आज रूस ने पूर्व और मध्य यूरोप के लिए अपनी नीति बनायी है।

२

कुछ राजनीतिज्ञ इस विचार-धारा का दो तरह से खण्डन करते हैं। वे उन्नीसवीं सदी के दृष्टिकोण से देखते हैं। उनका पहला तर्क यह है कि युद्ध की समाप्ति पर रूस को दीर्घकाल तक शान्ति की आवश्यकता प्रतीत होगी, और दूसरी बात यह कि रूस को निस्तेज बने अपने प्रदेश की पुनर्स्थापना के लिये इंग्लैंड-अमरीका की आर्थिक सहायता पर निर्भर रहना पड़ेगा।

अवश्य ही, रूस को शान्ति की आवश्यकता महसूस होगी और वैसी ही इंग्लैण्ड को भी होगी; परन्तु मित्रता और परस्पर सहयोग तथा बनेस-मोलोतोव-जैसी सन्धियाँ जो हुईं, उनसे 'प्रभाव-अंचल' का क्षेत्र बढ़ा है और उसका रूप युद्ध का न होकर शान्ति का रहा है। इस 'प्रभाव-अंचल' में मित्रता की डोरी खींचते-खींचते गुलामी की गाँठ बाँधने तक वे बड़ी चतुराई से कदम बढ़ा सकते हैं। कल्पना कीजिए, कल रूमानियाँ की सरकार बदल जाये और वहाँ के विरोधी दल पर शस्त्र उठाये, तो उसके लिए इंग्लैण्ड रूस से युद्ध करेगा क्या? या पोलैण्ड की सरकार ने सारे दल विसर्जित करके एक ही 'राष्ट्रीय ऐक्य' नाम का दल खड़ा किया और यूक्रेनियन तथा श्वेत रूसी सोवियत प्रजातंत्र से सम्बन्ध जोड़ लिया, तो इंग्लैण्ड रूस से युद्ध करेगा क्या? ऐसे साधारण कारणों से नया विश्व-युद्ध शुरू होगा, ऐसा केवल पागल आदमी ही कह सकता है। विदेशी दिमाग के विशेषज्ञों को उन घटनाओं का महत्त्व और बाद में होनेवाली हलचल का ज्ञान हो सकता है, तो 'न्यू स्टेट्समैन' और 'नेशन'-जैसे पत्रों के पास उनकी उपयुक्त सफाई रहेगी ही।

यही बात आर्थिक सहायता पर लागू होती है। हंगेरी रूस से मिले या नहीं, इस विषय पर ९८·५ लोगों ने अनुकूल मतदान किया। वह मत असली था या कृत्रिम था, इसकी चिन्ता न करके अमरीका के यंत्रों के कारखानों के मालिक रूस को अपना माल निर्यात करने के वचन का पूर्णतया पालन करेंगे। पहले जापान ने चीन पर आक्रमण किया था। किन्तु इससे क्या इंग्लैण्ड-अमरीका ने जापान को तेल देना बन्द किया? इतना ही नहीं, 'वार्सा-सन्धि' के बाद भी इंग्लैण्ड-अमरीका के शस्त्रास्त्र-उत्पादकों ने जर्मनी को पुनः

शस्त्रास्त्र-सम्पन्न करने का अपना काम बन्द नहीं किया। शस्त्र के उद्योग पर लोकमत का नियंत्रण निर्मित होने की सम्भावना नहीं प्रतीत होती। लेकिन यह मान लिया जाये कि ऐसा हुआ, तो भी शान्ति के समय देश के पुनर्विकास के लिए आवश्यक माल निर्यात करने को कौन मना करेगा? और शस्त्रास्त्र रूस की प्रथम आवश्यकता नहीं हैं। रूस समस्त दुनिया में एक बड़ा और आकर्षक बाजार बन बैठेगा और दुनिया का व्यापार खुद अपने ही नियमों से चलेगा—नैतिक विवेक की सूक्ष्म लहर से नहीं।

१९३२ तक पुराने राजनीतिज्ञों को ऐसा लगता था कि हिटलर यहूदियों को जो धमकी देता है, उन्हें वह कभी कार्यान्वित नहीं करेगा, क्योंकि उसे भय है कि जर्मन उद्योग-धंधों के लिये अमरीका ने जो अल्पकालीन कर्ज दिया था, वह वापस ले लेगा; लेकिन प्रत्यक्ष में जो हुआ वह सबको ज्ञात है।

इस आशा के कि रूस की नीति आर्थिक पाश से नियंत्रित हो पायेगी, दो कारण हैं। (अ) इंग्लैण्ड-अमरीका में व्यापारी स्पर्द्धा बन्द हो जायेगी और दोनों की आर्थिक नीति सम्पन्न होगी। (ब) इंग्लैण्ड-अमरीका-स्थित प्रत्येक व्यापारी संस्था का पूर्ण नियंत्रण विदेश-विभाग और राज्य-विभाग करेगा। (निर्यात के व्यापार पर नियंत्रण डालने से काम नहीं चलगा। ऐसा करने पर, जिन व्यापारी संस्थाओं को पहले किये हुये करार तोड़ने पड़ेंगे, सरकार को उन्हें हानि की रकम देनी पड़ेगी। इतना ही नहीं, उनके लिए दूसरे बाजार की व्यवस्था भी करनी होगी। अर्थात्, वहाँ की सरकार को पुलिस और नर्स दोनों का काम करना पड़ेगा।) इसका अर्थ यह हुआ कि इंग्लैण्ड-अमरीका में व्यक्तिगत पूँजीवाद को रद्द करने पर ही यह नीति सफल हो सकेगी।

* * *

यहाँ यह याद रहे कि हम यूरोप के भविष्य का विचार कर रहे हैं, वर्षों में नहीं, वरन् दशाब्दियों में। यूरोप पर प्रभुत्व प्रस्थापित करने की बाजी रूस धीरे-धीरे जीत लेगा। वह 'प्रभाव-अंचलों' पर अपनी पकड़ मजबूत करेगा और धीरे-धीरे अपने इन अंचलों का क्षेत्र भी बढ़ायेगा। यह सफलता प्राप्त होने तक रूस छोटे-छोटे देश की अन्तर्गत घटनाओं का स्वरूप अपने अनुसार देने की चेष्टा करेगा। गुलाम बनाने के साधन का ठीक से उपयोग किया जायेगा—केवल उसकी गति और ताल रोगी की नाड़ी की तरह न्यूनाधिक रखी जायेगी। आरम्भ में वेगपूर्ण तथा अचानक नये आघात किये जायेंगे। फिर शान्ति का दीर्घकाल आयेगा। आघात पहुँचाना और शांति रखना—यह क्रिया अनेक वर्षों

तक उलट-पुलट कर चलेगी और एक बार अपना इच्छित साध्य सिद्ध होने पर पुनः सदिच्छा की बातें कही जायेंगी। यह समूचा भविष्य भयावह है, लेकिन सत्ता-संघर्ष के विगत अनुभवों का यही सार है।

३

मध्य और पूर्व यूरोप सदियों तक जर्मनी के स्वामित्व में रहा था। आस्ट्रिया का साम्राज्य भंग होने से सत्ता का सन्तुलन बिगड़ा और यूरोप में खोखलेपन का निर्माण हुआ। वार्सा-सन्धि ने एक शक्तिशाली यूरोपीय राष्ट्र को नष्ट किया और उसकी जगह छोटे-छोटे राज्यों का अस्थिर संगठन स्थापित हुआ। लेकिन उनमें से एक भी राज्य में आर्थिक या राजनीतिक स्वातंत्र्य बनाये रखने की शक्ति न थी। बाल्कन और डैन्यूब के अधिकांश क्षेत्र ऐसे उपग्रहों से पूर्ण थे, जो सूर्य की खोज कर रहे थे।

तीन बड़े राष्ट्रों ने उन्हें अपने प्रभाव-अंचलों में खींचने के प्रयत्न किये। वे राष्ट्र थे—रूस, फ्रान्स और जर्मनी। रूस ने प्रयत्न किये 'कामिण्टर्न' के जरिये, फ्रान्स ने 'लिटिल इनटेने' के जरिये तथा जर्मनी ने वस्तु के बदले वस्तु के व्यापार और पंचमाँगी चालबाजियों के द्वारा। परन्तु रणक्षेत्र में हुई पराजय से जर्मनी के टुकड़े-टुकड़े हो गये। अतः १९१८ की अस्थिर परिस्थिति पुनः बड़े पैमाने पर निर्मित हुई। आल्प्स पर्वत के पूर्व का यूरोप राजनीतिक, आर्थिक और आदर्शगत अराजकता में फँस गया। परन्तु फिलहाल समस्त यूरोप में रूस ही एक बड़ा राष्ट्र है और उसका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं। उसका निकटतम प्रतिस्पर्धी एक ही है—फ्रान्स। परन्तु हर क्षेत्र में उसे दबा देने की शक्ति रूस में है। पाँचवे चार्ल्स के बाद यूरोप की राजनीति का सन्तुलन एक राष्ट्र की ओर इतना कभी नहीं झुका था।

इस परिस्थिति में महत्त्व की बात यह है कि यूरोप के पूर्वस्थ आधे भाग पर जर्मनी का जो प्रभुत्व था, वह मिट्टी में मिल गया। इस पर कोई यह संदेह कर सकता है कि प्रथम महायुद्ध में भी जर्मनी पराजित हुआ था, परन्तु फिर भी वह सँभला, वैसा ही अब क्यों न होगा? लेकिन इस बार की परिस्थिति मूलतः भिन्न है। पहले युद्ध के बाद जर्मनी के पूर्वीय पड़ोसी—पोलैंड और रूस—परस्पर लड़ते थे। पश्चिम की ओर फ्रान्स पड़ोसी था, परन्तु उसकी जनसंख्या जर्मनी की आधी और उसकी औद्योगिक शक्ति बहुत कम थी। इसलिए अपने बड़े पड़ोसी पर स्थायी अधिकार जमाने की कल्पना फ्रान्स को स्वप्न में भी नहीं

आयी। परन्तु अब जर्मनी का पड़ोसी विजयी महान् रूस है। जर्मनी के उद्योगों का नाश हो गया है, उसका सम्पूर्ण क्षेत्र पहली बार दूसरों के कब्जे में चला जायेगा और वह टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। उसका पूर्वीय भाग रूस के हिस्से में जायेगा, और पश्चिमी भाग पोलैण्ड की मुट्ठी में और पोलैण्ड कोई रूस का प्रतिस्पर्धी नहीं। वह तो उसका उपग्रह है। इस तरह रूस के 'प्रभाव-अंचल' की सीमा बर्लिन के पूर्व में ५० मील तक आ पहुँचेगी।

यह हमें नहीं मालूम कि जर्मनी पर रूस का अधिकार कितने समय तक टिकेगा। लेकिन जब वह खत्म होगा, तब जर्मनी के लोगों की स्थिति फिर कभी नहीं सुधरेगी। उनमें बड़े-बड़े दोष पैदा हो जायेंगे—इसका विश्वास रखिये। जर्मनी का जो विभाजन किया जायेगा, वह स्थायी बना रहेगा। एक ओर साम्यवादी सरकार और दूसरे भाग में फ्रान्स की अन्तर्गत सरकार—ऐसी द्विमुखी राज्यव्यवस्था जर्मनी में उत्पन्न हो जायेगी। आगामी पाँच वर्षों में क्या-क्या होगा, इसका ब्यौरा देना मुश्किल है। लेकिन ज्यों-ज्यों दक्षिण की ओर हम आयें, ये परिवर्तन तीव्र और स्पष्ट दिखायी देंगे।

इंग्लैण्ड को पूर्व यूरोप का फेडरेशन बनाने की आशा थी; परन्तु बेनेस ने मास्को जाकर रूस-चेकोस्लोवाक सन्धि की, जिससे यह आशा टूट गयी। जब मैं यह लिख रहा हूँ—१९४४ के सितम्बर में—उस समय बाल्कन्स जीतने के लिए रूस के प्रयत्न तीव्र हो गये हैं और राजनीति से अनभिज्ञ आदमी को भी पोलैंड में जो रूस का स्वार्थ है, वह स्पष्ट दीख रहा है। स्तालिन के मन में जो लक्ष्य था, उसे लेकर सिर खपाने की अपेक्षा हमें प्रत्यक्ष घटनाओं पर ही विचार करना चाहिए। घटना यह है कि रूस और पाश्चात्य राष्ट्रों के 'प्रभाव-अंचलों' को विभाजित करने वाली जो पंक्ति थी, वह विस्तुला से एलबे, काले सागर से भूमध्य सागर और वार्सा के पूर्व से प्रेग के पश्चिम में आ गयी है।

३—वामपक्ष की विमुखता

१

रूस का विस्तार कहाँ तक होगा? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है कि दो जर्मन साम्राज्यों के पतन से और फ्रांस की निर्बलता से यूरोप की सत्ता का जो सन्तुलन बिगड़ा है, उसके पुनः सँभलने तक।

किन्तु सम्भावित शक्तियाँ, जो एक दिन सन्तुलन स्थापित कर सकती हैं,

रूस के ठोस संघर्षवाद की तुलना में संकीर्ण और उलझी हुई हैं। यद्यपि उन शक्तियों को विभाजित करनेवाली कोई चीज़ नहीं है, फिर भी सुविधा के लिए अनुदारीय और प्रगतिशील शक्तियों के रूप में इनका विभाजन हो सकता है।

अनुदारीय शक्ति की दुर्बलता स्पष्ट है। उसका उद्देश्य एक ही है—"विद्यमान स्थिति को स्थिर रखो"—अर्थात् १९-वीं सदी को २०-वीं सदी के बाद तक खींच कर ले जाने का प्रयास एवं विस्फोट को निष्क्रियता से रोकने का प्रयास। इस शक्ति के पास विजेताओं के लिए आशा नहीं और पराजित के लिए कोई योजना नहीं। ८ करोड़ जर्मनों का भविष्य निश्चित करने की समस्या सुलझाने में पाश्चात्य राजनीतिज्ञों को यों उलझे देखकर दुख होता है। जर्मनों को नयी शिक्षा देने की कल्पना का वे उपहास करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उन्हें सिखाने के योग्य तत्त्वज्ञान उनके पास नहीं है। १६-१६ वर्ष के जर्मन युवक पागलपन में आकर अपना नाश कर लेते हैं—पाश्चात्य राजनीतिज्ञों की यह शिकायत है; लेकिन वे कोई मार्ग भी नहीं बताते कि वे किस प्रकार जीवित रहें। घेरा पड़ने के बाद आत्मसमर्पण जैसी सलाह वे देते हैं, लेकिन वे यह नहीं बता सकते कि समर्पण के बाद क्या होगा? उनके पास भावी यूरोप या दुनिया की न तो मार्गदर्शक कल्पना है और न प्रतीक-चिह्न या कार्यक्रम। 'अतलांटिक चार्टर' की स्याही सूखने से पहले ही मिट गयी।

इतने पर भी परम्परागत मूल्यों के पुनरुज्जीवन के लिए आज-जैसा योग्य समय इतिहास में कभी-कभी ही आता है। हिटलर गया तो तानाशाही का भय गया, ऐसी बात नहीं है। उसी भय के कारण पाश्चात्य राष्ट्रों में जीर्ण मूल्यों पर नया आकर्षक तेज आया है। जिस मानवीय अधिकार और नैतिक परम्परा को ५० वर्ष पूर्व हम अटल मानते थे, दुनिया के अधिकांश भागों से उनका उन्मूलन हो गया है और शेष भागों से हो रहा है। बिना जांच के गिरफ्तारी का न होना, भाषण-स्वातंत्र्य, दीवानी कानून, व्यक्ति के जीवन के प्रति आदर, शिष्टाचार के कुछ अलिखित कानून ये बातें पहले कितनी पुरानी और हास्यास्पद लगती थीं, क्योंकि उस समय हमारा कल्पना-लोक हमारे बिल्कुल समीप आया प्रतीत होता था। परन्तु अब चारों ओर से पराजित होने पर ये ही बातें हमें अत्यन्त महत्त्व की जान पड़ती हैं। केवल घुट-घुट के मरने की यातना पाने वाला ही प्राणवायु का महत्त्व समझे, यह दुख की बात है। इसी तरह नाज़ी जर्मनी या स्तालिन के एक साल साधारण नागरिक के रूप में रहे हुए

आदमी ही मूलभूत स्वतंत्रताओं के अपहरण का अर्थ समझें, यह भी उतनी ही दुःखद बात है। लेकिन हम लोगों में कितने तुलना करने योग्य हैं?

ब्रिटिश 'डाकयार्ड' का मजदूर अपने काम में लापरवाही करे, तो उसके वेतन में कटौती होगी; परन्तु जर्मनी और रूस में यही बात यंत्र-विध्वंस का अपराध मानकर उसे मृत्यु का दण्ड दिया जायेगा। मर्यादित लेखन-स्वातंत्र्य और समाचार देनेवाले मानवीय यंत्र का अन्तर अंग्रेज पत्रकार नहीं समझता। राजनीतिज्ञों के चुरुट अथवा जनरल के फोटो के पागलपन से परेशान गर्वीले अंग्रेजों को बाइजेंटाइन की नेता-पूजा की अधम मूर्खता की कल्पना भी नहीं हो सकती। अंग्रेज जनता असंतुष्ट हो सकती है, लेकिन कानून के क्षेत्र में वह सुरक्षित है। फिर एकतंत्री पुलिस-राज्य की भयंकरता की कल्पना उसे कैसे हो? वह केवल अपनी निराशा से ही परिचित रहती है। प्रजातंत्र का वातावरण अब संचित कुहासे-जैसा बन गया है। इसमें जो हवा प्राप्त होती है, उसके लिए कोई कृतज्ञ नहीं बनता। पश्चिमी संस्कृति अपने जिन मूल्यों को खोना चाहती है, उनका महत्त्व उसकी समझ में न आये, यह भी उसका दुर्भाग्य है!

इन सांस्कृतिक मूल्यों का पुनरुद्धार कैसे होगा? यूरोप में निर्मित रिक्तता नयी प्रेरणा से कैसे भरे? इंग्लैण्ड, फ्रान्स और पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र—इनमें केवल राजनीतिक मित्रता होने से ही काम नहीं चलेगा। यह सत्य है कि पाश्चात्य यूरोप के राष्ट्रों में रोमन संस्कृति के प्रभाव के कारण समान परम्परा निर्मित हुई है, ईसाई नीतिशास्त्र दो हजार वर्षों तक बहता रहा है और पाश्चात्य उदारमतवाद ने १०० वर्षों से जड़ें जमा रखी हैं; पर इन सबके ऊपर धूल की एक ऐसी परत जम गयी है, जो राजनीतिक तूफान से उड़ायी न जा सकेगी; और धूल की वह परत उड़ाये बिना नयी स्फूर्ति नहीं मिलेगी। इसका अर्थ यह है कि परम्परागत मूल्य प्रगतिशील शक्ति से ही पुनः सजीव होंगे।

२

इस काम को करने में समर्थ बनने के लिये वाम पक्षों को अपने मायाजाल दूर करने चाहिए और पुनः अपने आदर्श प्राप्त कर लेने चाहिए।

यह एक दोहरी प्रणाली है। इसके नकारात्मक अर्द्धांश को विमुखता की प्रक्रिया कहा जा सकता है। वामपक्ष एक शिशु के समान है—आरम्भ में वह देशाभिमान का स्तन-पान कर रहा था, फिर रूस की बोतल से दूध पीने लगा। ब्रिटिश मजदूर-दल पहली अवस्था से कभी बाहर नहीं आया, यह उसके

दंत-विहीन नेताओं को देखने से सहज ही ज्ञात हो जायेगा। साम्यवादी उस बोतल से चिपट जरूर गये; लेकिन उन्हें उस बोतल का दूध हजम करना नहीं आया, यह उनके मुँह की गंध से ही समझ में आ जायेगा। यह रूपक खेद-जनक है, परन्तु 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' निकालने के बाद एक सदी बीत जाने पर भी यूरोप की जो स्थिति है, उसे देखते हुए इस सत्य से कौन इनकार करेगा?

मनोविज्ञान की दृष्टि से जो मार्ग त्रुटिपूर्ण है, उसे अपनाने से ही वामपंथियों की पहली विमुखता असफल रही। 'मजदूरों की अपनी पितृ-भूमि नहीं होती'—साम्यवादी घोषणापत्र का यह प्रसिद्ध वाक्य अमानवीय और असत्य है। खेत का मजदूर, खान में काम करने वाला मजदूर या रास्ते की सफाई करने वाला—इन सबके अपने खेत, खान या रास्ते से स्नेह के सम्बन्ध रहते ही हैं। वैसे ही, भाषा और रिवाजों की परम्परा से भी वे श्रीमंतों की तरह ही भावात्मक बंधनों के द्वारा बंधे होते हैं। इस भाव-बन्धन के विरुद्ध जाना मानव-स्वभाव के विरुद्ध जाना है, किन्तु ऐसा बरताव तत्त्वनिष्ठ समाज-वाद और भौतिकवाद ने कई बार किया है। मानव की आवश्यकता को अस्वीकार करना ठीक नहीं—उसमें परिवर्तन भले ही हो सकता है। लोगों को राष्ट्रीय भावना से विश्व-भावना की ओर यदि ले जाना हो, तो उनकी भावनाएँ समृद्ध करनी चाहिए—न्यून नहीं। दीर्घ काल तक प्रवास करने वाला मनुष्य अपने जन्म-स्थान पर आया कि उसका हृदय उछल पड़ता है; परन्तु जिसने कभी गाँव नहीं छोड़ा, ऐसे मनुष्य की संकीर्ण असहिष्णुता उसमें न होगी। राष्ट्र के बारे में लोगों के मन में इसी तरह का परिवर्तन करना समाजवादी शिक्षा का ध्येय है। विश्व के सभी गरीब और नम्र लोगों की भ्रातृभावना एक जीवित मनोवृत्ति बननी चाहिए। मजदूरों को छुट्टी के दिनों में एक देश से दूसरे देश में ले जानेवाली संस्था की स्थापना होनी चाहिए। आज ये विचार आपको अहंकारपूर्ण लगेंगे, परन्तु इस तरह का मानसिक पुनरुज्जीवन नहीं हुआ, तो समाजवादी आन्दोलन, तानाशाही के यांत्रिक मार्ग से शोचनीय अन्त को जा पहुँचेगा।

वामपक्ष की दूसरी विमुखता भी कुछ कम नहीं है। रूस की वर्गोत्तर-कल्पना का यूरोप के वामपक्ष को कितना आकर्षण है, यह हमने देखा है। मजदूर-वर्ग के क्रान्तिकारी विभाग ने अपने राष्ट्र की निष्ठा को छोड़ दिया। अब रूस के चरणों में यह निष्ठा भक्तिपूर्वक चढ़ायी जाती है, किन्तु यह स्वेच्छा से नहीं हुआ।

जिन्हें अपना कल्पना-लोक खोया-सा लगा, उन्हें रूस नंदन-कानन दीखने लगा।

इसमें सर्वाधिक दुख यदि किसी के हिस्से में आया है, तो वह पूर्वी जर्मनी के भीतरी भाग में भूमिगत रहकर क्रान्तिकारी आन्दोलन करनेवाले लोगों के हिस्से में। इन भूमिगत क्रांतिकारियों को भलीभाँति मालूम था कि उनके शासकों का पराभव क्यों हुआ और उन्होने कैसा विश्वासघात किया। आक्रमण करने वाले राष्ट्र के प्रति उन्हें सहज ही घृणा होती थी; परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी निश्चय किया था कि पुरानी राज्य-व्यवस्था का फिर से निर्माण न हो। अतीत को उन्होंने ठुकराया था, किन्तु उन्हें भविष्य की स्पष्ट कल्पना न थी। क्रान्तिकारी मनोवृत्ति ऐसी ही होती है। यह मनोवृत्ति प्रबल किन्तु अस्पष्ट होती है। उसे मूलतः नवीन, आमूल परिवर्तित और नयी पीढ़ी जैसी कोई चीज चाहिए। इसी मनोवृत्ति से सच्ची क्रान्ति का निर्माण होता है और कभी-कभी भीषण और खोखली क्रान्ति भी निर्मित होती है। यह ऐतिहासिक कारणों पर निर्भर है। इसमें पहली श्रेणी के कुछ ही उज्ज्वल उदाहरण इतिहास में हैं, परन्तु दूसरी श्रेणी के काफी हैं।

जर्जरित राज्य के बन्धनों से विचलित क्रान्तिकारी जनसमूह नयी साम्राज्य-शाही को सत्तारूढ़ करने की मूर्खता बार-बार करता आया है। हिटलर पदारूढ़ कैसे हुआ? जर्मनी में भिखारी बने मध्यम वर्ग के पूँजीवादी द्वेष के कारण। इसी तरह पूर्व यूरोप की क्रान्तिकारी भावना रूस के विस्तार का साधन बन जायेगी। दुनिया से दूर हटे हुए कूप-मण्डूक, निराशामय क्रान्तिकारी रूस के चमकीले कल्पना-चित्रों पर, पाश्चात्य राष्ट्र के रूसी समर्थकों की अपेक्षा अधिक ध्यान देते हैं। रूस ही उनका एकमात्र आशा-स्थान था। उस रूस की जर्मन लोग जितनी अधिक बदनामी करते, उतना ही उनके सामने रूस का चित्र उज्ज्वल बनता। सच्चे-निर्दोष समाजवादी आन्दोलन के अभाव में, उत्कृष्ट क्रान्तिकारी कार्यकर्त्ता भावना के पिंजड़े में फँसे हैं और वे जब तक अपने स्थान से जग कर रूस के शुद्धीकरण, हदपारी और शत्रु को नाश करने की यथार्थता से परिचित होते हैं, उसके पहले ही उनका पिंजड़ा बंद कर दिया जाता है।

हम यह आशा कर सकते हैं कि पाश्चात्य मजदूर-वर्ग इस अनर्थ से बचा रहेगा। इसके बाद कुछ वर्षों में रूस की सच्ची स्थिति धीरे-धीरे पहचानी जायेगी। यूरोप की रंगभूमि पर स्पष्ट प्रकाश में रूस ज्यों-ज्यों आगे आत

जायेगा, त्यों-त्यों अपने देशान्तर्गत स्थिति के सम्बन्ध में दुनिया की आँखों में धूल झोंकना उसके लिए अधिक कठिन बनता जायेगा। रूस अपने विजित नये देशों को अलग रखने का अधिकाधिक प्रयास करेगा। ऐसा प्रयत्न उसने पोलैण्ड और बाल्टिक राज्यों के सम्बन्ध में भी १९३९-४१ में उन्हें जीतने पर किया था। आखिर सत्य बाहर आयेगा ही, किन्तु शनै-शनैः, मंद गति से।

यहाँ यह स्मरण करना अच्छा होगा कि १९३३ से १९३९ के छः वर्षों में नाज़ी राज्य-व्यवस्था ने, जर्मनी के भयंकर आतंक को बहुसंख्यक अंग्रेजों और फ्रांसीसियों से कैसे छिपा रखा था, यद्यपि वहाँ आने-जाने की छूट थी और जर्मनी रूस की अपेक्षा हमारे अधिक समीप है। जिन्हें जर्मनी की वस्तुस्थिति ज्ञात थी और जो उसे अनभिज्ञ बाहरी दुनिया को सुनाने के लिए चिल्ला रहे थे—उन पर 'युद्ध-प्रेरक और क्रूरकर्मी' का आरोप लगाया गया। आज रूस की वस्तुस्थिति दुनिया के सामने रखना उतना ही आवश्यक है। यह भी सत्य है कि जो ऐसा करेगा उस पर भी वैसा ही आरोप लगाया जायेगा। १९३९ में जिन्होंने रूस के बारे में शोरगुल मचाया था, यदि उन पर विश्वास किया गया होता या उनकी आवाज़ और भी अधिक बुलन्द की गयी होती, तो दूसरा महायुद्ध टल जाता।

आज भी जो लोग आगे की बात कहते हैं, उनके सामने भी वही थाली परोसी गयी है। परन्तु अब म्युनिक नीति स्वीकार करने वाले लोग ही वामपक्षीय बने हैं। १९३९ में जर्मन-चेक-विवाद के समय अनुदारों की जो वृत्ति थी, उसी की पुनरावृत्ति, रूस-पोलैण्ड-संघर्ष के समय, समाजवादी और उदारमतवादी समाचारपत्रों ने की थी। भिन्न वंश के अल्पसंख्यकों पर रूस के भीषण और सैनिक आक्रमण का समर्थन उन्हीं निर्बल तर्कों से किया गया। आक्रमणकारी को नाराज न करने की लालसा पहले ही की तरह इस समय भी दिखायी दी और विजित राष्ट्र के प्रति, जो चुपचाप अपनी हत्या होने नहीं देना चाहता, वैसी ही असहिष्णुता दिखायी गयी। "बड़े राष्ट्रों में मित्रता एवं शांति बनाये रखने के लिए कभी-कभी छोटे राष्ट्र और महान् सिद्धान्तों की बलि देनी पड़ती है," लुक-छुप कर दोनों बार यह स्वीकार किया गया। दोनों बार विवेक-शक्ति के क्षोभ के वही लक्षण प्रकट हुए।

म्युनिक-सन्धि के समय वामपंथी लेखकों ने विश्वसनीय ढंग से यह सिद्ध किया था कि मनाने-पथाने से शांति नहीं, युद्ध ही होता है। लेकिन आज वे ही अपना सारा वेदान्त भूल गये हैं। पहले जर्मनी और अब रूस के बारे में

यह गलतफहमी पैदा हुई कि आक्रमक राष्ट्र को यदि खुला छोड़ दिया जाय, तो अपनी भूख पूरी होने पर, वह अपने आप ही स्वस्थ बन जायेगा। इस गलत-फहमी से ही अनुनय की वृत्ति निर्मित हुई। परन्तु इतिहास का अनुभव भिन्न है। परिस्थिति को अपने वश में देखकर किसी भी राष्ट्र में आक्रमण की स्फूर्ति आती है। फिर महान् संघर्ष का संकट मोल लिए बिना उससे कितनी दूर जाते बनेगा, इसका भान उसे नहीं रहता। वह अपनी शक्ति से परे ऊँची उड़ान भरता है और अपनी इस भूल के कारण ही युद्ध की खाई में गिरता है। ऐसे गलत अन्दाज़ों से ही दोनों युद्धों का जन्म हुआ। अनुभव का यह खेल शतरंज की तरह खुला नहीं होता, वरन् ताश की तरह अज्ञात होता है। किसी छोटे राष्ट्र पर बड़े राष्ट्र ने आक्रमण किया, तो निश्चय ही उसकी परिणति विश्व-युद्ध में होगी, यदि यह सब को, स्पष्ट रूप में मालूम हो जाये, तो ऐसे आक्रमण की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि आक्रमक राष्ट्र का प्रयास उसकी भूख मिटने पर अपने-आप रुक जायेगा—यह बात गलत है। यह प्रयास परिस्थिति से—विरोध पाने पर—ही रुक सकेगा।

यूरोप की सत्ता का सन्तुलन पुनः लाना है, तो उसके लिए पाश्चात्य संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों का पुनरुद्धार करना होगा। परन्तु यह काम अनुदार दल के सदस्यों से नहीं होगा। समाजवादी आन्दोलन अपने मायाजाल का त्याग कर दे और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वातंत्र्य और सामर्थ्य पुनः अर्जित करे, तभी यह काम बन पड़ेगा। युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार पर मजदूर दल का प्रभाव पड़े या न पड़े, किन्तु अपनी विदेशी नीति का आधार बनाते समय यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि अन्य किसी भी बड़े राष्ट्र की तरह रूस भी केवल अपने उद्देश्यों के पीछे चलने वाली एक शक्ति है और किसानों, मज़दूरों तथा कारीगरों के भविष्य की उसे उतनी ही चिन्ता है, जितनी दूसरे देशों को, उससे अधिक नहीं। इस सत्य की स्पष्ट और निश्चित जानकारी यदि नहीं होगी, तो वाम पक्ष को और एक विपत्ति का सामना करना पड़ेगा।

* * *

ज्यों-ज्यों रूसी कपोल-कल्पना नष्ट होती जायेगी, त्यों-त्यों पाश्चात्य यूरोप के —विशेषकर स्वतंत्र देशों के—समाजवादियों में नये विकास होंगे। समाजवादियों के दो भाग होंगे—एक नये स्वतंत्र बुद्धि के क्रान्तिकारी और दूसरे रूस के

विश्वसनीय साथी। पहले क्रान्तिकारी वर्ग पर ही समाजवाद के पुनरुद्धार की सबसे बड़ी और एकमात्र आशा अवलम्बित है, यद्यपि अभी यह सब कल्पना ही है। रूस के समर्थकों का जो दूसरा वर्ग है, उसका शोचनीय अन्त होने का भय है। रूस की विदेशी नीति किसी भी समाजवादी तत्त्व पर आधारित नहीं है। इससे उसके विदेश में रहनेवाले सहयोगी आज 'तृतीय समाजवादी आन्दोलन' के वीर योद्धा होंगे, तो कल अनजाने ही 'तृतीय पंक्ति' के सदस्य बन जायेंगे। क्रान्ति की जन्मभूमि के ये कार्यकर्ता किसी विदेशी राष्ट्र के खुलेआम एजेंट बन जायेंगे। समाजवादी दल के अल्पसंख्यक वर्ग में तो यह परिवर्तन हुआ ही है, पर बहुसंख्यक लोग भी उसी मार्ग पर गिरते-पड़ते चले जायेंगे, इसमें सन्देह नहीं। पहले धार्मिक आन्दोलन के इतिहास में जो हुआ, वही आज समाजवादी आन्दोलन में हो रहा है। रूस के सिरफिरे और विकृत समर्थक अपने अर्धज्ञान के अनुसार स्वेच्छा से जेल में जायेंगे और मृत्यु का आलिंगन भी करेंगे। उनका सारा त्याग समाजवाद के नाम से होगा, परन्तु वस्तुतः वह होगा पुराने धर्म के लिए, रूस के लखपतियों के लिए और इवान-पीटर-जैसे महान् शासकों की परम्परा के लिए।

'कभी ये मजदूर-वर्ग के वीर और कट्टर कार्यकर्ता थे, परन्तु भ्रामक ज्ञान का शिकार होने से बेकार हो गये,' इतिहास में तो यही लिखा जायेगा।

३

मायाजाल के नाश-जैसी दुःखद बात और कोई नहीं। रूस के उपासकों ने रूस पर आँख मूद कर विश्वास रखने की आदत अपने में डाल ली है। रूसी निष्ठा को भंग करना, उन्हें विश्वासघात-जैसा लगेगा। परन्तु वे इस बात की पर्वाह नहीं करते कि रूस ने अपना प्रण कैसे भंग कर दिया। "आज रूस समाजवादी राष्ट्र नहीं रहा", यह सत्य उनसे बलपूर्वक स्वीकार करवा लेने पर भी वे ऐसी आशा करते रहेंगे कि शायद आगे चलकर—एक दिन, जब रूस की नौकरशाही के समाप्त होने की घोषणा होगी—रूस उस दिन समाजवादी राष्ट्र बनेगा।

दूसरे शब्दों में कभी-न-कभी तो रूस समाजवादी बनेगा ही—पुर्तगाल भी बनेगा, अमरीका भी बनेगा। लेकिन आज तो हम इतना कह ही सकते हैं कि रूस, अर्थनीति का राष्ट्रीयकरण कर के भी, इंग्लैण्ड या न्यूजीलैण्ड की अपेक्षा समाजवाद के अधिक निकट नहीं पहुँचा। १९४७ से रूस के विकास

की रेखा समाजवाद की ओर न जाकर समाजवाद से विपरीत दिशा की ओर बढ़ गयी है। दूसरी ओर इंग्लैण्ड की विकास-रेखा रुकते-रुकते और आगे-पीछे होते हुए भी निश्चित रूप में समाजवाद की ओर अग्रसर है। वहाँ के वर्गभेद की दीवारें गिर रही हैं, और मजदूर-वर्ग के जीवन-स्तर में काफी वृद्धि हो रही है। यद्यपि कई बार इस विकास को अपने मार्ग से पीछे हट आना पड़ता है—प्रतिक्रिया सहनी पड़ती है, परन्तु रूस की तरह एकतंत्रशाही की मंजिल पाने के लिये रूस-जैसा पतन इंग्लैण्ड का सहसा न होगा। रूस की तरह की स्थिति में पहुँचने के लिए इंग्लैण्ड को पर्याप्त समय लगेगा और उसे काफी उलान उतरनी होगी।

रूस और इंग्लैण्ड में से किस देश में समाजवाद के आने की अधिक संभावना है? इस प्रश्न की यदि हम मार्क्सवादी कसौटी पर जाँच करें, तो 'इंग्लैण्ड' ही इसका उत्तर होगा। देश में प्रजातंत्रीय स्वतंत्रताओं को सुरक्षित रखना मजदूर-वर्ग के लिए महत्वपूर्ण है, मार्क्सवाद की यह मूल शिक्षा है। पूँजीवादी प्रजातंत्र एक खोखला प्रजातंत्र-मात्र है, क्योंकि पूँजीवादी राज्य शासक-वर्ग के हाथ का खिलौना बन जाता है। परन्तु राज्य में लोकसभा, भाषण-स्वातंत्र्य, संघ-स्वातंत्र्य आदि प्रजातंत्रीय संस्थाओं के रहने से मजदूर-वर्ग के लिए अपना संगठन करना और अपनी शक्ति बढ़ाना सम्भव है। तानाशाह राज्य में यह काम बड़ा कठिन हो जाता है।

हमने देखा है कि रूस का एक वैधानिक पक्ष शासक-वर्ग से मिलकर एकरूप हो गया। वह मजदूर-वर्ग के हित-साधन का साधन न रहा। ट्रेड-यूनियनों के साथ भी यही हुआ। रूस में मजदूर-वर्ग की तानाशाही नहीं है, वरन् अन्य किसी भी देश के शासक के समान ही सत्ता को थाम कर बैठने वाले अधिकारियों की नौकरशाही है। विश्व के इतिहास में आज तक किसी भी शासक-वर्ग या जाति ने स्वेच्छा से अपने अधिकार नहीं छोड़े और उसमें भी युवा और शक्तिशाली शासक-वर्ग तो वैसा रुख कभी नहीं अपनायेगा। शासक-वर्ग के कुछ व्यक्तियों का दर्शन भले ही उदात्त हो, परन्तु सम्पूर्ण वर्ग तो सत्ता के लिए आवश्यक संघर्ष के सभी नियमों का पालन करने को तैयार रहता है।

इंग्लैण्ड में अनुदार दल की सत्ता समाप्त होने पर ही वहाँ समाजवाद आना सम्भव है और रूस में नौकरशाही समाप्त होने पर ही समाजवाद का आगमन सम्भव है। आज का ब्रिटिश मजदूर-दल तो एक लंगड़ा बत्तक है। परन्तु सच्चे समाजवादी आंदोलन के उदय के लिये वहाँ के कानून और विधान ने सुविधाएँ

दे रखी हैं। रूस में इनका अभाव है। ब्रिटिश प्रजातंत्र का विधान समाजवाद की ओर क्रमशः बढ़ने का अवसर तो देता है; परन्तु रूस की तानाशाही का कड़ा कवच तोड़ने के लिए तो उपद्रव ही एकमात्र मार्ग प्रतीत होता है। यदि समर्थ और सुसंगठित दल, स्पष्ट और निश्चित ध्येय के लिए क्रान्ति का निशान हाथ में न ले, तो वह क्रान्ति किसी भी राह पर जाने लगती है और जब रूसी तानाशाही परिस्थिति में ऐसे दल का विकास हो नहीं सकता, तो रूस में जो नयी क्रान्ति आयेगी—उसका रूप अस्तव्यस्त और बड़ा भयंकर होगा। १९१७ की क्रान्ति के बिल्कुल विपरीत उसका रूप होगा और उसमें सुधार की गुंजाइश न रहेगी।

हमारे सारे तर्कों का निष्कर्ष यही है कि जो रूसी साम्यवाद समस्त यूरोप में प्रसारित होने के लिए प्रयत्नशील है, उसे रोकने के लिये सच्चे समाजवादी आन्दोलन का निर्माण होना आवश्यक है। इस काम को करने में समर्थ एक भी वामपक्ष नहीं दीखता। उचित समय पर अंतर्राष्ट्रीय आन्दोलन होगा और यह प्रलय टलेगा या नहीं, कहना कठिन है। यदि ऐसा हुआ, तो वामदल ने आज तक जो-जो भूलें की और उसने जो त्याग किया है, वह सब मानवता की सेवा के लिए चुकायी कीमत मानी जायेगी और वह कीमत अधिक भी नहीं होगी। लेकिन यदि ऐसा न हुआ, तो हमारे लिए तथा भावी पीढ़ियों के लिए बहुत बुरी स्थिति आयेगी और पाश्चात्य राष्ट्रों की अधोगति एक ऐतिहासिक घटना बन जायेगी।

* * *

रूस के प्रयोग की असफलता से हमें सबसे महान् पाठ यह लेना है कि आर्थिक शक्ति महत्त्वपूर्ण अवश्य होती है; परन्तु केवल वही महत्त्वपूर्ण नहीं होती। राष्ट्रीय अर्थनीति अत्याचार और प्रतिक्रिया का साधन बन सकती है। केवल अर्थनीति पर अपने सारे साधन केन्द्रित करने के कारण ही वामपक्ष दल जनता के विचित्र और परिवर्तनीय स्वभावों की ओर से बहरा बन गया। फलस्वरूप लोगों का धर्म-प्रेम नवीन कल्पना-जालों और गलत रहस्यवाद के अंचलों में भटकने लगा।

वामपक्ष की विमुखता—कृत्रिम भावनाओं का घेरा तोड़ना—काम का अर्द्ध भाग ही है। शेष आधा काम है नये आध्यात्मिक वातावरण में भ्रातृभाव का नया संगठन खड़ा करना। इन संगठन के नेताओं को जनता के जीवन का भाग बनने के लिए दारिद्र्य-व्रत लेना चाहिए और अनिर्बन्ध सत्ता-सम्पादन

करने के मोह से दूर रहना चाहिए। यदि यह सब आपको हवाई किले लगेंगे, तो समाजवाद भी एक कल्पना-लोक ही बन कर रह जायेगा।

आज के ज्ञान-युग ने व्यक्ति-पूजा का अन्त कर दिया है। इससे हुए घाव अभी तक भरे नहीं। प्रत्येक के अन्तर में रिक्तता निर्मित हो गयी है। प्रत्येक की आत्मा प्यासी है। समाजवादी तत्वज्ञान यदि इस रिक्तता को न भरेगा, इस प्यास को न बुझायेगा, तो उसे असफलता के सिवा और कुछ न मिलेगा। फ्रांस की क्रान्ति के बाद समाजवादी तत्त्वज्ञान का जो विकास हुआ, वह इतिहास के एक प्रकरण की समाप्ति है—नये प्रकरण का आरम्भ नहीं।

योगी और अधिकारी (२)

"विज्ञान एक वृहत् और प्रभावशाली पुनरुक्ति है।"

—सी. सी. पैट (द' लाजिक आव मार्डन साइकोलाजी)

१

शाम के छः बजे हैं। मैंने अभी-अभी मद्यपान किया है। और अधिक पीने का मुझे बड़ा तीव्र मोह हो रहा है। यह भी इच्छा हो रही है कि यह निबन्ध न लिखने बैठूँ और बाहर जाकर भोजन कर आऊँ। इस विषय में मैं अपने मन से पिछले पंद्रह मिनटों से लड़ रहा हूँ। लेकिन आखिर मैंने शराब की बोतल बंद की और उसे अलमारी में रख कर अपनी मेज के सामने आकर बैठ गया। इस निर्णय से अपने पर मुझे बड़ा संतोष हो रहा है।

वैज्ञानिक दृष्टि से यह संतोष ऊपरी था, क्योंकि अपने मन से लड़ने के पूर्व ही इस प्रश्न का हल तय हो गया था! यह भी तय हो गया था कि मुझे ऊपरी संतोष का अनुभव हो और इस समय जो मैं लिख रहा हूँ, वह लिखने बैठूँ।

निश्चय ही मैं अपने अन्तरतम मन से विश्वास नहीं करता कि बात ऐसी है। कम-से-कम पंद्रह मिनट पूर्व तक तो निश्चित रूप से ऐसा विश्वास करता था। यदि मैं वैसा मानता होता, तो 'अन्तःसंघर्ष' का निर्माण न होता और "भाग्य में ही ऐसा लिखा है", कह कर मैं मदिरा की प्यालियों पर प्यालियाँ खाली करता चला जाता।

इस प्रकार नियतिवाद में मेरे अविश्वास की जड़ें अवश्य ही मेरा बरताव नियंत्रित करने वाले तत्त्वों में होंगी। "यह सब पूर्व-आयोजित है," इस पर मेरा जब अविश्वास होगा, तभी पूर्व-आयोजित घटना होगी। यह एक आवश्यक शर्त है। मुझमें अविश्वास की भावना हठात् पैदा करके ही नियति अपना मार्ग बना सकती है। नियतिवाद की कल्पना में ही आचार और विचार का भेद अन्तर्भूत है। यह मनुष्य को एक ऐसे विश्व में ढकेल देती है, जहाँ आचरण के नियम 'ऐसा' और 'यदि' तथा तर्क के नियम 'क्योंकि' पर आधारित हैं।

यह विरोधाभास केवल वैज्ञानिक नियतिवाद में ही दीखता है, ऐसा नहीं।

धार्मिक नियतिवाद की दुनिया में रहने वाला मुसलमान भी ऐसी दुविधाजनक मनोवृत्ति प्रकट करता है। यद्यपि वह कुरान की आयतों में विश्वास करता है कि प्रत्येक मनुष्य का भाग्य उसके गले में बँधा रहता है; परन्तु जब उससे कोई भयानक भूल होती है, तब वह अपने दुश्मन को और अपने-आप को कोसने लगता है—मानो हर मनुष्य अपनी पसन्द का मालिक है। उसका बर्ताव अपने क्षेत्र में हूबहू उस वृद्ध कार्ल मार्क्स-जैसा ही है, जिसने सिखाया था कि—'मनुष्य के मन का रूप उसके वातावरण से बनता है।' परन्तु फिर परिस्थितिजन्य कारणों से दूसरा आदमी जब उससे मतभेद दिखाने लगता, तो मार्क्स उसको लाखों गालियाँ सुनाता।

नियति बनाम स्वातंत्र्य अथवा समाधान बनाम संकल्प—यह द्वन्द्व मनुष्य के मन में सनातन है। ये दोनों कल्पनाएँ मनुष्य की मूलभूत सहज प्रवृत्ति से निर्मित हुई हैं। ये कल्पनाएँ अलग-अलग समय पर भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती हैं। इस सृष्टि में अव्यवस्था देखकर भयभीत हुए मनुष्य को ऐसा मानने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि इस सृष्टि के पीछे कोई एक विश्वव्यापी व्यवस्था है, इसे नियंत्रित करने वाला तत्त्व है। उसी आवश्यकता से नियतिवाद की कल्पना निकली है। हम अरक्षित हैं—सारे विश्व में वैषम्य है। मनुष्य को ऐसी चिन्ता होती है कि वह अपने लिए कोई समाधान खोजने लगता है—चमत्कारिक और इस स्थिति के लिए कोई समाधान। प्राथमिक अवस्था का धर्म इसीलिए प्राकृतिक शक्ति को मानव का रूप देता था। उस समय के भगवान कितने ही उग्र और भयानक होते हों, वे मानवीय भावना के स्पर्श से पिघल जाते हैं और इसीलिए हम पर जो भी संकट आता है, उसका संतोषपूर्ण ढंग से समाधान हो जाता है।

लगभग सन् १६०० में नियति की कल्पना बदली। तब वस्तु का स्वरूप परिणाम में आँका जाने लगा और वस्तु-वस्तु के पारस्परिक कार्यव्यापारों के नियम बने। रंग, ध्वनि, उष्णता और शीत, ऊपर और नीचे, पशु और मानव—ये सब पदार्थ भिन्न श्रेणी के हैं, यह भावना जागी। उनमें अन्तर केवल अंशों का है—ऐसा समाधान सामने आया। इसका फल यह हुआ कि इस विश्व की नियंत्रक शक्ति का ज्ञान गणित की भाषा में लिखा जाने लगा। मानव का ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों-त्यों ईश्वर के माननीय विकार कम होते गये, और अन्ततः उसका मानवी रूप पूर्णयता लुप्त हो गया। विश्व के नियंत्रक का अधिष्ठान इस प्रकार बदला; फिर भी मनुष्य के गले में बँधा

नियतिवाद वैसा ही अखण्ड रहा। देवता मानव से ऊपर की कोटि के होते थे—अज्ञात ऊपर की श्रेणी में। अणु और इलेक्ट्रोन मानवीय क्षेत्र की ही चीजें हैं—किन्तु एक निचली श्रेणी में। लेकिन दोनों का फल एक ही है। पहले नियति ऊपर-ऊपर से मनुष्य का भाग्य संचालन करती थी, अब नीचे से करती है।

संकल्प-नियतिवाद-विरोधी की परिभाषा होगी, प्रेरणा और संयम की परस्पर क्रिया का मनोवैज्ञानिक रूप या ऊँचाई। अगर यह परस्पर क्रिया चेतना के स्तर पर होती है, तो ऐसा अनुभव होता है कि यह जबरन लादी गयी नहीं है—मनचाही अवश्यम्भावी प्रक्रिया नहीं है। ध्यान के केन्द्रीभूत होने की प्रक्रिया जितनी निकट होती है, स्वतंत्रता का यह आत्मगत अनुभव उतना ही सशक्त होता है। उपचेतना के किनारों पर की प्रक्रियाओं से उत्पन्न कार्य 'शून्य चित्त' अर्द्ध स्वयंचालित कार्य के रूप में अनुभव किये जाते हैं और अतिचेतना के किनारों की प्रक्रियाओं से उत्पन्न कार्य पूर्णतया स्वतःचालित कार्य के रूप में।

ध्यान के केन्द्रीभूत होने की प्रक्रिया से उत्पन्न स्वतंत्रता का अनुभव संभवतः चेतना का पर्यायवाची है। इसकी आवश्यक विशेषता यह है कि यह प्रक्रिया बाहर से भीतर की ओर के बजाय भीतर से बाहर की ओर कार्य करती अनुभव होती है। यह बाहरी वातावरण से नहीं, बल्कि विषय के अन्तर्भाग से स्थिर होती प्रतीत होती है। मनोवैज्ञानिक सतह पर स्वातंत्र्य-अनुभव उतनी ही प्रदत्त 'यथार्थता' है, जैसी दर्द के प्रत्यक्ष अनुभव में होती है। स्वतंत्र संकल्प के अनुभव का उन्मूलन व्यक्ति के सम्पूर्ण मानसिक ढाँचे के विनाश की ओर अग्रसर करता है—पागलपन के कुछ रूपों में इसे देखा जा सकता है। नैतिक मूल्यों और नीतिशास्त्र विषयक आवश्यक कर्त्तव्यों की सभी प्रणालियों में स्वतंत्र चुनाव की धारणा उपलक्षित है।

नियतिवाद और स्वतंत्रता के विश्वास की जड़ें मौलिक प्रवृत्तियों में हैं। पहले की जड़ें एक विश्वव्यापी व्यवस्था—जो सारी बातों का समाधान करती है और प्रकृति की भयानक शक्तियों को वश में करती है—द्वारा सुरक्षा की आवश्यकता में हैं; दूसरे की जड़ें किसी भी कार्य की इच्छा में, जो रुकावट द्वारा संतुलित और ध्यान द्वारा केन्द्रित होने पर, स्वतंत्र चुनाव के अनुभव को जन्म देती है। हम लोगों ने देखा है कि दोनों विश्वासों का परस्पर सम्बन्ध है। समाधान में प्रत्येक प्रगति बोधगम्य उद्देश्यमूलक संबन्धों का जाल कसती है और आत्मगत चुनाव की परिधि संकुचित कर देती है। इस प्रकार मस्तिष्क अपने स्वयं के स्वातंत्र्य-अनुभव को अस्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया जाता है।

यह ध्यान में लाना आवश्यक है कि यह मतभेद मूलतः (जैसा यह आज प्रतीत होता है) उद्देश्यमूलक विचार और आत्मगत भावना के बीच का नहीं है। ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद के 'भाष्य' स्वतंत्र संकल्प के अनुभव के समान ही, प्रभावशाली, तर्क से पूरे और अविवेकपूर्ण हैं। स्वतंत्रता और नियतिवाद के बीच का मतभेद दो सहज प्रवृत्ति से उत्पन्न विश्वासों के बीच चलने वाला मतभेद है—जो समान प्रगाढ़ता के साथ परिवर्तन में अनुभव किया जाता है।

२

प्राथमिक अवस्था में मनुष्य का सारा जीवन धार्मिक विधियों से भरा हुआ होता था। इन धार्मिक विधियों का उद्देश्य अपने भाग्य का नियंत्रण करनेवाली आत्माओं को प्रसन्न करने का होता था। ये धर्म-विधियाँ की जायें या नहीं? करें तो अच्छी पद्धति से करें या बुरी पद्धति से, इसका निश्चय करने की हमें पूर्ण स्वतंत्रता है—ऐसा उसे विश्वास था। मतलब यह कि वह नियति का गुलाम न था, वरन् वह कुछ परिस्थितियों में अपनी इच्छा उन आत्माओं पर लादता था। प्राथमिक काल का मनुष्य इस विरोधाभास से अपरिचित होता था; क्योंकि उसके वे देवता मानवीय भावना से युक्त होते थे—अपूर्ण होते थे। उनके आचारों का नियंत्रण करने के लिए उनसे ऊँचे देवताओं की आवश्यकता थी। उन देवताओं के ऊपर दूसरे और उन पर फिर तीसरे—इस प्रकार पीछे जाते-जाते पूर्ण निराकार, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ ईश्वर की कल्पना के पास मनुष्य आ पहुँचा।

प्राथमिक अवस्था में मनुष्य स्थूल नियतिवाद पर ही संतुष्ट रहता है। किन्तु मनुष्य के मन का ज्यों-ज्यों विकास होता है, त्यों-त्यों उसे अधिक पूर्ण समाधान की भूख लगती है, नियतिवाद का जाल मजबूत बुना जाता है और वह जाल हाथ में लेने वाला देवता सर्व-गुण-सम्पन्न बनता है। इस अवस्था में नियतिवाद बनाम इच्छा-स्वातंत्र्य का द्वंद्व पुराण-कथा में नाटकीय ढंग से वर्णित है। प्रभु की इच्छा के विरुद्ध, ईव अच्छे-बुरे ज्ञान का फल चखती है। प्रोमेथस देवता की अग्नि चुरा कर लाता है। जेकब देवदूतों से लड़ता है। बेबल की मीनार बनती है और विनष्ट की जाती है।

नियतिवाद और इच्छा-स्वातंत्र्य के संघर्ष में नियतिवाद का जन्म होता है। चूँकि इच्छा-स्वातंत्र्य की कल्पना नयी है, अल्पवयस्क है, इससे प्रोमेथस के

प्रत्येक प्रयत्न का अंत पराजय, दंड और दीनता में होता है। आगियन अस्तबल कभी साफ नहीं किया जाता—डेनियड का पात्र कभी भरा नहीं जाता—सिसिफस का श्रम व्यर्थ है। आत्मसुरक्षा की इच्छा आत्मविश्वास से अधिक शक्तिशाली है। दूसरे किसी ग्रह पर जहाँ के लोगों का प्राणिशास्त्र की दृष्टि से कम विकास हुआ है, धर्मविपरीत मार्ग ग्रहण कर सकता है। तब हर युद्ध में देवताओं पर प्रोमेथस की विजय होगी और वहाँ का मानव-समाज स्वतंत्र और आत्मविश्वास से भरा हुआ होगा। उसे धर्मगुरु, नेता या राजा की आवश्यकता नहीं मालूम होगी—किसी बरसात के दिन स्वप्न सँजोने के लिए यह आकर्षक विषय है।

ओडियस रेवस द्वारा किये गये अनश्वर कल्पना-जाल के रूप में यह मतभेद अपनी चेतना के शिखर पर पहुँच जाता है। स्पष्ट ही वह अपने संकल्प की स्वतंत्रता बनाये रखता है और कभी अपनी नियति का आदर्श पूरा नहीं करता। नियति जानती है कि अपने स्वतंत्र चुनाव के कारण ही वह कभी अपने पिता की हत्या नहीं करेगा—कभी अपनी माँ से शादी नहीं करेगा; अतः वह उसे झूठे दिखावों में डाल देती है। उसकी स्वतंत्रता उनके गणना करने की विशेष विधि के अंतर्गत है, अतः उसका कुछ विशेष उपयोग नहीं है। किन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नियति कम-से-कम मनुष्य को स्वतंत्रता के माया-जाल में बाँध देने को मजबूर की गयी है।

ईसाई धर्म इस हल को लेकर एक कदम आगे बढ़ा। उसके मन में मनुष्य की स्वतंत्रता अब माया-जाल नहीं रही, बल्कि मानवी सृष्टि में एक यथार्थ वस्तु है। परन्तु अतिमानवी सृष्टि में ईश्वर सर्वत्र और सर्वज्ञ है और वह इस सृष्टि का संचालन करता है। समस्या और भी तीव्र हो गयी, किन्तु साथ ही इसे मस्तिष्क से निकाल कर प्रकृति की ओर फेंक देने से इसका हल भी निकल आया। विश्व स्वयं दो भागों में बाँटा गया है—एक में मनुष्य का संकल्प और दूसरे में दैवी संकल्प—नियति। दैवी बुद्धि के नियम मानव से अज्ञात होते हैं; परन्तु मनुष्य की सारी बातों का दैव को ज्ञान रहता है। मनुष्य अपने को जैसा समझता है, वैसा उसका देव होता है—"जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही वह बनता है।" प्राथमिक मनुष्य की कल्पनासृष्टि में देव और मनुष्य के आचार-विचार समान होते थे, परन्तु ईसाई धर्म के अनुसार देव, मानव और पशु—इन सबके नियम अलग हैं।

स्वातंत्र्य और नियतिवाद का तार्किक विरोध देवों की विभिन्न सतहों के लिए

विभिन्न प्रकार के तर्कों से हल कर लिया गया है।

ईसाई धर्म के देवताओं के विभिन्न स्तरों की निम्नलिखित विशेषताओं का यहाँ उल्लेख करना लाभदायक होगा—

हर चीज के समाधान का नाम परमात्मा है; किन्तु यह समाधान निम्न (मानवीय) स्तर पर सूत्र रूप में नहीं कहा जा सकता।

उच्च स्तर के नियमों को न तो निम्न स्तर के अनुकूल सीमित ही किया जा सकता है, न निम्न स्तर से उनके बारे में कोई अनुमान लगाया जा सकता है।

निम्न स्तर की घटनाएँ और उनके नियम उच्चतरीय व्यवस्था को ज्ञात प्रतीत होते हैं

किन्तु,

उच्चतरीय व्यवस्था की घटनाएँ निम्न स्तर पर घटती हैं, तो वे अतर्क्य और चमत्कारपूर्ण प्रतीत होती हैं।

३

१७-वीं सदी के आरम्भ में नियतिवाद को पूर्ण निराकार स्वरूप प्राप्त हुआ और ईश्वर एक गणितज्ञ बन गया। माप और परिमाण-सम्बन्धी नियमों द्वारा समाधान के नवीन तरीकों के प्रथम मुख्य जन्मदाताओं को यह विश्वास था कि भगवान् ने विश्व बीजगणित के नियमों के अनुसार बनाया है और उसके ग्रह-सम्बन्धी नियम ग्रहों में शांति बनाये रखने की उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। किंतु अब, जब कि नियति ने विश्व-व्यवस्था के उद्देश्यमूलक सिद्धान्तों को आत्मसात् कर लिया है, तब आत्मगत संचालक की जरूरत नहीं रह गयी और परमात्मा प्राकृतिक विषय में विलीन हो गया, क्योंकि एक सर्वांग-सम्पूर्ण नियम में न्यायाधीश के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

इस प्रकार विस्तार के चक्कर के एक ऊँचे मोड़ पर विश्व पुनः एक ही प्रकार का हो गया। एक ही नियम अणु, तारे, मस्तिष्क और इसके सबसे ऊँचे स्वरूपों के लिए लागू होते थे। एक ही अंतर था—जैसा हम देख चुके हैं—कि ऊपर का नियतिवाद, नीचे का नियतिवाद बन गया, प्राथमिक काल के मनुष्यों ने देवताओं की, मनुष्य के आकार की, आकृतियाँ बनायी थीं। उस समय के भौतिक शास्त्रवेत्ताओं ने अणु-केन्द्र के त्रि-विस्तारीय ढाँचे बनाये थे। जैसे पर्यवेक्षण ने प्रगति की, ढाँचे ढहते गये, साथ ही आकृतियाँ भी। देवता

निराकार हो गये और ढाँचे अपूर्ण रह गये। मानव-स्वभाव की उच्चमुखी प्रलम्बता और मानव के सांसारिक अनुभव की निम्नमुखी प्रलम्बता पूर्ण समाधान के लिए अपर्याप्त थी और यह धर्मवाक्य—"तुम उनकी कोई निश्चित आकृति नहीं बना सकोगे"—बहुविस्तारीय आकाश, इलेक्ट्रोन और तरंगों के समान ही परमात्मा पर भी लागू होता था।

ओडियस की दंतकथा में धार्मिक नियतिवाद के जिस संकट का वर्णन किया गया है, वैज्ञानिक नियतिवाद भी इस प्रकार उसी ओर बढ़ रहा था। मनुष्याकार देवताओं के हाथ की कठपुतली बनने के स्थान पर वह पदार्थ रसायन का स्वतःचालित यंत्र बन गया। स्वतंत्र चुनाव के लिये नीचे के नियतिवाद ने ऊपर के नियतिवाद के समान ही बहुत कम अवसर छोड़ा। वंश-परम्परागत गुण और वातावरण की लौह पकड़ से बचना उतना ही मुश्किल था, जितना नियति के जादू से। अंतर एक ही था कि बेमतलब के दार्शनिक शब्दों ने मतभेद को दुर्बोध करने की अपनी ओर से पूरी कोशिश की। किन्तु इस सदी के आरम्भ तक दार्शनिक अपने बेमतलब के शब्दों से स्वयं ही ऊब गये। 'स्वतंत्र इच्छा' पर किये जाने वाले तर्क निरर्थक और बेकार माने जाने लगे। शराब पीने के स्थान पर, मुझे इस निबन्ध पर जितना श्रम करना पड़ा है, उसे मिटाने के लिए ब्रिटिश म्यूजियम के सभी ग्रन्थ अपर्याप्त हैं।

* * *

अभी तक हमने अपने विरोधाभास के तार्किक रूप पर विचार किया है। नीति-शास्त्र पर आख़िर इसका क्या प्रभाव पड़ा?

नीति-शास्त्र इच्छा-स्वातंत्र्य पर आधारित होता है। देवी-देवता को वश में करने के लिये आदि मानव प्रार्थना करता, उनकी शरण जाता, उन्हें धमकी देता, उद्दण्डता बरतता, घूस देता और स्वयं का बलिदान भी करता था। यही उसका नीति-शास्त्र था। इच्छा-स्वातंत्र्य और नियति के बीच का पुल आदि-मानव की धर्म-विधि था।

भगवान् के चरणों में जाने की भावना ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी, त्यों-त्यों उसे धमकी देना बन्द हुआ और नम्रता तथा शरण में जाने की भावना को नीति-शास्त्र में महत्ता प्राप्त हुई। ईश्वरीय आज्ञा के सम्मुख मानवीय इच्छा-स्वातंत्र्य गौण हो गया। ईश्वर की आज्ञा को अपने अनुकूल बनाने के लिए मनुष्य अपनी इच्छा का बलिदान करने को तैयार हो गया। उसने अपना इच्छा-स्वातंत्र्य भी ईश्वर को अर्पित कर दिया और समाधि-अवस्था में तो जीवात्मा विश्वात्मा

से एकरूप ही हो जाता था। यहीं विश्व की गुत्थी सुलझती है। "इच्छा न करने की मेरी इच्छा है," इस सूत्र में सभी आध्यात्मिक शास्त्रों का सार है और इसका अर्थ है—अनासक्ति।

जैसे देवता का रूप गणित की परिभाषा में बैठ गया, वैसे ही नीतिशास्त्र का भी। 'अधिकाधिक लोगों को अधिकाधिक प्रसन्नता'—यह ध्येय नीतिशास्त्र ने मानव के सामने रखा। नीतिशास्त्र ने इच्छा-स्वातंत्र्य और नियतिवाद का समन्वय किया। लेकिन देवता का स्वरूप बदलते ही धर्म-विधि का स्वरूप भी बदला। प्रकृति की शक्ति मानव के भविष्य को नियंत्रित करती है। परन्तु उसी नैसर्गिक शक्ति पर प्रभुत्व प्राप्त करने का साधन मानव को साध्य हो रहा है। इसलिए वह अपने को दूसरे का दास समझने के स्थान पर अपने को प्रभु मानने लगा है। पहले शान्तिपूर्वक ध्यान करने से ही समाधान सम्भव था; परन्तु अब उसके लिए खोज करनी पड़ती है। पहले यह कल्पना थी कि मनुष्य की अवस्था उसके कर्मों के अनुसार होती है और उसके कर्मों का फल 'ऊपर' से मिलता है। अब विकासवाद के अनुसार प्राथमिक अवस्था से मानव बढ़ते-बढ़ते इस स्थिति में आ पहुँचा है और जीवित रहने के लिए सतत संघर्ष करता हुआ वह उच्च स्तर की ओर जा रहा है, ऐसी कल्पना दृढ़ हो रही है। "समाज दैवी आज्ञा के अनुसार चले"—इस ईसाई विचार-धारा का उद्देश्य मनुष्य का आंतरिक परिवर्तन था। अब जिस नये परिपूर्ण समाज का निर्माण हो रहा है, उसका उद्देश्य 'बाह्य परिवर्तन' है। आचारशास्त्र के नये नियम निष्क्रियता की अपेक्षा सक्रियता, समर्पण के बजाय प्रभुत्व, दुर्बलता के स्थान पर कठोरता, मार्गदर्शन की अपेक्षा गणना पर अधिक जोर देते हैं। इसीलिए संत की तुलना में क्रान्तिकारी और योगी की तुलना में कमिसार उच्चाधिकारी सफल हुआ है।

इस परिवर्तन का एक परिणाम और हुआ कि समाधान आश्वस्त करने की विशेषता खो बैठा। विलक्षण को अपनी जानी-पहचानी चीज के सदृश करना—इसी सहज प्रवृत्ति में ही ज्ञान और आश्वासन की प्रेरणा की जड़ें थीं। मानसिक संगठन के स्तर में वृद्धि होने पर अन्य सभी सहज प्रवृत्तियों के समान ही इसे भी विभक्त कर दिया गया, जिससे आज इसकी जड़ का पता लगाने के लिए विश्लेषक की सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है। धार्मिक नियति-वाद में इसकी सभी शाखाएँ शामिल थीं।

परमात्मा सुरक्षा और समाधान दोनों था। वैज्ञानिक नियतिवाद ने एक ही

भाग को अपनाया। नीचे का नियतिवाद सुरक्षा देने में असमर्थ रहा। उपेक्षित शाखा ने दंतकथाओं की ओर मनुष्य को मोड़कर अपना बदला लिया और जगल के नगाड़ों की आवाज ने वैज्ञानिक घड़ी की 'टिक्-टिक्' दबा दी!

४

इस सदी के आरम्भ में, तात्त्विक पदार्थ-विज्ञान से प्रायोगिक गर्भशास्त्र तक विज्ञान की लगभग सभी शाखाओं में वैज्ञानिक नियतिवाद का अप्रत्यक्ष संकट तीक्ष्ण हो गया।

१९०० के आसपास, कुछ विशिष्ट अणुपुंज एक छोटे ओडियस की तरह पृथक्-पृथक् नज़र आये। वे एक विशेष योजना के अनुसार नियोजित थे, परन्तु अपने क्षेत्र में वे स्वतंत्र-से दिखाई देते थे। प्रत्येक सेकण्ड में ५० करोड़ अणु—रेडियम के सूक्ष्म कण का विभाजन इस वेग से होने की नियति निश्चित है; और यह भी निश्चित है कि वे कण विभाजित होते समय एक विशेष प्रकाश देते हैं, परन्तु वे प्रत्येक कण अपनी परिस्थिति में किसी भी बाह्य दबाव से मुक्त हैं, ऐसा दीख पड़ा।

रदर फोर्ड और सौडी नामक वैज्ञानिकों ने १९०३ में यह खोज की कि रेडियो-सक्रिय अणु का विभाजन स्वयंस्फूर्त होता है—अर्थात् अणु की स्थिति, आकृति या वातावरण पर बिल्कुल निर्भर नहीं। अणु की वर्तमान स्थिति के अत्यन्त यथार्थ वैज्ञानिक वर्णन से भी उसके भविष्य के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। उसका भाग्य जैसा कि जीन्स ने कहा है—"बाहर के बजाय भीतर" से निश्चित प्रतीत होता है। प्रत्येक अणु स्वतंत्रता का उपभोग करता है। इसका यह अर्थ है कि उसके कार्य-व्यापार की परिभाषा पदार्थ-विज्ञान की परिभाषा में नहीं हो सकती।

आइंस्टीन ने १९१७ में यह खोज की कि स्वेच्छानुरूप अपनी शक्ति के ह्रास का अधिकार सभी अणु को है। उसी समय क्रोडिंजर नामक वैज्ञानिक ने यह सिद्धान्त रखा कि शून्य आकाश में परिभ्रमण करने वाले इलेक्ट्रोन की स्थिति ठीक से कहना कठिन है, केवल अंदाज से ही इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है। अणु के अन्तर्गत विद्यमान इलेक्ट्रोन के बारे में भी ऐसी ही अनिश्चितता है, यह सिद्धान्त हिलेनवर्ग ने रखा है। डायरैक का अनुमान है कि आकाश और काल की घटनाएँ पूर्णतः माप की सीमा के परे, एक उप-स्तर

से, जो आकाश और काल नहीं है—उठती हैं।

इन सिद्धान्तों से पदार्थ-विज्ञान में क्रान्ति हो गयी। उस क्रान्ति का परिणाम आध्यात्मिक कल्पना पर भी दीखने लगा। धर्म-चर्चा से लेकर मिस डोरोथी सेयर्स की जासूसी कहानियों तक सर्वत्र क्रान्ति का परिणाम लक्षित होने लगा। इसमें निराशा की एक ही बात हुई; वह यह कि प्रत्यक्ष अराजकता तो नष्ट हो गयी और नियतिवाद पुनः प्रवेश पा गया। यह अन्तर सूक्ष्म जगत् को छोड़कर दृष्ट जगत् में प्रविष्ट होने पर मालूम होता है। प्रत्येक अणु आडिप्स के समान चाहे जितनी स्वच्छंदता बरते, फिर भी योग्य आकार के अणु-समूह विशिष्ट मार्ग से ही जाते हैं, जिनके सम्बन्ध में पहले से ही अनुमान लगाया जा सकता था।

इस प्रकार अर्वाचीन पदार्थ विज्ञान का महत्त्व है कि वह निर्मित पदार्थों का स्पष्टीकरण केवल भौतिक शास्त्र सीमित रूप में ही कर सकता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि अणु के भीतर कोई दैवी शक्ति है। इसका अर्थ यही है कि सूक्ष्म सृष्टि की घटना या वस्तु का वर्णन या स्पष्टीकरण अपने स्थान-काल और कार्य-कारण के दृष्ट साधनों से, यथायोग्य रूप में, करना सम्भव नहीं। जैसे मानवीय क्षेत्र के अनुभव का वर्गीकरण उस क्षेत्र से नीचे होनेवाली घटनाओं पर लागू नहीं होता, उसी तरह उस क्षेत्र से ऊपरवाली घटनाओं पर भी वह लागू न होगा—यह आधुनिक विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है।

स्वातंत्र्य और नियतिवाद के इस अधिकार-विरोध का स्वरूप अणु के साम्राज्य में इस प्रकार वर्णित हो सकता है—

प्रत्येक इलेक्ट्रोन या परमाणु की स्वतंत्रता का अर्थ अनिर्बंधता या दैवी प्रेरणा नहीं; किन्तु केवल मानवीय व्यवहार पर लागू होनेवाले बंधनों से मुक्ति होता है। उनके आचरण की परिभाषा परिमाण-सम्बन्धी माप अथवा मानवीय अनुभव आधारित विचार-पद्धति से सम्भव नहीं। तब यही कहना चाहिए कि वे 'इस विश्व के नहीं हैं।' इस विश्व का अर्थ है भौतिक दृष्ट जगत्। उनका निवास अन्य लोक में होता है। उस लोग के और हमारे दृष्ट जगत् के नियम एक नहीं होते, इसलिए एक से दूसरे का अनुमान नहीं किया जा सकता।

'नहीं-नहीं' का वर्णन ही उपरोक्त वाक्यों में है, क्योंकि अणु के अन्तर्गत सब घटनाओं का नकारात्मक शब्दों में ही वर्णन करना पड़ता है। इससे हमारे भौतिक शास्त्र की सीमा स्पष्ट है। लेकिन शास्त्र के सीमित ज्ञान को शोचनीय या निर्मल धारणा का प्रमाण मानने का कोई कारण नहीं। उस ज्ञान का अर्थ इतना ही है कि गणित की पद्धति से विश्व की जानकारी प्राप्त करने

की आशा व्यर्थ है। भूतकाल में दैवी शक्ति से विश्व की जानकारी प्राप्त कराने का प्रयत्न जैसा व्यर्थ हो गया, वैसा ही यह है। लेकिन इसमें दुख मानने का क्या कारण है? ईश्वर को गणितशास्त्र की चौखट में आकर बैठे केवल तीन सदियाँ ही तो हुई हैं—अधिक संशोधन के लिये अभी पर्याप्त समय है।

गणित-पद्धति से ज्ञान-सम्पादन की एकाकी रीत अब समाप्त हो रही है। साथ ही विश्व की जानकारी के नये-नये साधन उपलब्ध हो रहे हैं। पहले ज़माने में विश्व-समस्या को सुलझाने के लिये धर्मशास्त्र जैसी युक्ति करते थे, वैसा ही आधार लेकर भौतिक शास्त्र भी अपने गूढ़ प्रश्न हल करना चाहता है, यह हमें ध्यान में रखना चाहिए। वह युक्ति है—"विश्व एक वस्तु है और वह एक व्यापक नियम से शासित होता है।"

इस कल्पना से भयभीत होकर कुछ वैज्ञानिक मानने लगे हैं कि हम पुनः धर्म-क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। लेकिन नहीं—स्वातंत्र्य और नियतिवाद के विरोध को सुलझाने के लिये यह एक आयोजित पद्धति है। पहले की धार्मिक पद्धति से उसका साम्य भर दीखता है; बस! जब तक इस विरोध का पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तब तक ऐसा विश्वास करना आवश्यक है। यह विरोधाभास तीव्र हुआ नहीं कि विज्ञान के क्षेत्र में संकट उपस्थित हुआ।

५

अर्वाचीन प्राणिशास्त्र में विश्व की विविध अवस्थाओं की श्रेणी मानने की आवश्यकता पदार्थ-विज्ञान से भी अधिक है। केम्ब्रिज के प्राणि-शास्त्र-विशारद जे. नीडहम ने अपने लेख में यह नया दृष्टिकोण स्वीकार किया है—ऐसा प्रतीत होता है। हर वैज्ञानिक चाहे वह मार्क्सवादी हो अथवा स्तालिनवादी, आध्यात्मिक या चैतन्यवादी विचारधारा की ओर एक कदम भी चलने की इच्छा नहीं रखता। इसलिये उसका उदाहरण अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपनी ही प्रयोगशाला में निष्पक्ष बुद्धि से प्रयोग करने पर विज्ञान के इस कमिसार को जो सिद्धान्त उपलब्ध हुआ, उसके द्वारा अनिच्छा से ही क्यों न हो, बहते प्रवाह के साथ बहने लगा। नीडहम की प्रगति देखने के लिए उद्धरण ही काफी हैं।

नीडहम ने सन् १९२८ में लिखा—"वर्तमानकाल में प्राणिशास्त्र साधारणतया रसायनशास्त्र बन गया है और शरीर-विज्ञान बन गया पदार्थ-विज्ञान।" सन् १९४१ में उसने लिखा—"प्राणिशास्त्र का रूपांतर पदार्थ-

विज्ञान या रसायनशास्त्र में करना शक्य नहीं, क्योंकि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु में नहीं बदली जा सकती।" सैम्युअल बटलर ने भी ऐसा कहा—"कोई भी चीज ऐसी नहीं जो हमेशा केवल वही बनी रहे।"*

प्रायोगिक गर्भशास्त्र के विकास के कारण पिछली सदी के अंत में प्राणिशास्त्र पर संकट आया। १८९५ में ड्रीश ने यह दिखाया कि विज्ञान के सभी अनुमानों को परे हटाकर विशिष्ट जाति के गर्भ पर कोई भी प्रयोग किया जा सकेगा और फिर भी उस गर्भ से बाहर आने वाले जीव में कोई अन्तर नहीं होगा। मेढ़क के अण्डे का विभाजन होने पर—दो में से एक कोष काट देने पर—आधा मेढ़क पैदा नहीं होता (जैसा साधारणतया होना चाहिये था)। लेकिन छोटे आकार का पूरा मेढ़क पैदा होता है। दूसरी अवस्था में भी यही प्रयोग पर यही परिणाम आयेगा। गर्भाशय की पेशियों के बड़े समूह को हिलाया जाये, तो भी परिणाम में कोई अन्तर न पड़ेगा। किसी प्राणी के पैर की जगह दुम की कोष जोड़ दें तो दुम नहीं आती पैर ही आता है, इससे वैज्ञानिकों को बड़ा विस्मय हुआ। कारण कि जिस कोष को पदार्थ-विज्ञान और रसायन-विज्ञान के अनुसार दुम बनना चाहिए था—वह अपनी दिशा बदलकर पैर कैसे बना? यह सोचना भी मूर्खता है कि उन कोष-तन्तुओं को यह ज्ञात था कि उन पर डा. ड्रीश की छुरी का प्रयोग होने वाला है।

गर्भ की एक निश्चित अवस्था से आगे की अवस्था में परिणाम उल्टा होता है, यह देखकर तो वैज्ञानिकों का विस्मय और भी बढ़ गया। गर्भ के अवयव

---

* नीडहम कहता है—"चित्त, जो जड़ से भिन्न है, केवल प्रमाण के कारण —प्रकार के कारण नहीं। कारण वह सृष्टि की ऊँचाई पर होता है, पर 'प्रकार' में भी उसे भिन्न कहना सही है; क्योंकि ऊँचाई वाले नियम ही यहाँ अमल में आते हैं।" ("टाइम्स द' रिफ्लेशिंग रिवर")

अब तर्कशास्त्र के प्राथमिक नियमानुसार देखने पर 'प्रकार' की भिन्नता होना और 'प्रकार' की भिन्नता न होना, ये दोनों ठीक नहीं हो सकते। विकासवाद की भ्रान्ति से भाषा से मोहित सुबुद्ध मनुष्य के मस्तिष्क में भी कितने उत्पात हो सकते हैं, इसके कितने ही सबल प्रमाण हमारे सामने हैं। "चित्त जड़ से केवल संख्या के कारण भिन्न है, जीवन-व्यापार के कारण नहीं"—वाक्य के पूर्वार्द्ध की इस मौन धारणा से ही यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई है और उत्तरार्द्ध में इसी धारणा का खण्डन किया गया है।

के विशिष्ट अवस्था में पहुँचने पर भविष्य की अनिश्चितता नष्ट हो जाती है, फिर उनके विकास की दिशा निश्चित होती है। ऐसे समय एकाध अवयव काटकर दूसरे स्थान पर जोड़े जाँय तो उनकी वृद्धि पूर्ववत् ही होती है; इतना ही नहीं, जिस स्थान पर यह अवयव जोड़ा जायेगा, वहाँ के कोष को अपने लिये जगह बनाने पर विवश होना पड़ेगा—अर्थात्, उस समय वह कोष लचीला होना चाहिए।

स्पीमन और मंगोल्ड ने १९२४ में अवयव जोड़ने के जो परिणाम प्राप्त किये, वे अद्‌भुत हैं। गर्भावस्था में ही मेढ़क की आँख निकाल कर वह पेट के निचले भाग पर लगायी जाये, तो पेट की चमड़ी पारदर्शक बनती है और वह आँख के लेन्स का काम करती है। अन्त में पॉलवेइस ने यह पता लगाया कि यह प्रकार केवल गर्भावस्था में ही शक्य हो, ऐसी बात नहीं, वरन् कोष की विकसित अवस्था में भी सम्भव है। नयी दुम का ताजा टुकड़ा पैर की जगह जोड़े, तो वह पैर के रूप में ही विकसित होता है, परन्तु विकास-मार्ग पर बढ़ती दुम को कहीं भी जोड़ने से वह दुम के रूप में ही विकसित होगी।

जीवन को शासित करनेवाले नियम रसायन-पदार्थ-विज्ञान के नियमों के केवल विशेष उद्घाटन हैं, यह यांत्रिक कल्पना बिल्कुल गलत सिद्ध होती है। गर्भशास्त्र के प्रयोग से जो फल निकला, वही प्राणिशास्त्र की अन्य शाखाओं में भी देखा गया। अणु के राज्य में 'स्वतंत्रता' और 'नियतिवाद' में जितना मतभेद है, उससे अधिक कोष के राज्य में है। लेकिन यहाँ भी 'स्वतंत्रता' का इतना ही अर्थ माना जाना चाहिए कि सजीव वस्तु की क्रिया निर्जीव वस्तु के नियमों से बद्ध नहीं होती—जड़ के नियम चित्त को जकड़ नहीं सकते।

पूर्ण या चतुर्थांश मेढ़क को अपना विकास करने की स्वतंत्रता है; लेकिन उसका मतलब स्वच्छन्दता नहीं है। उस जीव की वृद्धि कैसे होती है, इसको जानने के लिए आवश्यक प्रयोग करके उनके परिणाम परखने चाहिए—पदार्थ-विज्ञान या रसायन-शास्त्र के नियमों से तत्सम्बन्धी अनुमान नहीं किये जा सकेंगे।

जीवन-विकास की इस गूढ़ पहेली को सुलझाने का प्रथम प्रयास असफल रहा। ड्रीश की मीमांसा केवल शाब्दिक जाल थी। १९-वीं सदी के भौतिक विज्ञानवेत्ता के ईथर-जैसा ही वह खोखला था। 'एक्स' (X) को यूनानी भाषा का नाम देना वैज्ञानिक ज्ञान हो गया—ऐसी पुरानी मान्यता की तरह ही थी वह मीमांसा।

सन् १९३० से लेकर ३९ तक चैतन्यवादी और जड़वादी का संघर्ष गहराई

तक जा पहुँचा और फिर विश्व की विविध अवस्था-श्रेणी मानने की युक्ति न्यूनाधिक रूप में लगभग सभी प्राणिशास्त्रज्ञों ने मान्य की। अर्थात्, उसका तात्त्विक स्वरूप हर कोई अपने अनुसार करने लगा।§

इस अवस्था-श्रेणी के नियम दो प्रकार के हैं—

(अ) साधारण नियम—वह सभी अवस्था में लागू होता है, लेकिन इससे किसी विशेष बात का पता नहीं चलता। उदाहरणार्थ—मेरी तश्तरी में रखे अंडे बिना ढकेले अपने स्थान से न हिलेंगे। इस नियम से अंडे-सम्बन्धी मेरे ज्ञान में क्या वृद्धि होगी?

(ब) विशिष्ट नियम—किसी वस्तु के बारे में जो ज्ञान होना चाहिए, लगभग वह सब इस नियम से मिलता है। 'अवस्था-श्रेणी' के निचले स्तर के नियम से ये नियम नहीं बँध सकते। घटना की उचित अवस्था का अध्ययन करके ही नियम लागू किया जा सकता है। अणु से निचली अवस्था का अध्ययन करना ही जहाँ अशक्य हो जाता है, वहाँ कोई भी नियम नहीं बनाया जा सकता।

इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी वस्तु अलग-अलग परिस्थिति में भिन्न-भिन्न सम्बन्धों में भिन्न स्तर पर भिन्न गुणधर्म प्रकट करती है। उदाहरणार्थ, कार्बन परमाणु का समूह, मिश्रण में गुणधर्म प्रकट करेगा। शुक्राणु का अंश भी गर्भाशय में रहने पर एक गुण दिखायेगा और बाद में गर्भ की वृद्धि होने पर दूसरा गुण दिखायेगा। उसकी निम्न अवस्था के गुणधर्म से उच्च अवस्था के गुणधर्म की कल्पना करना असम्भव है। किसी मिश्रण के रासायनिक गुणधर्म का स्वरूप भी उसमें मिले अंशों से निश्चित नहीं किया जा सकता, कारण कि विशिष्ट अवस्था में विशिष्ट गुणधर्म किसी उछाल की तरह प्रादुर्भूत होते हैं—इसीसे 'आकस्मिक प्रादुर्भाव' का सिद्धान्त बना।*

नीची अवस्था से ऊँची अवस्था में होने वाली प्रक्रिया का हम जिस प्रकार अनुमान नहीं कर सकते, वैसे ही ऊँची अवस्था से नीची अवस्था में होने वाली प्रक्रिया का भी अनुमान नहीं लगा सकते। प्रक्रिया का अनुमान करने के

---

§ ऐसा विवेचन पहले हेण्ट्री ड्रमंड, हर्बर्ट स्पेन्सर, लायड मार्गन, विल्सन, अलेक्जेंडर, सी. डी. ब्राड ने किया था, परन्तु उसका निश्चित स्वरूप बुडगर के 'बायोलाजिकल प्रिन्सिपल' नामक आधार-भूत ग्रन्थ में देखने को मिलता है।

* इसी को 'प्रादुर्भूत चैतन्यवाद' कहते हैं। इसका ड्रीश के चैतन्यवाद से कोई सम्बन्ध नहीं। यह बदनाम नाम जितनी जल्दी छोड़ा जायेगा, उतना ही अच्छा है।

लिए भी वस्तु के अंग भिन्न करने पड़ते हैं; परन्तु हर भाग का कार्य पृथक्-पृथक् होता है और उस वस्तु के सम्मिलित भाग के रूप से अलग होता है। जब कोई शरीर-विज्ञान-शास्त्री स्नायुओं का परीक्षण करता है, तब वह 'एक सीमा तक' कृत्रिम परिस्थिति निर्माण करके शरीर की स्थिति बदल सकेगा; परन्तु–एक सीमा तक ही–पूर्ण रूप से नहीं। "किसी भी अवयव के आसपास की चीज सम्पूर्ण जीव ही है।" (वुडगर) इस प्रकार गुर्दे से पृथक् एक कोष आधारभूत परिवर्तनशील, परिवर्तनों का जो सभी कोषों पर लागू होते हैं—प्रदर्शन करेगा; पर गुर्दे के कोष के रूप में जो इसकी विशिष्टता है—नष्ट हो जायेगी। अगर विश्लेषण को आगे बढ़ाकर रासायनिक तत्त्वों तक ले जाया जाये, तो यही बात वहाँ भी लागू होती है; क्योंकि उन तक पहुँचने के लिये रसायन-शास्त्री को साधारणतया मध्यवर्ती स्तरों को नष्ट कर देना पड़ता है। इस प्रकार सम्पूर्ण के विशिष्ट आचरण का अध्ययन और उसका वर्णन, अर्थात् उचित ढंग से सम्पूर्ण के साथ एक-दूसरे के सम्बन्धों और अवयवों के विशिष्ट आचरण का अध्ययन-वर्णन, दूसरे अवयवों के साथ के सम्बन्धों के द्वारा ही हो सकता है। पृथक्त्व उनकी विशिष्टता नष्ट कर देता है।

किसी भी वस्तु का विश्लेषण करने पर प्रक्रिया से समान तथ्यों का ही ज्ञान होता है; परन्तु वे समान तथ्य पुनः एकत्र करने पर वही प्रक्रिया निर्मित होगी, ऐसा नहीं है। उन तथ्यों के संयोगीकरण के नियम प्रत्येक अवस्था में अलग-अलग होते हैं। उदाहरणार्थ, एक चौकोर का विश्लेषण बिन्दु-बिन्दु के रूप में किया जाय, तो उन्हें एक साथ रखने के लिए गुणन-क्रियाओं के नियमों का सहारा लेना होगा। ये बिन्दु अगर किसी दीर्घ वृत्त के हैं, तो गणना करने की एक विशेष विधि से सम्बन्धित नियमों का उपयोग करना होगा। और यदि ये बिन्दु किसी चित्र के होंगे, तो उसके उभड़ने की क्रिया से सम्बन्धित नयी व्यवस्था निर्मित होगी। अवस्था में जो भेदभाव निर्मित होता है, वह वस्तु की भिन्नता के कारण नहीं, वरन् प्रत्येक अवस्था में वे चीजें जिस रूप में एकत्र होती हैं, उससे वह भेदभाव निश्चित होता है। एकीकरण की पद्धति से जो नये गुणधर्म उत्पन्न होते हैं, उनसे अवस्था की श्रेणी निश्चित होती है। विशिष्ट अवस्था की 'स्वतंत्रता' का अर्थ है, उसके नये गुणधर्म और नये सम्बन्ध—वह नीची अवस्था में निर्णायक के रूप में प्रकट नहीं होते। वैसे ही 'नियतिवाद' का अर्थ है एक अवस्था का, आनेवाली उच्च अवस्था के नियमों पर निर्भर रहना। इन नियमों का अनुमान करना या उन्हें बदलना सम्भव नहीं।

दूसरे शब्दों में, सम्पूर्ण वस्तु का 'स्वातंत्र्य' उस वस्तु के अंश की 'नियति' है। इस नियति को समझने का एक ही मार्ग है और वह है उन अंशों को समझना। रहस्यवादी यही करते आये हैं; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह विज्ञान पर रहस्यवाद की विजय है। इसका अर्थ केवल विज्ञान का अपनी परिभाषा में अपनी सीमाओं को पहिचानना भर है।

६

इस 'अवस्था-श्रेणी' की जानकारी और राशि-सम्बन्धी नियमों से उस अवस्था की स्थिरता, विज्ञान की विविध शाखाओं में कैसे निर्मित हुई, यह देखना बड़ा मनोरंजक है।

मनोविज्ञान में इस शताब्दी के प्रारम्भ में ही परिमाणसूचक माप-पद्धति पिछड़ गयी। कोहलर, कोफ्का और वेर्दिवेर आदि मनोवैज्ञानिकों द्वारा विकसित गेस्टाल्ट-मनोविज्ञान 'पूर्णत्व' की कल्पना से शासित है। उदाहरणार्थ—एक त्रिकोण पूर्ण वस्तु है। उसका विश्लेषण करके मैं विशिष्ट लम्बाई की तीन रेखायें देख सकता हूँ, उन्हें नाप सकता हूँ, परन्तु केवल दो इंच लम्बी काली रेखा इन्द्रिय-ज्ञान' की दृष्टि से त्रिकोण के रूप से अलग है। उस रेखा का विशिष्ट रूप, जब वह त्रिकोण में विशिष्ट योग्य स्थान पर होगी, तभी समझ में आयेगा। मानवी-शरीर के गुर्दे के किसी कोष को पृथक् करके देखना और उसे गर्दे में यथास्थान बिठा कर देखने में जो अन्तर है, वही अन्तर, केवल 'काली रेखा' और 'त्रिकोण के साथ वाली काली रेखा' में है।

मैंने 'इन्द्रिय-ज्ञान' शब्द पर जोर दिया है, क्योंकि ड्राइंग के तख्ते पर काली रेखा में कोई तब्दीली नहीं होती; चाहे वह त्रिकोण का भाग हो या नहीं। कागज के अपने अस्तित्व में भी मैं दूसरे दोनों किनारों को ले सकता हूँ और यह रेखा ज्यों की त्यों रह जाती है, किन्तु जहाँ तक 'ज्ञान' का प्रश्न है, बात ऐसी नहीं है—ज्ञान की सतह पर काली रेखा दूसरे दोनों हिस्सों के प्रभाव में दिखायी जाने पर अपना रूप बदल देती है।

मानसिक क्षेत्र में इन दृष्ट तत्त्वों का परस्पर-सम्बन्धी कार्य उतना ही सही है, जितना गुर्दे के कोषों का परस्पर-सम्बन्धी कार्य। इसी प्रकार शरीर-शास्त्र के अनुसार मस्तिष्क में भी कुछ ऐसा होना चाहिए। कोहलर का अनुमान है कि चक्षु-चित्रपट-सम्बन्धी बाह्य त्वचा से सम्बन्धित निकासों के बीच स्वतः-

वितरित विद्युत्-चुम्बकीय धारायें हैं। अन्य मनोवैज्ञानिक धारणायें भी समान रूप से सम्भव हैं। मुख्य बात शरीर-सम्बन्धी प्रक्रिया किस प्रकार की है—यह नहीं है, बल्कि यह तथ्य है कि ड्राइंग के तख्ते पर तीनों पक्तियाँ स्थिर जड़ी हुई हैं, जो एक-दूसरे को अकेला छोड़ देती हैं—जब कि मस्तिष्क में वे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और सम्पूर्ण के रूप में ही उनका प्रादुर्भाव होता है। यह उस आदमी के लिए जो इससे अनभिज्ञ है कि 'अनुभूति', 'ज्ञान', 'अर्थ', अस्पष्ट विभेदों को लेकर परमाणु-दर्शन-सम्बन्धी मनोविज्ञान कितनी बुरी तरह दलदल में फँस गया है—काफी स्पष्ट प्रतीत हो सकता है। परमाणु-दर्शन-सम्बन्धी मनोविज्ञान में मस्तिष्क एक पर्दे के रूप में कार्य करता है, जिस पर चक्षु-चित्रपट-सम्बन्धी निकास अपनी जड़ता प्रगट करता है। अतः इस प्रकार एक दूसरे मस्तिष्क और पर्यवेक्षक की जरूरत होती है, जो 'अनुभूति' को 'ज्ञान' में बदल कर त्रिकोण के अर्थ को पूर्ण कर दे। गेस्टाल्ट-मनोविज्ञान मानसिक स्तर के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में उसी तरह कुछ नहीं बताता, जैसे जीव-शास्त्र जीवन के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में। किन्तु एक बार जहाँ स्तर दे दिया गया, तो जो वस्तुएँ इस पर रखी गयी होती हैं, वे विशिष्ट संगठन-सम्बन्धों से मिल जाती हैं और मस्तिष्क का रहस्य गुण के आधार पर, विभाजित विभिन्न स्तरों में जो पहले से जाने-पहचाने हैं, सीमित हो जाता है।

७

हमारी ये अवस्था-श्रेणियाँ ऊपर की ओर जाने वाली ढलान के ऊपर की छतों अथवा किसी जीने की चौड़ी सीढ़ियों की तरह हैं। इन सीढ़ियों का पृष्ठ भाग विशिष्ट अवस्था में निर्मित एक क्षेत्र है। उन सीढ़ियों का खड़ा स्वरूप उच्च अवस्था का प्रादुर्भाव दर्शाने वाली 'कुदान' है। इन सीढ़ियों का साधारण क्रम इस प्रकार का होगा—स्थल-काल, अणु से निचली अवस्था, पदार्थ-विज्ञान, रसायन कण, अभिन्न सजीव अंश (प्रोटीन, हार्मोन आदि), भिन्न होनेवाले सजीव अंश (कोष और उनके भाग), उच्च (अभिन्न) कोष और अवयव—इसी प्रकार उच्च मानसिक क्रिया तक यह क्रम जारी रहेगा। इनमें कुछ सीढ़ियों के उपविभाग करने होंगे और उच्च अवस्था में इस जीने की शाखाएँ फूटेंगी। लेकिन अपने तर्क के दृष्टिकोण से उसकी उपेक्षा की जा सकती है।

कुछ यान्त्रिकों का तर्क है कि अवस्थाओं के बीच की क्रमबद्धता के ये प्रमाण

हैं। किन्तु आधुनिक जीव-शास्त्र ने इसका उन्मूलन कर दिया है; क्योंकि कोई भी व्यक्ति स्त्री-पुरुष दोनों के लक्षणों से युक्त प्राणियों को देख कर यह निष्कर्ष निकालने की चेष्टा नहीं करेगा कि पुरुष और नारी में सिर्फ मात्राओं का ही अन्तर है—श्रेणी का नहीं। नीडहम कहता है—"अगर हम संगठन के एक-के-बाद-एक स्तरों के बीच से सीढ़ियों पर ध्यानपूर्वक देखें, तो अंतर की तीक्ष्ण रेखाएँ और भी तीक्ष्ण नजर आती हैं। जीवन के ये रूप, जितनी ही अधिक स्पष्टता से हम उन्हें समझेंगे, उतनी ही अधिक स्पष्टता से, उच्चतर व्यवस्था के, जो संगठन के रूप की विशिष्टता है और जिसे हम जीवन कहते हैं, नये और आवश्यक तत्त्वों को प्रकाश में लाने का कार्य करेंगे।

सीढ़ियों के जीने की आकृति और उसकी तरफ देखने के दो दृष्टिकोण आगे दिये गये हैं—

व
↓

स→

'व' का अर्थ है वैज्ञानिक। उसे जीने की सभी सीढ़ियाँ एक-सी दीखती हैं। पदार्थ-विज्ञान से मनोविज्ञान तक एक ही अखंड वर्ण-पट फैला प्रतीत होता है। दूसरी अवस्था की कुदान उसे सूक्ष्म-भेद-रेखा लगती है। प्रत्येक क्षेत्र की घटना वैज्ञानिक को अनुमान करने के योग्य लगती है। उसकी धारणा है—अगर वह अनुमान करने के योग्य नहीं है, तो शीघ्र ही अनुमान करने के योग्य हो जायेगी। सब तरफ शान्ति और सुव्यवस्था है, कहीं कोई रहस्य नहीं—ऐसा वह मानता है। केवल सीढ़ियों को जोड़नेवाली सूक्ष्म रेखा की पहेली उसके सामने है।

लेकिन 'स' के दृष्टिकोण से देखने पर सब कुछ व्याख्याहीन रहस्य लगता है। सीढ़ियों के पृष्ठभाग नहीं दीखते। उसकी खड़ी "कुदान" भेद-रेखा—केवल दीखती है। किसी दृष्ट पदार्थ को उसकी वास्तविक स्थिति में 'ब' देखता है, परन्तु 'स' उसके अन्तर्यामी—उसके रहस्य—को देखता

है—वह अखण्ड सृष्टि का रहस्य खोजने की चेष्टा करता है।

"प्राणी की नयी अवस्था कैसे निर्मित होती है—यह अब तक हमें ज्ञात नहीं"—नीडहम ने इसे स्वीकार किया है। लेकिन जो 'मालूम नहीं' उसकी खोज करना ही तो विज्ञान का उद्देश्य है। नीडहम स्पष्ट कहता है—"किसी प्रदत्त उच्च संगठनीय स्तर के नियमों का नक्शा हम चाहें बना दें; फिर भी प्रकृति की रचना में ये नियम कहाँ और कैसे बैठेंगे, इसे हम कभी समझ सकेंगे, इसकी आशा नहीं। हमारे उच्च और निम्न अवस्थाओं से उनका क्या नाता है, इसका स्पष्टीकरण होगा—इसकी भी हमें आशा नहीं।"

'सचमुच, सृष्टि के व्यापार हमारे लिए गूढ़ हैं—अज्ञात हैं। यह स्वीकार करने में सुधार-विरोधी का प्रश्न नहीं उठता। यह गूढ़ता—जैसा हम देखते हैं—इस तथ्य में निहित है कि विशिष्ट संगठन-सम्बन्ध केवल सुदूर की सीमा-सतहों पर लागू होते हैं और हम न उनके बारे में अनुमान लगा सकते हैं, न उन्हें सीमित कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में लम्ब की दिशा में जो नियम स्थिर करते हैं, वे हमारे पास नहीं हैं।*

लम्ब-सम्बन्धी नियम हमारे इस अनुमान में मदद करते हैं कि सृष्टि के उच्च जीव कैसे, क्यों और कब निर्मित होते हैं। ऐसे नियम वैज्ञानिक भाषा में न बताये जा सकते हों, तो भी उच्च अवस्था निर्माण होने की साधारण प्रवृत्तियों का पता हम लगा सकते हैं। अवस्थांतर की प्रवृत्ति है, संयोजन और विभाजन, आकर्षण और अपकर्षण, एकीकरण और विशिष्टीकरण, विस्तार और विभाग, मौन और मरण-प्रवृत्ति आदि। अन्य प्रवृत्तियों को अवयवों की संगति और अनुकूलता या अनुरूपता प्राप्त है। एक बार मैं फिर भूतपूर्व यंत्रनिर्माता और नवीन मार्क्सवादी नीडहम की—जो सुधार के विरोधवाद की अपेक्षा करने के लिए चिंतित है—पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ।

"डूमंड के साथ हम अभी भी कह सकते हैं कि विश्व में संगठन के विभिन्न स्तरों में प्रत्येक के उपयुक्त बंधनों के बीच कुछ अनुरूपता हो सकती है। और हमें उस महान् पुस्तक का भी स्मरण है, जिसमें सिगमंड फ्रायड ने इसका वर्णन किया है। इस दृष्टिकोण से प्रेम और मित्रता के बंधन उन विभिन्न शक्तियों के अनुरूप हैं, जो दधिमय, बिल्लौर के समान स्वच्छ,

* 'शक्ति को सुरक्षित रखने से सम्बन्धित' नियम का हमें ज्ञान है; परन्तु नवीन गुण-धर्म का प्रादुर्भाव कैसे होता है, उससे इस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

आणवीय और यहाँ तक कि उप-आणवीय स्तरों पर कणों को एकत्र रखते हैं।" अवयवों की संगति, अनुरूपता, प्रेम आदि कुछ प्रवृत्तियाँ जीवमात्र में हर अवस्था में पायी जाती हैं। इनसे हम परिचित हैं; किन्तु अगर यही 'अध्यात्मवाद' है, तो इसमें एक भिन्नता है—'अज्ञानी' पुरुष यात्रा के आरम्भ में नहीं, अंत में स्थापित है।

८

'स्वातंत्र्य' और 'नियतिवाद' के विरोधाभास में फँसे हुए धर्मशास्त्र को 'समस्त संसार एक ही वस्तु है'—की कल्पना छोड़नी पड़ी है, और 'अवस्था-श्रेणी' की कल्पना को स्वीकार करना पड़ा है। अब विज्ञान को भी यही कल्पना स्वीकार करनी पड़ रही है। ईसाई धर्म और विज्ञान की 'अवस्था-श्रेणी' की कल्पना मूलतः एक ही है।

ईसाई धर्म के विषय में हम कह चुके हैं कि—

निम्न अवस्था से उच्च अवस्था के नियमों को न तो सीमित ही किया जा सकता है, न उनके सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है। उच्च अवस्था की घटना और नियम सूचित होते रहते हैं। लेकिन उच्च अवस्था के व्यापार निम्न अवस्था में प्रकट होने पर, अनुमान के परे और चमत्कारपूर्ण लगते हैं।

ये सब नियम रसायन और गर्भशास्त्र के लिए भी समान रूप से उचित हैं। धर्म ने ज्ञान-प्राप्ति के दो मार्ग सिखाये हैं—सांसारिक वस्तुओं का रहस्योद्घाटन और (२) अतींद्रिय वस्तु का ध्यान। पहला मार्ग 'आड़े' स्तर का और दूसरा 'खड़े' स्तर का है। दूसरा मार्ग सभी अवस्थाओं की सीमा लाँघ जाता है। इसलिए अध्यात्मवादी की ओर धर्म और विज्ञान दोनों समान अविश्वास से देखते हैं। परन्तु धर्मोपदेशक और वैज्ञानिक—दोनों को सृष्टि के अत्यंत आवश्यक और सुपरिचित समस्याओं को पकड़ रखने में प्रथम मार्ग अधूरा लगता है और दूसरे मार्ग की सचाई माननी पड़ती है।

अचेतन वस्तु और ईश्वर को जोड़ने वाले धर्म का जो जीना है, उसमें कम सीढ़ियाँ हैं—मोटे तौर पर सृष्टि के छः दिनों के अनुरूप विज्ञान के चढ़ाव में कई नाजुक सीढ़ियाँ हैं। अवस्था की ऊँचाई का अन्तर कई बार समझ में नहीं आता। कई सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपविभाग उत्पन्न होते हैं। लेकिन सृष्टि क्रमबद्धता नहीं जानती—वह कुदान भरती है और जीने की सीढ़ियाँ कभी ढलान नहीं

बनतीं, चाहे वे कितनी भी छोटी हों। क्योंकि हम सदा उसके अनुरूप एक ऐसे सूक्ष्म कण का चुनाव कर सकते हैं, जो जीने पर स्थिर रहेगा, पर ढलान पर से नीचे लुढ़क पड़ेगा और लम्ब रूप से पड़ने वाले प्रकाश में सम्पूर्ण जीना उसके लिए, जो उसके सामने से देखता है, छाया में रहेगा।

ज्ञान-प्राप्ति के ये दोनों मार्ग परस्पर पूरक हैं—बाधक नहीं। एक मायाजाल से हम मुक्त हुए हैं और सृष्टि के सत्य स्वरूप को अधिकाधिक जानने की शक्ति बढ़ा रहे हैं—ऐसी पद्धतियों से, जिनके सम्बन्ध में पिछली पीढ़ी में बिना लज्जा का अनुभव किये कोई कुछ बोलने का भी साहस नहीं कर सकता था। न्यूटन ने पेड़ से एक वस्तु को गिरते देखा और उस के भार, वेग और शक्ति की गणना की। अब हम पीछे जाकर इस तथ्य की ओर जा रहे हैं कि पेड़ से जो चीज़ गिरी, वह एक सेब था।

९

१९-वीं सदी में विश्व की एकता और परम्परावलंबन की कल्पना जिस प्रकार मानव-मन में गड़ गयी थी, वैसे ही अवस्था-श्रेणी का सिद्धान्त एक बार मनोभूमि में गड़ गया कि सौंदर्य-शास्त्र, विज्ञान और नीति-शास्त्र की बहुत-सी उलझनें कम हो जायेंगी। यह उलझनें क्यों उत्पन्न होती हैं? एक अवस्था के विशिष्ट नियम दूसरी अवस्था में लागू करने से और नीति-शास्त्र के मूल्यों को प्राणि-शास्त्र में सीमित करने से।

"ए चाइल्डहुड मेमोरी आव लियोनार्दो द' विंसी" शीर्षक फ्रायड का निबन्ध व्यावहारिक मनोविज्ञान का उत्कृष्ट नमूना है। गायोकोण्डा की मुस्कान का विश्लेषण पढ़ने में किसी जासूसी कहानी से ज्यादा उत्तेजक है—चित्रण के कलात्मक मूल्यों के सम्बन्ध में यह कुछ नहीं बताता। सिवा इस तथ्य के कि वह एक उत्कृष्ट चित्रकार था, लियोनार्दो हमारे लिए एक खुली पुस्तक के समान बन जाता है। फ्रायड कहता है—"किसी के सम्बन्ध में लिखने का उद्देश्य उसके (लियोनार्दो के) महान् कार्यों का वर्णन करना नहीं है। उस प्रतिज्ञा को तोड़ने के लिए, जो मैंने कभी की ही नहीं, किसी को मुझे गाली नहीं देनी चाहिए।... सहज प्रवृत्तियों के प्रति उसकी कलात्मक व्यावहारिकता का पता लगाने में हमें प्रसन्नता होगी, किन्तु यहीं आकर हमारे साधन हमारा साथ छोड़ देते हैं।"

फ्रायड और मार्क्स को अपनी पद्धति की सीमा मालूम थी, लेकिन उनके

अनुयायियों को वह ज्ञात नहीं थी। सारी बातों को सुलझाने वाली एक जादू की लकड़ी जैसे उनके पास है। फासिज्म की उत्पत्ति मार्क्सवादी मनुष्य केवल आर्थिक कारणों से मानेगा और एल्डेरियन का अनुयायी नेपोलियन के सम्बन्ध में सारे समाधान उसके नाटेपन से करेगा। फिर प्रश्न यह है कि सभी नाटे आदमी नेपोलियन क्यों नहीं बनते? ऐसे महान् क्रान्तिकारी मनुष्य का मनोवैज्ञानिक परीक्षण कम-से-कम तब तक तो टालना चाहिए, जब तक उसका व्यक्तिगत दुख उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति के विकास में बाधा नहीं पहुँचाता।

किसी कलाकार की कृति का ज्ञान उसके चरित्र और ऐतिहासिक परिचय को समझने से होगा—यह मत भी उतना सबल नहीं। उस कृति का महत्त्व समझने में इससे बाधा ही आती है। ग्रन्थ की प्रस्तावना अन्त में पढ़ी जानी चाहिए, पहले नहीं। शेक्सपियर के 'ज्यूलियस सीजर' नाटक का आनन्द मेरे लिए सदा के लिए समाप्त हो चुका है; क्योंकि यह मुझे पहले ही ज्ञात हो गया कि शेक्सपियर ने ब्रूटस का जो चित्रण किया है, उसमें एसेक्स के मुकदमे से पक्षपात की भावना आ गयी है। जब से मैंने फ्रायड का लेख 'लियोनार्दो' पढ़ा, गियोकोंडा को 'पेथोलाजिकल (रोग-निदान-सम्बंधी) प्रदर्शन के रूप में देखने के सिवा मेरे पास कोई रास्ता नहीं है और जब से 'जार्ज' के ऊपर ब्रिटिश को कभी खुश, कभी क्रुद्ध होते हुए पाया, तब से युवा एक्स के प्रशंसनीय प्रेम-गीत में छिछलेपन के कलंक को देख पाने के सिवा मैं और कुछ नहीं देख पाता। मूल्यों को अपनी राह पर ही रखना विनाश का लक्षण नहीं है, बल्कि इसके विपरीत भिन्न स्तरों को एकरूपता के नियमों में बदलने की आशावादी प्रवृत्ति का आगे की ओर झुकाव है।

१०

एक अवस्था का दूसरी अवस्था में 'विसर्जन' करने की प्रवृत्ति से जो गड़बड़ी होती है, उससे नीति के क्षेत्र में इसके दुखद परिणाम दीख पड़ेंगे।

हमारे समय में पाँच प्रमुख मार्गों से नीति-शास्त्र की अधोगति हुई है। (क) नैतिक मूल्य शून्यावस्था में ले जाना और (ख) प्राणिशास्त्र (ग) मनोविज्ञान (घ) परिमाण-सम्बन्धी और (च) अध्यात्म के विचारों का नीतिशास्त्र में प्रयोग।

(क) नैतिक मूल्यों का विश्लेषण और विसर्जन अनिर्बंध करते रहने पर प्रकट या प्रच्छन्न रूप से उसकी परिणति शून्यवाद में होती है। किरिलाव "द' पज़ेस्ड"

में कहता है—"जब मनुष्य विश्वास करता है, तब वह विश्वास नहीं होने का विश्वास करता है और जब विश्वास नहीं करता, तब वह अविश्वास का विश्वास नहीं करता। वह सारा विश्व मिथ्या है, असत्य और विडम्बना पर आधारित है। इसलिए इस विश्व के सारे नियम असत्य हैं—शैतान के नाटक हैं।"

इसी शून्यवाद ने रूस के बुद्धिजीवी वर्ग में १९६० में राजनीतिक आन्दोलन का जन्म दिया था। ऐसा कदाचित् ही होता है। लेकिन भौतिक दर्शन में इसकी जड़ें जमी रहती हैं। इस शून्यवाद का सहारा लेकर भ्रष्ट राजनीतिज्ञ, वेश्याएँ, बड़े व्यापारी, अपराधी आदि समाजद्रोही लोग अपने बरताव पर शून्यवाद का पर्दा डालते हैं। सभी सामाजिक कार्यकर्ता यह जानते हैं कि समाजद्रोहियों के मन में एक प्रकार की ईर्ष्या होती हैं, जो उनके व्यक्तिगत दर्शन की रक्षा करती है और जिसे वे अपने ढंग की अकेली चीज समझते हैं। समस्त विश्व यदि एक चीज़ है, तो उसके नियमों के मूल ऊपर ईश्वर की तरफ और नीचे विप्लव की ओर जाने चाहिए। शून्यवाद दूसरे मार्ग को मान्यता देता है।

शून्यवाद का उल्टा रूप 'क्षमावाद' के नाम से प्रकट किया जाता है। 'क्षमावादी' नीतिशास्त्र-सम्बन्धी एक निर्णय सूचित करता है, जो स्वतंत्र चुनाव की ऐसी मान्यता पर आधारित है, जो अनुभव के निर्दिष्ट सिद्धान्त के रूप में नीतिशास्त्रीय अवस्था की विशिष्ट सम्पत्ति है। यह निर्णय अब बुद्धि के द्वारा 'क्षमा' कर दिया जाना चाहिए—अर्थात् अयोग्य करार दिया जाना चाहिए। यह बुद्धि या तो 'विशिष्ट' बुद्धि है और तब तो इसे अवश्य ही एक ऐसे निर्णय तक ले चलना चाहिए, जो अयोग्य करार दिये जाने वाले निर्णय के समान हो, अथवा यह बुद्धि स्वतंत्र चुनाव के मनोवैज्ञानिक और जीवात्मक अवस्थाओं में विसर्जित होने से प्राप्त हुई है, और तब यह उन तत्त्वों को छोड़ देती है, जो सचमुच ही महत्त्वपूर्ण हैं और जिन पर वह निर्णय आधारित है। अतः यह उसे कभी अयोग्य नहीं करार दे सकती। इस प्रकार नाजीवाद ने समाज में जो उत्पात किये हैं उनके अवलोकन और उनकी इस असंदिग्ध मान्यता पर कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी कुछ सीमाओं के भीतर नाजी होने या न होने का अधिकार रखता है—मेरा तिरस्कार आधारित है। इसलिये जो नाजी बने हैं, उनसे मेरा झगड़ा चलता है और दूसरे नाजी न बनें, ऐसा प्रयत्न जारी रहता है। मेरे अवलोकन से मेरा जो मत बना, उस पर यह निर्णय आधारित है। अतः यह उसके द्वारा अयोग्य नहीं करार दिया जा सकता।

लेकिन यदि मैं सिर्फ इसी को ध्यान में रखूँ कि ऐतिहासिक, जातिगत या

परिस्थितिजन्य कारणों से ही मनुष्य नाजी बनता है, तो मैं 'उस गरीब का क्या दोष' कहकर उसे क्षमा कर सकता हूँ। परन्तु यह करते समय मैं उस आदमी को पशु या यंत्र के स्तर पर पहुँचा हुआ मान लूँगा और वह उस उच्च अवस्था से बहिष्कृत हो जायेगा—जिस पर मैंने अपना निर्णय घोषित किया था। अपने भले बुरे कृत्य के लिए जवाबदार न होने वाला पशु या यंत्र—यदि वही उसका रूप है, तो मेरा उसके साथ और भी आवश्यक रूप से संघर्ष होना चाहिए। अपने जंग खाये ब्लेड को मैं दोष-मुक्त तो कर देता हूँ, लेकिन उसे कूड़े में फेंक भी देता हूँ।

इस प्रकार 'क्षमावाद' या तो ऐसा प्रभाव उत्पन्न करता है, जो इसकी इच्छाओं से प्रत्यक्ष रूप में विपरीत है या वह सिर्फ इस सामान्य बात का समर्थन करता है कि निर्णय अवलोकन पर आधारित होना चाहिए—भावना पर नहीं। तब सिर्फ यह कहने पर कि—"निर्णय करने के बजाय अवलोकन करना सीखो"—गुमराह होने की कम सम्भावना रहेगी।

(ख) प्राणिशास्त्र के नियम—'जो श्रेष्ठ होगा, वही टिकेगा'—मानव के नीतिशास्त्र में लागू करने से 'श्रेष्ठ पुरुष के प्राकृतिक अधिकार'-सम्बन्धी डार्विन की सामाजिक धारणा सामने आती है। इस सिद्धान्त का सर्वाधिक अनुवर्ती रूप है फासिज्म का नीतिशास्त्र। प्राणिशास्त्र जंगल का समाजशास्त्र है और उच्चतर अवस्था में इसे लागू करने से निश्चय ही योग्य परिणाम आने चाहिए। नीतिशास्त्र पर 'प्राकृतिक नियम' के लागू होने के सम्बन्ध में सर्वाधिक मोहक वर्णनों में एक मार्क्विस-डी-सेडे द्वारा लिखा गया था।

(ग) नीतिशास्त्र का मनोविज्ञान तथा मनोरोग-निदान की अवस्था में सीमित करने की प्रवृत्ति कुछ राजनैतिक है, लेकिन इसका सांस्कृतिक महत्त्व भी कम नहीं है—विशेषतः बुद्धिजीवियों में। सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी मूल्यों के सम्बन्ध में हमने जो कहा है, वह यहाँ भी लागू होता है, इस अन्तर के साथ कि केवल पहले वाले मामले में फ्रायड स्वयं अपनी सीमाओं से परिचित था, दूसरे में नहीं। अगर अधिक विस्तार न करके कहा जाये, तो नैतिक मूल्यों के इच्छा-स्वातंत्र्य के प्रश्न के प्रति उसका रुख अनिश्चित था। प्रतिभावान् व्यक्ति तीक्ष्ण मस्तिष्क वाले होते हैं और उनकी प्रगति आवश्यक रूप से उनके पार्श्वों को अरक्षित छोड़ देती है। यह युवावर्ग का उत्तरदायित्व होगा कि वह आधार को विस्तृत करे और अन्य अग्रगामी आन्तरिक शक्तियों से खोया सम्बन्ध प्राप्त करे। फ्रायडवादी युवाओं ने (मार्क्सवादी सैन्य दलों के समान) शायद कोई नयी भूमि नहीं प्राप्त की है; बल्कि उन्होंने दर्शन के क्षेत्र में विध्वंस का सामान

कर दिया है। साहस और आत्मत्याग-जैसे सामाजिक मूल्यों का, यातना, मृत्यु की सहज प्रवृत्ति आदि की मनोवैज्ञानिक अवस्था में विसर्जन, जीवित रहने की क्रिया का रासायनिक तत्त्वों में विसर्जन की प्रक्रिया के अनुरूप ही है, क्योंकि सामाजिक स्तर पर व्यक्ति का प्रादुर्भाव एक नवीन सम्पूर्ण के अंश के रूप में ही होता है और अंशीय सम्बन्ध इस स्तर पर विशिष्ट हैं—साथ ही उन्हें कम भी नहीं किया जा सकता।

उदाहरणार्थ, 'सद्विवेक' की नैतिक धारणा को लीजिए—फ्रायड की रचनाओं में यह धारणा बहुधा व्यंग्यात्मक रूप में अवतरित होती है और इसके दोनों ओर ऊपर में अर्द्धविराम चिह्न दिया रहता है। फ्रायड-प्रणाली के अनुसार 'सद्विवेक' मॉ-बाप की सत्ता का अंश है; परन्तु कोई भी काम करने या न करने का इच्छा-स्वातंत्र्य मानव को है और उस पर ही अच्छा-बुरा 'विवेक' अवलम्बित है। फ्रायड-प्रणाली में इस महत्वपूर्ण बात का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु यह वह नवीन और विशिष्ट तत्त्व है, जो नैतिक स्तर पर संगठन करने का कार्य करता है और समूह या भीड़ या झुण्ड तथा मानव के नवीन सामाजिक या पूर्ण रूप के अन्तर को स्पष्ट करता है।

यह नया तत्त्व, जैसा हमने देखा, प्रवृत्ति और रुकावट के बीच के संदिग्ध संतुलन से उत्पन्न होता है, किन्तु यह तो सिर्फ उन अवस्थाओं का उल्लेख करता है, जिनका इसके प्रादुर्भाव के लिए विद्यमान होना जरूरी है—प्रादुर्भाव की प्रक्रिया पर यह प्रकाश नहीं डालता। इस प्रकार हम रासायनिक तथा उष्णता-सम्बन्धी अवस्थाओं का वर्णन कर सकते हैं, जिनका जीवनतत्त्व के उत्पादन के लिये विद्यमान होना जरूरी है। फिर भी उत्पादन की प्रक्रिया और नवीन अवस्था पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है, इस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। संयोगवश 'संदिग्ध संतुलन' की अवस्था जो अनुभवजन्य स्वतंत्रता के प्रादुर्भाव की विशिष्टता है, वही चेतनायुक्त कणों की तथा अन्य जीवात्मक अवस्थाओं की मौलिक अवस्था की भी विशिष्टता है। अपने विरोधी तत्त्वों के ऊपर, सम्मिश्रण की ओर प्रवृत्ति की संकीर्ण जीत ही अस्तित्व का नया रूप है।

"मैं पड़ोसी से प्रेम क्यों करूँ?" फ्रायड के इस प्रसिद्ध प्रश्न ('सिविलाइजेशन एंड इट्स डिसकांटेंट्स') का एक ही उत्तर मिलता है—और वह यह कि मैं और मेरा पड़ोसी एक ही वस्तु के अंश हैं, इसलिए परस्पर सम्बन्धित हैं। सभी जीव एक देह के अंश हैं—इसे हमें अपने मस्तिष्क में बैठाना होगा; तभी हमारा कल्याण है।

(घ) परिमाणसूचक माप के नियम भौतिक शास्त्र की तरह नीतिशास्त्र पर लागू करने से बड़े अनर्थ हुए हैं। कमिसार के नीतिशास्त्र का तो यही आधार है। कमिसार का नीतिशास्त्र यह है कि कुछ लोगों की बलि चढ़ा कर यदि उससे अधिक लोगों का कल्याण सम्भव हो, तो ऐसा अवश्य किया जाये। कमिसार-नीतिशास्त्र का यह उपलक्षित असत्याभास फासिज्म के जीवात्मक नीतिशास्त्र की तुलना में हमारे सामने कम स्पष्ट है। क्योंकि पारिमाणिक शब्दों में सोचने की शिक्षा हमें इस कुशलता से दी गयी है, कि नीतिशास्त्रविषयक गणित-सिद्धान्त हमें सामान्य बुद्धि का एक कार्य प्रतीत होता है और इसीसे हम कमिसार-नीतिशास्त्र को तर्कसंगत मान लेते हैं। म्यूनिक के दिनों में चेम्बरलेन ने भी कहा था कि छोटे देशों के लिये बड़े राष्ट्र खतरा उठायें—ऐसी अपेक्षा युक्तिसंगत नहीं। परन्तु युद्ध के मोर्चे पर अपने एक घायल आदमी को बचाने के लिये एम्बुलेन्स अपने पाँच कर्मचारियों की जान खतरे में डाले—ऐसी अपेक्षा हम जरूर करते हैं। रूस के शुभेच्छुओं का तर्क यह है कि एक जासूस को, जिसकी कार्रवाई लाखों व्यक्तियों के प्राण संकट में डाल सकती है—स्वतंत्र छोड़ देने की अपेक्षा एक हजार निर्दोष नागरिकों को जेल में बन्द करना ज्यादा अच्छा है। परन्तु इस तर्क में त्रुटि यह है कि हजार नागरिकों के बन्दी होने से जो हानि होगी, उसका हिसाब करने का कोई भौतिक साधन हमारे पास नहीं है—वैसे ही उस 'काल्पनिक' जासूस की कार्रवाइयों से होने वाली हानि और इस हानि की तुलना करने का भी कोई भौतिक साधन हमारे पास नहीं है।

हम केवल ऊपर उठे हाथ गिनकर निर्णय देने की प्रारम्भिक पद्धति का अवलम्बन लेते हैं; लेकिन जहाँ नैतिक दृष्टि से मार्गदर्शन की आवश्यकता है, वहाँ यह तरीका गलत है। किसी क्रान्ति में मजदूरों और मूर्खों को मारना ही पड़ता है। लेकिन जो-जो हमसे मतभेद रखते हैं, क्या उन सब को मूर्ख और गद्दार कह सकेंगे? मतभेद की किस स्थिति पर उसे दगाबाज या मूर्ख कहा जाये? किस स्थिति पर डाक्टर का चाकू कसाई की छुरी में बदल जाता है? मजदूर-वर्ग की तानाशाही कब नौकरशाही की तानाशाही बनती है—यह कैसे कहा जा सकता है? विरोध-विकासवाद का मत यह है कि संख्या का रूपान्तर गुण में होता है; लेकिन यह मालूम नहीं कि वह किस अवस्था में होता है। संख्या पर अधिष्ठित नीतिशास्त्र एक प्लान-जैसा है, जिसमें बीच में रुकने की व्यवस्था नहीं है; क्योंकि उसका अन्तर जातिगत नहीं, अंशगत है—'प्रकार' नहीं, 'प्रमाण' का है।

कमिसार-नीतिशास्त्र का दूसरा भ्रामक मत यह है कि साध्य से साधन की

योग्यता निश्चित होती है। भौतिक सृष्टि में यह ठीक होगा; परन्तु तात्त्विक क्षेत्र और सामाजिक विकास में इसे नहीं माना जा सकता। ऐसे सदोष विचारों को सर्वोच्च तत्त्वज्ञान मानने से नैतिक ह्रास के सिवा कुछ नहीं होने का। ३०० साल पहले गेलिलियो ने यह मत प्रतिपादित किया था कि संख्या-शास्त्र का सिद्धान्त शून्य और अनन्त पर नहीं लागू होता। समाज में व्यक्ति का स्थान शून्य और अनन्त दोनों के लिए है—कमिसार-नीतिशास्त्र को अभी यह सीखना शेष है।

(च) योगी-नीतिशास्त्र निष्क्रिय चिंतन से प्राप्त मूल्यों को प्रत्यक्ष व्यवहार में लाने का एक प्रयास है। यह कार्य असम्भव तो नहीं, पर कठिन अवश्य है। एकांत में चिन्तन करने से सामाजिक प्रश्नों की ओर तटस्थता से, कुछ विक्षिप्त-सी दृष्टि से, देखने की आदत होती है। सामाजिक विषयों को आवश्यक महत्त्व न मिलने पर उनकी उपेक्षा भी सम्भव है। दास्तायवस्की का दूसरा प्रधान चरित्र कहता है—"मित्रो, अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे, कि चिंतन-साधन में लीन होने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य न करना ही उत्कृष्ट कार्य होगा।"

इसका एक और पहलू यह है कि दूसरे विचारशील व्यक्तियों पर निर्भर रहना। 'विवेक की आन्तरिक ध्वनि' सुनो—ऐसा आग्रह किया जाता है। परन्तु चिन्तन-साधना की प्रणाली से अनभिज्ञ व्यक्तियों की 'आन्तरिक ध्वनि' व्यक्ति के परम्परागत सुप्त विचारों की प्रतिध्वनि-मात्र होती है, इसका मैंने एक अद्‌भुत दृष्टान्त देखा है। हमारे मकान-मालिक की सात साल की एक लड़की है। वह युद्ध-काल में पली है—जब कि खिड़की से बाहर प्रकाश जाने देना एक अपराध था। जिस दिन लन्दन में 'ब्लैक आउट' (सम्पूर्ण अंधकार) उठा लिया गया, उस दिन वह मेरे कमरे में आयी थी। उस समय मेरे कमरे की खिड़की से प्रकाश बाहर के अंधेरे को विदीर्ण कर रहा था। उसने पहले यह दृश्य नहीं देखा था। इसलिये वह भयभीत हो उठी। मैंने उसे हर तरह समझाने का प्रयत्न किया; लेकिन उसकी आँखों से भय दूर न हुआ और तब मैं समझ गया कि इसके सामने तर्क या बुद्धि व्यर्थ है। दूसरे दिन उसकी माँ ने भी मुझसे कहा कि कल वह लड़की रो-रो कर कह रही थी—"आर्थर चाचा भगवान में विश्वास ही नहीं करते।"

अपने सामाजिक व्यवहार, यौन-व्यवहार आदि से सम्बन्धित हमारी 'आन्तरिक ध्वनि' और उस लड़की में अधिक अन्तर नहीं है। ध्यान की प्रणाली में बिना सिद्धहस्त हुए 'आंतरिक ध्वनि' को अपना मार्गदर्शक माना जाये, तो इसका अर्थ है, आगामी चुनाव में टोरी दल को मत देना। चिंतन का

उपयोग परिस्थिति की शृंखला से मुक्त होने के लिये करना चाहिये। यह विज्ञान अथवा धर्म से उल्टा है।

सी. एस. लेविस ने अपनी पुस्तक 'स्क्रूटेप लेटर्स' में शैतान से उसके भतीजे को लिखवाया है—"और सबसे ऊपर ईसाई मत के विरुद्ध बचाव के लिये विज्ञान (मेरा मतलब है यथार्थ विज्ञान) का व्यवहार करने का प्रयास मत करो। निश्चित रूप से वे उसे उन यथार्थताओं के बारे में सोचने के लिए उत्साहित करेंगे, जिन्हें वह न देख सकता है, न स्पर्श कर सकता है। आधुनिक भौतिक विज्ञानवेत्ताओं के बीच दुःखद घटनाएँ हुई हैं।" इस प्रकार यह सोच लेना, कि यांत्रिकता का एकमात्र विकल्प 'चर्च आव इंग्लैण्ड' है, जिसे हम नहीं छू सकते, उस तक केवल ईसाई धर्म के द्वारा ही पहुँच सकते हैं—हद दर्जे की सरलता है। धर्माधिकारी विज्ञान की कठिनाइयों को उसी प्रकार घूर कर देखता है और तिरस्कारपूर्वक अस्वीकार कर देता है, जैसे अपने युवक प्रियतम से असंतुष्ट किसी युवती से कोई वृद्ध कामुक प्रणय-याचना करे, तो वह उसका तिरस्कार कर देती है। अन्त में निष्क्रियता के विरुद्ध अति उत्साह का भी भय वर्तमान है। धर्मप्रचारक मूलभूत आमूल 'बाह्य सुधार' के द्वारा 'आन्तरिक सुधार' करने का प्रयत्न करते हैं और वह साध्य-साधनों के विरोधाभास में फैल जाता है। अध्यात्मवादी किस प्रकार अधोमुखी कमिसार के रूप में व्यवहार करता है, यह हक्सले ने अपनी पुस्तक 'ग्रे एमिनेन्स' में बड़े सुन्दर ढंग से बताया है।

११

योगी के नीति-शास्त्र में ये त्रुटियाँ हैं; फिर भी नैतिक उलझनों के समय सिर गिनकर सामाजिक उपयुक्तता निश्चित करने का तरीका निरर्थक हो जाता है, और वहाँ चिंतन ही मार्गदर्शक हो सकता है। वैज्ञानिक अवलोकन-पद्धति की तरह ही चिंतन-पद्धति का अध्ययन करना चाहिए। लेकिन आधुनिक मानव को यह विकट प्रतीत होता है। इच्छा नहीं करने की इच्छा धारण करने की योग्यता उपासना के मार्ग में खो जाती है। जो लोग उस मार्ग पर जाते हैं, वे उसमें ऐसे डूब जाते हैं कि अपने पुराने सभी सम्बन्ध बिल्कुल भूल जाते हैं। जीने का लम्ब रूप समतल रूप के समान ही एकतरफा है। इस प्रकार इन्फ्रा रेड (कमिसार) और इन्फ्रा वायलेट (योगी) के बीच पेंडुलम आगे पीछे होता रहता है।

* * *

हमारे युग की महत्ता यह है कि विज्ञान का विकास होते-होते उसे अपनी सीमाओं का भान होने लगता है और इस प्रकार इस ३०० वर्ष पूर्व विज्ञान ने जिसका स्थान लिया, उस आध्यात्मिक परम्परा के लिये, फिर स्थान बना देना है। संख्यानिष्ठ विचारधारा पूर्णत्व के बाद अब कुंठित हो रही है, उसकी आक्रमक वृत्ति अब समाप्त होने को आयी है और वह पूर्णत्व की नम्रता धारण कर रही है। १९-वीं सदी के यंत्र-युग का सपाट द्विविस्तारीय सतह ऊँचाई-गहराई प्राप्त कर रहा है। विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का यह एक ऐतिहासिक अवसर है। मनुष्य की अवस्था के मूल विरोध—नियतिवाद और इच्छा-स्वातंत्र्य तथा नीतिशास्त्र और तर्कशास्त्र के बीच संघर्ष—को मिटाने का ही मार्ग है। वह यह कि हमें 'बाह्य परिस्थिति' का विचार करते समय 'आन्तरिक मनोदशा' पर भी विचार करना चाहिए। यह कार्य मानव-समाज द्वारा आज तक किये सब कामों से विकट है; लेकिन उतना ही आवश्यक भी है।

केवल पवित्र प्रवचन करना ही पर्याप्त नहीं है। मानव-जीवन के पवित्र और पूर्णत्व का खोया हुआ आधा भाग यदि हमें पुनः प्राप्त करना हो, तो हमें चिंतन की कला और उसके विज्ञान को सीखना होगा। लेकिन यह सीखने के लिये हम अगर योग-सम्बन्धी मासिक पत्रों या शब्दों के आडम्बर-जाल में प्राणायाम की तान्त्रिक जानकारी देने वाले सनकी दार्शनिकों के प्रवचन पर निर्भर रहें, तो कुछ प्राप्त नहीं होगा। 'आध्यात्मिक-जीवन' की शिक्षा पर हर्ड की एक पुस्तक है। वह सर्वसाधारण के लिए है और उसकी कीमत केवल आठ पेन्स है; परन्तु नौ घंटे रोज काम करने वाला कोई बस-ड्राइवर उसे पढ़ कर कुछ लाभ उठा ले—यह मैं नहीं मानता। अगर ऐसा है, तो मेरे लिये अभी भी वैसे बस-ड्राइवर की तलाश बाकी है।

चिन्तन केवल पूर्व में ही जीवित है और इसे सीखने के लिए हमें पूर्व की ओर मुड़ना होगा; परन्तु उसे पाश्चात्य परिभाषा में समझाने के लिए योग्य दुभाषियों की हमें आवश्यकता है। केवल भाषान्तर व्यर्थ है। उसका उपयोग केवल उन्हीं लोगों के लिए हो सकता है, जिन्होंने अपना सारा जीवन इसी कार्य में लगा दिया अथवा जो गँवार हैं। वेदान्त पढ़ते समय मुझे मृत्युकालीन यातना होती है। स्वात्माराम स्वामी ने मुझसे कहा—"जिसे हठयोग की साधना करनी है—उसे छोटे-से मठ या पर्णकुटी में एकान्तवास करना चाहिए—वह स्थान पर्वत, नदी और अग्नि से दूर रहे—वह स्थान बस धनुष की लम्बाई के बराबर हो। पुण्यात्मा राजा के समृद्ध प्रदेश में वह स्थान

होना चाहिए—जिससे किसी प्रकार के उपद्रव की आशंका न होगी और शान्ति और एकाग्रता से ध्यान करना सुलभ होगा।" लेकिन उससे हमारे बस-ड्राइवर को क्या मिलने वाला है?

अपने खोये हुये आधे जीवन को पुनः प्राप्त करने की सच्ची उत्कंठा हो, तो हमें सिखाने और सीखने के नये मार्ग ढूँढ़ने होंगे। अगर हमारी लगन सच्ची है, तो हमें उस लक्ष्य की स्थापना में भयभीत नहीं होना चाहिए—जिसके अनुसार स्कूलों में धार्मिक सिद्धान्तों के बजाय विज्ञान और व्यायाम के साथ चिन्तन करना भी सिखाया जायेगा। पढ़ाकर हमें सनकी व्यक्ति तैयार नहीं करने हैं, वरन् सम्पूर्ण मानव-जीवन को नया रूप देना है और इस काम में पूरी ईमानदारी बरतने का हमारे पास पर्याप्त कारण है। समाधान के संकट, विज्ञान की अपूर्णता के परिणाम, नैतिक और राजनैतिक क्षेत्र में बड़े विकट रूप में प्रकट हुए हैं। इसकी जड़ व्यक्ति के विरोधाभास में है, जिसे समाज के एक—और फिर सम्पूर्ण समाज—वर्ग और राष्ट्र—के रूप में काम करना पड़ता है। इस सम्पूर्ण समाज को उच्चतरीय व्यवस्था से मिलना है—यह केवल पाश्चात्य प्रवचनों से, जो सिर्फ बुद्धिजीवियों के लिए हैं—सम्भव नहीं है। उसके लिए सर्वात्मा का ऐक्यभाव और प्रेमभाव, जो अनुभवजन्य यथार्थता की प्रज्वलित चिनगारी है—जरूरी है।

न तो सन्त ही हमें बचा सकता है, न क्रान्तिकारी। उन दोनों के समन्वय से ही हमारा कल्याण है। इस समन्वय को प्राप्त करने की योग्यता हममें है या नहीं—मैं नहीं कह सकता। पर यदि नहीं है, तो यूरोपीय संस्कृति की कुछ ही दशाब्दियों में सर्वसंहारक युद्ध या बाइजैंटाइन की विजय द्वारा होनेवाले विनाश को रोकने की कोई आशा नहीं है।

यह जानने के लिये बहुत ही सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता हो, ऐसा नहीं है। सिर्फ हमारी कल्पना-शक्ति की निश्चलता हमें विश्वास नहीं करने देती—जिस प्रकार शान्ति के दिनों में हम कभी विश्वास नहीं करते कि युद्ध होगा और युद्ध के दिनों में हमें कभी यह विश्वास नहीं होता कि फिर शान्ति स्थापित होगी। हमारी बुद्धि की आवाज के नीचे हमारे अन्तःकरण में एक स्वयं-संतुष्ट और मुस्कराती दूसरी आवाज भी है, जो हमारे कानों में फुसफुसा कर कहती है—"हम मरेंगे नहीं—और आनेवाला 'कल' भी बीते हुए 'कल'-जैसा ही होगा।"

इस आवाज पर अविश्वास करने का समय अब आ गया है।

अक्टूबर, १९४४